जगजीवन राम अभिनन्दन ग्रंथ

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् द्वारा समर्पित

अध्यक्ष

काका साहेब कालेलकर

मन्त्री

नारायण सदोबा काजरोलकर

जगजीवन राम अभिनन्दन ग्रन्थ समिति

नई दिल्ली

प्रकाशक :
जगजीवन राम अभिनन्दन ग्रन्थ समिति
नई दिल्ली

मुद्रक :
अशोक प्रेस
दिल्ली गेट, दिल्ली

मूल्य :
बारह रुपये

१९५३ ई०

निवेदन

अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना इतनी शीघ्रता में निश्चित हुई कि लेखों की सहज क्रमबद्धता भंग कर देनी पड़ी। पहले दर्शन, पुरातत्त्व, साहित्य, कला, श्रम, राजनीति और अन्य स्फुट विषयों का वर्गीकरण करके उन्हें पृथक् पृथक् रखने का विचार था, किन्तु सारी सामग्री इकट्ठी न आ सकी और ज्यों-ज्यों लेख मिलते गए, विषय का सहज क्रम विच्छिन्न करके उन्हें रखना पड़ा।

अनेक कृपालु बन्धुओं ने इस शीघ्रता में भी गम्भीर, खोजपूर्ण लेख देकर हमें सहयोग प्रदान किया है—इसके लिए हम कृतज्ञ हैं। शुभ-संदेश भी हमें यथावसर प्राप्त हुए, अतएव संदेश भेजने वाले सभी महानुभावों के प्रति हम अपना विनत आभार व्यक्त करते हैं।

सम्पादक मण्डल

क्रम	पृष्ठ संख्या

लेखक परिचय

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद : भारत के राष्ट्रपति

काका कालेलकर : गांधीवादी विचारक और लेखक, संसद-सदस्य, पिछड़ी और परिगणित जाति-आयोग के अध्यक्ष

आचार्य विश्वेश्वर : गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के आचार्य, दर्शन और साहित्य के प्रमुख लेखक

आचार्य अनंतलाल गोस्वामी : गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्य और वैष्णव दर्शन के लेखक, व्याख्याकार

आचार्य कृष्णचैतन्य गोस्वामी : गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्य और वैष्णव दर्शन के व्याख्याकार

सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार : दर्शन और मनोविज्ञान के लेखक, गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी के भूतपूर्व आचार्य

रावी : प्रसिद्ध लघुकथाकार, उपन्यासकार, आगरा के समीप कैलास में रहते हैं

डॉ० शान्तिकुमार नानूराम व्यास : रामायणकालीन साहित्य और संस्कृति के अनुसंधानपरक ग्रन्थ के रचयिता, हिन्दुस्तान के सहायक सम्पादक

अमृत पंड्या : भारत के प्रमुख पुरातत्ववेत्ता

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल : प्रसिद्ध निबन्धकार, पुरातत्ववेत्ता, दार्शनिक, हिन्दू विश्वविद्यालय में इतिहास के सम्मानित अध्यापक

शचीरानी गुर्टू : तुलनात्मक साहित्य और कला की चिन्तनशील प्रमुख आलोचिका

रामनरेश त्रिपाठी : ग्राम गीतों के संग्राहक और प्रसिद्ध व्याख्याकार, वयोवृद्ध साहित्यकार

विनयमोहन शर्मा : प्रसिद्ध आलोचक, कवि, नागपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष

देवेन्द्र सत्यार्थी : कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, भारतीय लोकगीतों के प्रमुख संग्राहक और व्याख्याकार, 'आजकल' के सम्पादक

प्रेमनाथ दर : कहानी-एकाङ्की-उपन्यासकार, 'आवाज़' के सहायक सम्पादक

विनोदविहारी मुखर्जी : शान्ति निकेतन में कला विभाग के भूतपूर्व उपाध्यक्ष, प्रसिद्ध कलाकार और कला-समीक्षक

डॉ० दुर्गाप्रसाद पाण्डेय : पेरिस और स्विटज़रलैण्ड में रह कर क्रमशः मनोविज्ञान और पुरातत्व में डी० लिट करने के बाद भारत आने पर मसूरी में 'मानव भारती' के डायरेक्टर

प्रभाकर माचवे : प्रसिद्ध प्रयोगवादी कवि, आलोचक और कहानी-एकांकी-उपन्यासकार, नई दिल्ली के 'आकाश वाणी' से सम्बद्ध

मदन गोपाल : विभिन्न देशों में भ्रमण करके पत्रकारिता का अध्ययन किया, स्टेट्समैन के सम्पादकीय विभाग में कुछ वर्षों तक काय किया, आजकल पेप्सू में सूचना विभाग के डायरेक्टर हैं.

लक्ष्मीदास एम० श्रीकान्त : अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जन-जातियों के आयुक्त

कान्ति भूषण शर्मा : श्रम मंत्रालय से सम्बद्ध काम दिलाऊ विभाग के डायरेक्टर

पृथ्वीनाथ कौल : श्रम तथा अन्य समस्याओं के लेखक, 'अम्बिला' और 'शारदा' के व्यवस्था सम्पादक, पुस्तकालय विज्ञान के विशेषज्ञ, इस विज्ञान में एम. ए. की डिग्री लेने वाले छेः व्यक्तियों में से एक, तथा श्रम मंत्रालय के पुस्तकालयाध्यक्ष •

माया गुप्त : विदुषी लेखिका

बनारसीदास चतुर्वेदी : प्रसिद्ध पत्रकार और साहित्यकार, संसद-सदस्य

नारायण सदोबा काजरोलकर : अखिल भारतीय दलित जाति संघके अध्यक्ष, पिछड़ी और परिगणित जाति आयोग के सदस्य और संसद सदस्य

गोपालकृष्ण कौल : प्रगतिशील कवि और आलोचक, 'आलोचना' के संयुक्त संपादक

सदाशिव प्रसाद : श्रम समस्याओं के विद्वान लेखक, श्रम-मंत्रालय के भूतपूर्व सहायक सचिव, संचार मंत्रालय के उड्डयन-राष्ट्रीयकरण विभाग में विशेष कार्याधिकारी

वियोगी हरि : प्रसिद्ध कवि और निबन्धकार, हरिजन सेवक संघ के संचालक

विष्णु प्रभाकर : प्रसिद्ध कहानी-एकांकी-उपन्यासकार

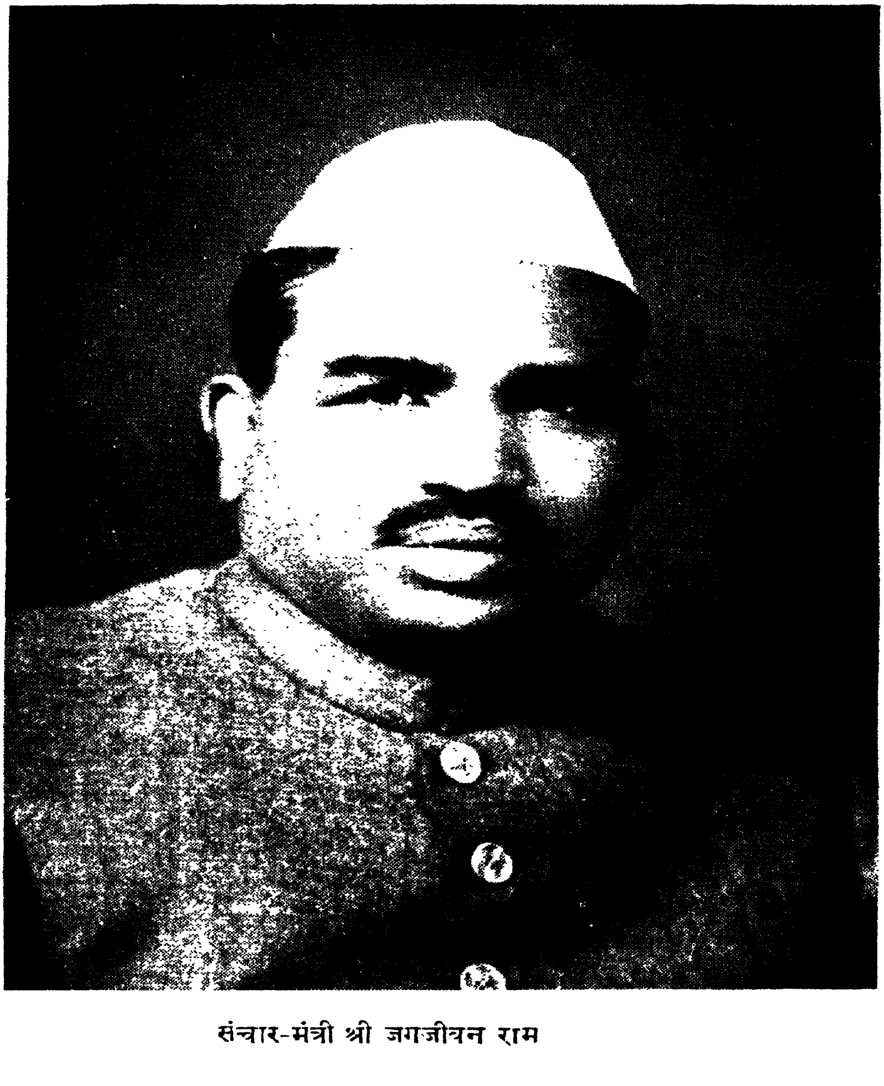
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार : प्रसिद्ध पत्रकार, कहानीकार, आलोचक, 'विश्वदर्शन' के सम्पादक

मैथिलीशरण गुप्त : राष्ट्रकवि

उदयशंकर भट्ट : प्रसिद्ध नाटककार, उपन्यासकार और कवि, 'आकाशवाणी' दिल्ली से सम्बद्ध

नन्दकिशोर तिवारी : प्रमुख पत्रकार, कवि, गद्यगीतकार, बिहार सरकार के जन-संपर्क विभाग में डिप्टी डायरेक्टर





संचार-मंत्री श्री जगजीवन राम

शुभकामनाएँ

'श्री जगजीवन राम को उनके जन्म-दिन पर मेरी शुभ-कामना है। जब से मेरा उनका परिचय हुआ है दिनों-दिन हम दोनों की घनिष्ठता बढ़ती गई है। वह जिस काम में लगे और जो काम हाथ में आया उसको उन्होंने बड़ी खूबी और परिश्रम के साथ निबाहा है। जब ज़रूरत पड़ी है तब वह किसी तरह से त्याग में भी किसी से पीछे नहीं रहे हैं और आज तो एक ऊँचे स्थान को सुशोभित कर रहे हैं। उनमें परिश्रम के साथ-साथ सभी विषयों पर निर्भीकता और निस्पृहता-पूर्वक विचार करने की और अपने विचार के अनुसार काम करने की शक्ति भी है और मेरा विश्वास है कि उनके द्वारा अभी बहुत और भी देश की सेवा होने वाली है।

राजेन्द्र प्रसाद

१८-३-५३

(राष्ट्रपति, भारत गणतंत्र)

'श्री जगजीवन राम जी ने तो जातिवाद का मिथ्यात्व अपने जीवन से ही सिद्ध कर दिया है। उनका सच्चा अभिनन्दन तो तब होगा जब छूत-अछूत का भेद हिन्दुस्तान से मिट जायगा और जैसा कि जगजीवन राम जी ने अपने एक भाषण में कहा था, मेहतरों को अपने काम से मुक्ति मिलेगी।

ता० २८-३-५३ विनोबा भावे

श्रीराम

तुल न सके धरती-धन-धाम,
धन्य तुम्हारा पावन नाम,
लेकर तुम-सा लक्ष ललाम,
सफल काम जग-जीवन राम!

मैथिलीशरण गुप्त
नई दिल्ली, १६-१२-२००६

'I am very pleased to know that you are presenting Shri Jagjiwan Ram an Abhinandan Granth on the 5th April, 1953. His work, official and non-official for the improvement of the conditions of the Harijans, is well-known. It is our earnest hope and desire that he may live long to continue his work.'

S. Radhakrishnan
(Vice-President, Republic of India.)

'श्री जगजीवन राम जी से मेरा परिचय उनके केन्द्रीय शासन के मन्त्री होने के बहुत पहले से है। प्रारम्भिक परिचय के समय ही मैं उनकी सद्भावना और पैनी बुद्धि से आकर्षित हुआ था।

हरिजनों की स्थिति को सुधारने की ओर उनका ध्यान था और मैंने भी उस दिशा में बहुत वर्ष पहले से काम किया था। इस कारण उनकी ओर मेरा आकर्षण स्वाभाविक था।

जब मैं कांग्रेस का सभापति सन् १९५० में निर्वाचित हुआ उस समय मैंने नियमानुकूल जो कार्य-समिति बनाई थी उसमें श्री जगजीवन राम जी को रखा था। कार्य-समिति के सदस्य के नाते उनका कार्य मेरे लिए बहुत सहायक था। मुझे स्मरण है कि प्रदेशों के आपसी झगड़ों के कई काम मैंने उनके सुपुर्द किए थे। जिस न्यायप्रियता और पक्षपात-रहित वृत्ति से उन्होंने बराबर काम किया उससे मेरे हृदय में उनके प्रति बहुत विश्वास उत्पन्न हुआ।

केन्द्रीय मंत्री की हैसियत से उन्होंने श्रम-विभाग का काम उन्नतिशील वृत्ति से चलाया था। इस समय संचार-विभाग के मंत्री हैं—अपने विभाग के काम में हिन्दी को अधिकाधिक स्थान देने की ओर ध्यान है। केन्द्र के मंत्रियों में यह धारणा होनी आवश्यक है कि दिन पर दिन उन्हें अपने कार्य में हिन्दी के माध्यम का प्रयोग बढ़ाना है, जिससे संविधान द्वारा निश्चित समय के भीतर सम्पूर्ण शासन-कार्य अंग्रेजी से हिन्दी में परिणत हो जाय। इस विषय में सब मंत्रीगण सजग हैं, यह मैं नहीं कह सकता। मुझे तो मंत्रालयों और सचिवालयों में हिन्दी की ओर जो आकर्षण चाहिए नहीं दिखाई देता—किन्तु श्री जगजीवन राम जी की भावना में मुझे अवश्य हिन्दी की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति दिखाई देती है—मैं उनसे आशा भी यही करता था।

लगभग पाँच वर्ष पहले एक दुर्घटना में उनके एक पैर को कड़ी चोट आ गई थी। उसका कुछ प्रभाव रह गया है। परन्तु साधारणतः उनमें परिश्रम करने की अच्छी शक्ति है, मेरी कामना है कि वह स्वस्थ रह कर दिन पर दिन देश की ऊँची सेवा करते रहें और अपने अनुभव और अपनी सद्भावना से देश की प्रगति में सहायक हों।'

२८-३-५३ पुरुषोत्तमदास टण्डन

'श्री जगजीवन राम जी को मैं पिछले २० सालों से जानता हूँ और उनके कामों से जानकारी रखता हूँ। पहले-पहल जब मेरा उनसे साक्षात्कार हुआ उस समय से ही मुझे उनकी बुद्धि-प्रखरता और कार्य करने की शैली में पूरा विश्वास हो गया। उसके बाद से हम लोग बराबर ही एक साथ काम करते आ रहे हैं। एक बार मुझे उनके साथ जेनेवा सम्मेलन में जाने का अवसर मिला है। वहाँ पर उनकी कार्य कुशलता को देखकर मुझे अत्यंत हर्ष हुआ। उस साल अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के ये सभापति चुने गये थे और उस हैसियत से इन्होंने जो काम किया वह बहुत ही सराहनीय है। ईश्वर उनको दीर्घायु बनावें। इनकी बुद्धि, ज्ञान तथा अनुभव उत्तरोत्तर बढ़ता जाय यही मेरी शुभकामना है।'

१९ मार्च, १९५३ अनुग्रह नारायण सिंह
(वित्त, श्रम तथा कृषि मंत्री, बिहार)

'मुझे यह जानकर खुशी होती है कि श्री जगजीवनराम जी को एक अभिनंदन ग्रंथ भेंट हो रहा है। श्री जगजीवन राम की बिहार तथा भारत तथा हरिजन समाज तथा सारे भारतीय समाज की की गई बहुमूल्य सेवाएँ सर्वश्रुत है। श्री जगजीवन राम जी में विनम्र व्यवहार, मधुर स्वभाव तथा कार्य-कुशलता और निष्पक्ष वृत्ति का जो संयोग पाया जाता है, वह सार्वजनिक कार्य में अन्यत्र क्वचित ही देखने में आता है। मैं आपके स्तुत्य कार्य में आपका सुयश चाहता हूँ।'

१७-३-५३ पट्टाभि सीतारामय्या
(राज्यपाल, मध्य प्रदेश)

'यह जानकर कि श्री जगजीवन राम अभिनन्दन ग्रंथ अब शीघ्र ही तैयार हो जायगा और जगजीवन राम जी को ५ अप्रैल को भेंट किया जायगा हर्ष हुआ। इस ग्रंथ में महत्त्वपूर्ण और उपयोगी विषयों पर विद्वत्तापूर्ण लेख भरे हुए हैं और इन का पठन और मनन करके वास्तविक लाभ होगा। जगजीवन राम जी का सारा जीवन देश की सेवा में और विशेषकर हरिजनों के उत्थान में लगा है। इस ग्रंथ के द्वारा उन्होंने जो उपकार किया है उसका कुछ संकेत मिल सकेगा। वे बुद्धिमानी, सहिष्णुता, साहस और लगन से राष्ट्र निर्माण के कार्य में हाथ बँटाते आए हैं और उनके द्वारा इस तरह से राष्ट्र का हित होता रहेगा। वे दीर्घजीवी होकर सेवा-कार्य में निरन्तर अग्रसर और सफल होते रहें यह मेरी शुभ-कामना है।'

२०-३-१६५३ गोविन्द वल्लभ पन्त
(मुख्यमंत्री, उत्तर प्रदेश)

'सत्य ही आप को परम प्रिय है। त्याग व बलिदान पारस्परिक प्रेम व उदारता, दृढ़-निश्चय व कर्तव्य-परायणता इन सुअंगों का, जो मानवता के शृंगार हैं, आपके जीवन में सुन्दर सम्मिश्रण है।

आपने अपना जीवन अपने सहकारियों, अपने देश तथा मानव जाति की निष्काम सेवा में अर्पित कर दिया है। आपके ४६वें वर्ष में पदार्पण करते समय मेरी यह हार्दिक अभिलाषा व प्रार्थना है कि वह दयालु प्रभु आपको मंगल-मयी चिरायु प्रदान करे, जिससे कि आप कष्ट-पीड़ित मानव-जाति को सत्य का मार्ग प्रदर्शित करें और अपने क्रियात्मक जीवन की सुन्दरता उदारता, विशालता व प्रेम-भाव से उसे संकुचित दृष्टिकोण, पारस्परिक वैर-विरोध व पाप वृत्ति से मुक्त करने का प्रयत्न करें।'

२७ मार्च सन् १६५३, राजजी महाराज
(राधास्वामी सतसंग, दयालबाग)

'श्री जगजीवन राम अभिनन्दन ग्रंथ भेंट देने की कल्पना सराहनीय है। उनकी राष्ट्र-सेवा सर्वविश्रुत है और हरिजनों को ऊपर उठाकर दूसरों के बराबर लाने के कार्य में उनका भाग उल्लेखनीय है। उनके नेतृत्व ने दिखला दिया कि हरिजन किसी से कम नहीं हैं और बुद्धि में और राष्ट्र-सेवा में सब के बराबर हैं। मैं उनके जीवन की पूरी सफलता चाहता हूँ।'

२७-३-५३ बालकृष्ण वि० केसकर
(सूचना व रेडियो मंत्री, भारत सरकार)

'श्री जगजीवन राम जी की जीवनी हमारे देश के नवयुवकों के लिए बहुत ही उत्साहवर्द्धक और प्रेरणाशील सिद्ध होगी, क्योंकि इन्होंने भारतवर्ष की राजनीति में जो उच्च-पद प्राप्त किया है वह केवल अपने त्याग, तपस्या और योग्यता के आधार पर प्राप्त किया है। विद्यार्थी जीवन के बाद महात्मा गान्धी के एक सच्चे स्वयंसेवक की हैसियत से उनके सन्देश का प्रचार करने के लिए मीलों पैदल सफर करके और गाँव-गाँव में घूमकर इन्होंने अपनी सच्चाई और कर्मठता की ऐसी छाप अपने प्रान्त के सहकारियों पर लगाई कि जब पहले-पहल बिहार में लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल की स्थापना हुई तो इनको विशेष रूप से मंत्रिमण्डल में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया गया। जिस शान के साथ इन्होंने केन्द्रीय सरकार में श्रम-मंत्री की हैसियत से कार्य किया है उससे केवल हरिजन भाइयों का ही सिर ऊँचा नहीं हुआ है बल्कि उनके सभी कांग्रेस के साथियों का मान और गौरव बढ़ा है। आज वे भारत के संचार मंत्री हैं। कोई भी ग़रीब से ग़रीब आदमी भी उनसे मिल कर यह अनुभव नहीं करेगा कि उसने किसी हाकिम से बात की, बल्कि वह अपने मन में श्री जगजीवन राम की प्रशंसा करता हुआ उनकी दीर्घायु की प्रार्थना करेगा। भारत के राजनीति-क्षेत्र में और विशेष रूप से हरिजन उद्धार के समस्त आन्दोलन में उनका नाम सुनहरे अक्षरों में लिखने योग्य है। जगजीवन राम जी मेरे बहुत गहरे मित्र हैं और मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि आज उनकी राष्ट्रीय सेवाओं के उपलक्ष्य में जनता की ओर से उनको अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया जा रहा है।'

२८ मार्च, १६५३ — महावीर त्यागी
(प्रतिरक्षा मन्त्री, भारत सरकार)

'श्री जगजीवन राम की गिनती आज देश के उन चन्द लोगों में की जाती है, जिन्होंने देश को इस ऊँचे स्थान पर पहुँचाया है। उन्होंने अपनी यह जगह त्याग, सेवा, और ख़लूस के कठिन रास्ते चल कर बनाई है। आज वे अपनी सच्ची और निष्काम सेवाओं के कारण देश के करोड़ों ग़रीब और कमज़ोर, दबे और पिसे हुए लोगों के टूटे दिलों का आसरा बन गए हैं। वैसे लोग जिनके ऊँचा उठने और उभरने से ही मुल्क ऊँचा उठ सकता और ताक़तवर बन सकता है, इसलिए जगजीवन बाबू की भारत के इतिहास में एक ख़ास जगह बन गई है। जगजीवन (इनको प्रेम से हम इसी तरह पुकारते हैं) एक निडर, बहादुर और अक्लमन्द नेता हैं जिनकी बुलन्द हिम्मत और बेमिसाल सूझ-बूझ से देश में पैदा हुई अक्सर बड़ी-बड़ी गुत्थियाँ सुलझ गई हैं। इनकी फ़हम-ओ-फ़ेरासत के सब क़ायल हैं।

इनके त्याग की मिसाल मिलना भी कठिन है। देश के लिए वह अपने को किस तरह मिटा सकते हैं, ये बात तो १६३७ में ज़ाहिर हो चुकी है। कौन नहीं जानता कि इन्होंने उसूल के ख़ातिर और देश के हित के ख़ातिर तक मंत्री बनना बड़ी खुशी से अस्वीकार कर दिया था।

जगजीवन बाबू हमारे देश के एक बड़े पाए के स्टेटसमैन हैं। ख़ालिस करेक्टर, इमानदारी, अच्छा स्वभाव, नम्रता, उसूल का पालन, त्याग भाव और सच्ची देश-भक्ति, ये सब गुण जगजीवन बाबू में पूरी तरह मौजूद हैं और इनका इज़हार हर वक्त होता रहता है। और इन्हीं गुणों ने जगजीवन बाबू का नाम देश के इतिहास में अमर बना दिया है।'

अब्दुलक़यूम अंसारी
(प्रेसीडेण्ट, आल इंडिया मोमिन कांफ्रेंस
और भूतपूर्व मंत्री, बिहार सरकार)

'श्री जगजीवन राम जी देश के प्रमुख व्यक्तियों में से एक हैं। वे समझदार और विचारशील हैं। जबसे उन्होंने सार्वजनिक जीवन में पैर रखा, वे कभी पीछे नहीं हटे। भारत सरकार में जिन ज़िम्मेदारी के पदों को उन्होंने लिया, अच्छी तरह संभाला। अपने कार्य और लगन से उन्होंने देश में अपना एक विशेष स्थान बना लिया है। स्वाभाविक ही है कि उनका अभिनन्दन किया जाय। मुझे विश्वास है कि वे अधिकाधिक उन्नति करेंगे और सफल होंगे। उनके प्रति मेरी हार्दिक शुभकामना स्वीकार कीजिए।'

१७ मार्च १९५३. लाल बहादुर शास्त्री
(यातायात तथा रेलवे मंत्री, भारत सरकार)

'यह जान कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि विद्वज्जनों के एक मंडल के सम्पादकत्व में प्रतिनिधि विद्वानों के खोजपूर्ण लेखों का एक अभिनन्दन ग्रन्थ उपराष्ट्रपति श्रद्धेय डॉ० राधाकृष्णन् के कर कमलों द्वारा माननीय जगजीवन राम जी को भेंट किया जा रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तथा स्वतन्त्र भारत में माननीय जगजीवन राम जी की सेवाएँ अमूल्य रहीं हैं। अतएव उनकी ४६ वीं वर्ष-ग्रन्थि के शुभ अवसर पर देश के इस कर्मठ नेता को अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किये जाने का शुभ समारोह एक अनुपम ग्रंथ का विधायक होने के साथ ही श्री जगजीवन राम जी की देश के प्रति की गई अमूल्य सेवाओं को चिरस्मरणीय बनाने में पर्याप्त रूप से सहायक होगा।'

समारोह की सफलता की हार्दिक शुभकामनाओं के साथ।

२१-३-५३ व्ही. व्ही. द्रविड़
(निकाम तथा श्रम-मंत्री, मध्यभारत)

'जगजीवन राम जी को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है—इस समाचार का मैं स्वागत करती हूँ। मैं अपनी शुभकामनाएँ इस अवसर पर भेजती हूँ। ईश्वर जगजीवन राम जी को बड़ी आयु दे और उनकी सेवाओं से देश और जाति लाभ उठाए।'

३० मार्च, ५३. रामेश्वरी नेहरू

'श्री जगजीवन राम की प्रतिभा तथा गुण किसी से छिपे नहीं। गत ५-६ वर्षों में जिन सार्वजनिक कार्यों का सम्पादन उन्होंने किया है उनकी गौरव-गाथा के पृष्ठ देश तथा समाज के सामने खुले हुए हैं, जो चाहे पढ़ सकता है।

अतएव यहाँ मैं अपने मित्र के गुणों का अधिक वर्णन करने की आवश्यकता नहीं समझता। मेरी हार्दिक कामना है कि ऐसे अवसर बार-बार आए और हमें उनको बार-बार शुभकामनाएँ भेजने का अवसर प्राप्त हो।'

१६ मार्च १९५३. अजितप्रसाद जैन
(पुनर्वास मंत्री, भारत सरकार)

'श्री जगजीवन राम जी ने भारतीय मज़दूरों तथा दूसरे दुर्बल वर्गों की सेवा करना अपना सतत ध्येय रखा है। इसलिए वह अभिस्तुति के पात्र हैं। उनके अभिनन्दन में जो ग्रंथ प्रकाशित होने जा रहा है वह उनके अनुरूप होगा—ऐसी आशा करता हूँ।

सम्पूर्णानन्द
(गृह तथा श्रम मन्त्री, उत्तर प्रदेश)

श्री जगजीवनराम जी का मेरा कोई ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु मैं उनको खूब जानता हूँ, मसूरी, हरिद्वार का कुम्भ इत्यादि तीन-चार स्थानों में उनका स्वागत करने का मुझे शुभ अवसर मिला है और भाषण सुनने का और उनके सामने बोलने का अवसर मिला है। यत्र-तत्र कई स्थानों पर यदि भाषणों से मनुष्य पहिचाना जाता हो—और प्रायः भाषणों से ही पहिचाना जाता है, तो मैं कहूँगा कि उनके हृदय में हरिजनों के विषय में एक तीव्र वेदना है, वह यह कि ये लोग उठते क्यों नहीं अथवा अन्य लोग इनकी उन्नति में इतना प्रयत्न क्यों नहीं करते जितना कि अब तक किया जाना चाहिए था। इस विषय में उनके भाषण तीव्रता को लिए हुए होते हैं और वे जो कुछ कहते हैं प्रायः कटु सत्य ही कहते हैं। उनके हृदय में किसी के प्रति द्वेष नहीं रोष भले ही हो। वैसे रहन-सहन, वेष-भूषा, बातचीत में सरल सात्विक पुरुष हैं। आप में सब प्रकार की योग्यता होने पर भी निरभिमान व्यक्ति हैं। आपने कांग्रेस के आन्दोलनों में पूर्ण सहयोग दिया, कष्ट सहे, काम किया, फल यह हुआ कि वे जिस स्थान के योग्य थे उस स्थान पर पहुँच गए हैं और शासन का एक प्रमुख अंग है। उनके भाषणों में एक बड़ी विचित्रता यह है कि वे उद्बोधक तो होते ही हैं, किन्तु वस्तुस्थिति के द्योतक भी रहते हैं। जहाँ वे उच्च वर्णों की हरिजनों के प्रति व्यवहार की तीव्र निन्दा करते हैं वहां वे हरिजनों को स्वावलम्बन का भी उपदेश देते हैं, स्वधर्म पर स्थिर रहने की भी प्रेरणा करते हैं।

वे हरिजनों के तो प्राण हैं, कम से कम उत्तर भारत के लिए यह अक्षरशः सत्य है। इसके अतिरिक्त श्रम-जीवी वर्ग के लिए यत्र-तत्र-सर्वत्र चिरस्मरणीय कार्य किया है और अपनी नीतिमत्ता और बुद्धिमत्ता, समयज्ञता तथा दूरदर्शिता का पूर्ण परिचय दिया है। उनका सौजन्य देखते ही बनता है। मुझे वह बहुत प्रिय लगते हैं इसलिए प्राचीन ढंग का शास्त्री, पण्डित होने पर भी मैं उनके गुणानुराग से आकृष्ट होकर ये पंक्तियाँ लिखता हूँ। वह क्या जीवन जिससे अपनी जाति का उत्थान न हो। वह क्या जीवन जिससे अन्यों को स्फूर्ति न मिले, वह क्या जीवन जिससे पतित उठ न सकें, दलित उभर न सकें, वह क्या जीवन जिसमें आकर्षण न हो, वह क्या जीवन जिससे जनता को स्फूर्ति न मिले, दीन को दीनता, हीन की हीनता, पराधीन की पराधीनता दूर न हो--इस दृष्टि से विचार किया जाय तो श्री जगजीवन राम जी देश के अन्य नेताओं में किसी भी गुण में कम नहीं है।

ईश्वर की कृपा रहे, श्री जगजीवनराम जी चिरायु होकर देश का अधिक से अधिक कल्याण साध सकें यही मेरी हार्दिक मंगल कामना है। तथाऽस्तु, एवमस्तु।

२१ फरवरी, १९५३ नरदेव शास्त्री

'I am extremely happy to learn that arrangements have been made to honour our friend Jagjivan Ram ji. My association with him dates back to early days, when he had just entered public life, and was warmly supported by late Sir Ganesh Dutt Singh. Eversince then, I have held high opinion about the high qualities possessed by Jagjivan Ram ji He is a steady politician, a warm-hearted friend and a dependable person. The leadership he has displayed in the last few years is a matter of both pride and satisfaction. I offer him my heartiest felicitations on this occasion, and pray for his long life, full of useful service to the country.'

March 18, 1953. C. P. N. Singh,
(*Governor Punjab*)

'I greatly regret that owing to my absence from Delhi on the 5th of April I shall be deprived of the pleasure and privilege of joining the members of the Abhinandan Granth Samitee in offering my felicitations to my esteemed colleague and friend of long standing, Shri Jagjiwan Ram. He has been in public life for many years and has won the respect and affection of Indian people at large by his devoted work both in the struggle for independence and now during the last five years in building up our great Indian nation. His work for the betterment of the working classes in particular has been outstanding and of signal merit and will long be remembered by them with gratitude. It is proper to commemorate the 46th birthday by the presentation of this volume. His countrymen will pray on this auspicious day that he may be vouchsafed a long life continous beneficent public service.

28th March, 1953. *K. N. Katju,*
(Home Minister, Govt. of India.)

'I am happy to know that a Commemoration Volume dealing with various subjects of importance and interest is going to be presented to Shri Jagjivanramji on the 5th April. Shri Jagjivanramji richly deserves appreciation of his service to India in various walks of life.

I wish him a long and healthy life.'

G. V. Mavalankar
(*Speaker, Parliament of India*).

'I am glad that Shri Jagjivan Ram's many friends and admirers are co-operating in the preparation of an Abhinandan Granth which will shortly be presented to him. Few among our leaders have worked so long and consistently, and with so much distinction, first for achieving India's freedom and, after that, in building up India's prosperity. May he be spared long to continue his fine work for India and her people.'

13th March, 1953. G. S. Bajpai
(*Governor Bombay*)

'I welcome most heartily this offer of a Commemoration Volume to my friend and colleague, Shri Jagjeevan Ramji, on this occasion. I feel proud in associating myself with you in this well-deserved tribute.'

March 20, 1953. R. R. Divakar,
(*Governor Bihar*)

'Shri Jagjiwan Ram's services to the cause of the nation are many. He has created for himself a permanent abode in the hearts of the downtrodden. I wish this book will inspire others to follow in his foot-steps.'

Swami Ramanad Tirtha

20th March, 1953. *(President, Hydrabad Pradesh Congress Committee.)*

Still in his forties, Shri Jagjivan Ram is one of the steadiest and most sober of our Statesmen. Inspite of his emotional identification with the poor and the socially exploitest, he is not an extremist. Endowed with a keen intellect and ever mentally alert, he learnt, while he was still very young, to do his own thinking and taken his own decision. This has stood him in good stead in the stress and storm of political life and even those, who once differed from him strongly, have gradually learnt to appreciate his view point. There was a time when young Jagjiwan Ram had the temerity to differ from Mahatmaji; but the Father of the Nation loved Jagjiwan Ram all the more for his independent outlook.

It is difficult for me to write about one who has been for years a friend and a close colleague. But I am sure decades hence, when Shri Jagjiwan Ram attains a ripe old age and the country has to pass a final judgment on his work and worth, his name will beremembered with love and gratefulness as one of the greatest builders of our democracy.

Satyanarayan Sinha

March 27, 1953

(Minister Parliamentary Affairs)

श्री जगजीवन राम अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए आपने शुभ-कामना माँगी, इसके लिये अनुगृहीत हूँ। श्री जगजीवन राम जी हमारे भोजपुर प्रदेश के जिस क्रान्तिकारी जनपद आरा के निवासी हैं उसकी गहरी छाप उनके चरित्र, स्वभाव, कार्य-प्रणाली और वाणी में स्पष्ट झलकती है। वे निर्भीक हैं, विद्वान हैं और कार्यपटु, एक कुशल राजनीतिज्ञ और सफल शासक होने का जिन महान पुरुषों को गर्व हो सकता है—मैं जगजीवन बाबू को उनमें गिनता हूँ। जीवन में जो अवसर इन्हें मिला है उसको इन्होंने पूर्णतः चरितार्थ किया है। ईश्वर इन्हें चिरंजीवी करे, यही शुभकामना है,

२७ मार्च, १६५३. अलगूराय शास्त्री

(अध्यक्ष, उत्तर प्रदेशीय कांग्रेस कमेटी)

बाबू जगजीवन रामजी के जन्म-दिवस पर मुझे हार्दिक बधाई देने में अत्यन्त प्रसन्नता है। बाबू जी ने ४५ वर्षों तक के जीवन में देश और समाज की जो सेवा की है वह विख्यात है; पर उनका स्वभाव और हृदय संभवतः उन्हीं को ज्ञात हो सकता है जो उनके निकट सम्पर्क में आए हैं। मैं ऐसे व्यक्तियों में से एक हूँ।

ईश्वर बाबू जी को चिरंजीवी करे, ऐसी मेरी प्रार्थना है।

जयनारायण व्यास

(मुख्य मंत्री, राजस्थान)

श्री जगजीवन राम प्रशस्तिः

सदा हाससमायुक्तो रामोऽयं जगजीवनः
सदा कर्मसु संयुक्तो यथा वैदेहि जीवनः ॥१॥

सर्वेषु समदृष्टिर्यो निगर्वित्वाज्जनप्रियः
सर्वलोकहितस्यार्थे सर्वत्यागेऽस्य निश्चयः ॥२॥

अल्पभाषी महायत्नो मृदुवाक् सरलः शुचिः
वपुःप्रकर्षसंपन्नो अस्यास्ति हृदयं मृदु ॥३॥

ददातु भगवानस्मै दीर्घायुश्च यशःश्रियम्
देशकल्याणकार्येषु मग्नाय शरदां शतं ॥४॥

इयं माला सुमित्राय भारतीकुसुमगुंफिता
दत्तात्रयेण सप्रेमं सादरं च समर्पिता ॥५॥

नई दिल्ली
५. ४. ५३.

दत्तात्रेय परशुराम करमरकर
(वाणिज्य मंत्री, भारत सरकार)



श्री नेहरू के साथ श्री जगजीवन राम



देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसाद और श्री जगजीवन राम (१९४६)

अभिनन्दन ग्रन्थ

जगजीवन राम

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

१६-२० वर्ष हुए जब मैंने पहले-पहल श्री जगजीवन राम से परिचय किया। उस समय वह हाल ही में कालेज छोड़कर आये थे और पटने में कुछ सार्वजनिक सेवा के काम में दिलचस्पी ले रहे थे। मेरा यह सौभाग्य रहा है कि अनेकानेक होनहार युवक मुझसे मिला करते हैं और अपने काम और भविष्य के सम्बन्ध में सलाह लिया करते हैं। श्री जगजीवन राम से जब मौका आया था इसी तरह की बातें हुई थीं और मैंने उसी समय देख लिया कि यह एक लगनवाले, होनहार, काम करने वाले व्यक्ति हैं। उसके बाद वह आहिस्ता-आहिस्ता कांग्रेस के काम में आ जुटे और जब समय आया तो औरों के साथ जेल-यात्रा भी करते गये। जब १६३७ में देश में पहले-पहल कांग्रेस मन्त्रि-मंडल बनाने की बात चली और महात्मा जी ने यह शर्त लगायी कि अगर गवर्नर यह वचन दे दें कि वह मन्त्रियों की राय से ही सब काम किया करेंगे, तब कांग्रेस मन्त्रि-मंडल बना सकेगी तब पहले शुरू में सभी गवर्नरों ने इस तरह का वचन देना नामंजूर कर दिया। इस समय अनेक प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत था। इसलिये कोई मन्त्रि-मंडल वैधानिक रीति से जिसको कांग्रेस के सदस्यों का समर्थन न हो चल नहीं सकता था। तो भी गवर्नमेंट की नीति के अनुसार गवर्नरों ने प्रयत्न किया कि सभी जगहों में किसी न किसी तरह मन्त्रि-मंडल बन जाय। ऐसा ही प्रयत्न बिहार में भी किया गया और कुछ दिनों के लिये श्री यूनुस ने मन्त्रि-मंडल बनाया। उस समय श्री जगजीवन राम वहाँ की धारा सभा के एक सदस्य चुने गये थे और श्री यूनुस ने इस बात का बहुत प्रयत्न किया कि उनको किसी तरह से फोड़ करके अपने मन्त्रि-मंडल में ले लें और उनके साथ जो हरिजन सदस्य थे उनकी सहायता वह प्राप्त कर लें। पर श्री जगजीवन राम ने एक बारगी इस चीज़ को नामंजूर कर दिया और उनके दिये हुए मन्त्री पद को ठुकरा दिया। यह बात मुझको मालूम हो गई और मैंने उसी समय महात्मा गांधी को इस बात की सूचना दी थी जिससे वह बहुत प्रसन्न हुए थे और जिसका जहाँ तक मुझे स्मरण है उन्होंने अपने किसी लेख में भी जिक्र किया था। इस घटना के बाद जो मेरी श्रद्धा और प्रेम श्री जगजीवन राम के प्रति था वह और भी बढ़ गया और मैंने देख लिया कि वह लगनवाले और काम करने वाले ही नहीं हैं पर समय पर त्याग करने में भी किसी से पीछे नहीं रहेंगे। उसके बाद वह जहाँ तक मुझे स्मरण है बिहार प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की कार्य-कारिणी में शरीक हुए और जब कुछ दिनों के बाद कांग्रेस ने मन्त्रि-मंडल बनाया तो उनको पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त किया गया। उस पद पर रह कर उन्होंने अपनी जवाबदेही और काम को खूब अच्छी तरह से संभाला जिसकी प्रशंसा उस समय के सभी लोग किया करते थे। उनका सम्बन्ध कांग्रेस और कांग्रेस-कर्मियों के साथ दिन प्रतिदिन अधिक घनिष्ठ होता गया और १६४१ से फिर जो महात्मा जी

का महान् आन्दोलन शुरु हुआ उसमें उन्होंने यथोचित भाग लिया। १९४६ में जब केन्द्रीय मन्त्रि-मंडल में कांग्रेस ने शरीक होने का निश्चय किया तो उसमें स्वभावतः ख्याल उनकी ओर गया और उनको स्थान मिला। अवस्था उनकी कम थी। तो भी श्रम विभाग उन्होंने अच्छी तरह से खूबी के साथ संभाला। पिछले पाँच वर्षों में वह इस विभाग के मन्त्री रहे हैं और इस पद से उन्होंने श्रमजीवियों की स्थिति को सुधारने के लिये जो काम किया है वह केवल भारत सरकार की कानून की किताबों में दर्ज कानूनों से ही मालूम नहीं होता पर जिस तरह उनकी अवस्था सुधरी है वह देखने से ही उसका पता पूरी तरह चल सकता है। अनुभव काफी उन्होंने इस बीच में प्राप्त कर लिया है और अपने विषय पर उन्होंने अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया है। सादा जीवन है। काम करने की लगन है, श्रम से नहीं डरते और जो ठीक समझते हैं उसको कहने और करने में नहीं हिचकते। जब कोई चीज सामने आती है तो उस पर हर पहलू से विचार करके ही कोई राय क़ायम करते हैं और विचार निश्चित कर लेने पर उससे जल्द डिगते नहीं। मेरा उनसे सम्पर्क और अधिक दिन-प्रतिदिन घनिष्ट होता गया और मैं आशा रखता हूँ कि उनका भविष्य और अधिक उज्ज्वल होगा। अभी उनकी अवस्था कम ही कही जा सकती है और इसलिये काम का क्षेत्र और काम करने का समय और शक्ति भी उनके सामने बहुत है और हमारी यही सद्भावना और सदिच्छा है कि वह समय और शक्ति को देश की सेवा में उसी तत्परता से लगायेंगे जिस तत्परता से उन्होंने आज तक काम किया है और अपने काम में सफल होते गये हैं।

राष्ट्र पुरुष जगजीवन राम

काका साहेब कालेलकर

हमारे देश में उपेक्षित जातियों का सवाल अत्यन्त पुराना है। इस सवाल का हल करने की कोशिश प्राचीन काल से होती आई है। विश्वामित्र और श्री रामचन्द्र जी के समय से कोशिशें होती आई हैं। पंचतंत्र और कथा सरित्-सागर जैसी कथाओं में भी भील आदि अनेक वन्य जातियों का जिक्र आता है। इन लोगों की ईश्वरनिष्ठा, भूमिनिष्ठा और स्वामीनिष्ठा उच्च कोटि की पाई गई है। सन्तों ने इनके बीच हमेशा काम किया है और इन जातियों में अच्छे अच्छे संत भी तैयार हुए हैं। जहाँ-जहाँ बलिदान के द्वारा भूमिनिष्ठा सिद्ध करने के अवसर पैदा हुए, वहाँ-वहाँ इन जातियों का गौरवयुक्त उल्लेख आया ही है।

इतना होते हुए भी ये सब जातियाँ देश के विराट समाज में पूरी-पूरी घुल-मिल नहीं गई है। इनकी वन्य संस्कृति की रक्षा के उद्देश्य से और उपेक्षा के कारण भी इनको हमेशा दूर ही रखा गया। सामाजिक वहमों (Prejudices) के कारण इन जातियों के प्रति बहुत अन्याय हुआ है।

ऐसे अन्यायों का परिमार्जन करना और इन जातियों के विकास में विघ्नरूप जो कठिनाईयाँ हैं उन्हें दूर करना और इन्हें पूर्णतया अपनाना आज का युगकार्य है।

भारतीयों की सामाजिक कमजोरियों को बराबर और तुरन्त पहचानने वाले और उससे लाभ उठाने वाले अंग्रेजों ने हमें बताया कि सामाजिक अन्याय दूर करने का काम आहिस्ता-आहिस्ता नहीं हो सकता। जलते घर की आग बुझाने काम पचास वर्ष की योजना बना कर हम नहीं कर सकते। वैष्णवों ने, बौद्धों ने और जैनों ने इन लोगों के बीच जो कार्य किया था वही दूसरे ढंग और दूसरे उद्देश्य से इस्लाम ने और ईसाई धर्म ने भी कर देखा।

आज के युग में वही कार्य हम लोग सामाजिक, शैक्षणिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में कर रहे हैं।

संतों का काम सबसे अच्छा इसलिए गिना जाता है कि उनके प्रयत्न से इन उपेक्षित जातियों में श्रेष्ठ कोटि के संत पैदा हुए। हमारा इस युग का कार्य भी तभी अच्छा गिना जायगा। जब इन उपेक्षित जातियों में से सारे देश का ख्याल करने वाले नेता तैयार होंगे। इतना ही नहीं, किन्तु समस्त मानव जाति के कल्याण के लिये अपनी आयु अर्पण करेंगे।

आजकल उपेक्षित जातियों में दो तरह के नेता पैदा होते हैं। और मैं मानता हूँ दोनों के लिए योग्य कारण भी है। और दोनों उपयोगिता भी है। लेकिन दोनों की कोटि भिन्न है।

जिस रूढ़ि के कारण और गलत सामाजिक आदर्श के कारण इन उपेक्षितों के प्रति अन्याय होता रहा उस रूढ़ि के खिलाफ और उसके समर्थकों के खिलाफ लड़ने का काम न्यायनिष्ठ सुधारक सवर्णों का भी है और उपेक्षित जातियों के स्वाभाविक नेताओं का भी है। ऐसे लोग लड़ते-लड़ते इतने कड़वे बन जाते हैं कि मनुष्य जाति पर उनका विश्वास ही नष्ट हो जाता है। सवर्णों के साथ लड़ना चाहिए, उनको परास्त करना चाहिये। उनके हाथों न्याय मिलने की आशा कभी भी नहीं रखनी चाहिए। जहाँ-जहाँ अधिकार हो अपनी जाति का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। किसी पर भी भरोसा रखना बेवकूफी है दुनिया के सब लोग अपने स्वार्थ की ही बात सोचते हैं। हमें भी वैसा ही करना चाहिए। अपनी जाति का संगठन करके और जातियों से लड़ते रहना, कहीं भी उदारता नहीं दिखाना, और हमेशा जागरूक रहना यही हमारा कर्तव्य है। यह हुई ऐसे लोगों की जीवन दृष्टि।

दूसरे लोग होते हैं जो कहते हैं कि रूढ़िवादी तंगदिल लोगों की स्वार्थवृत्ति हम जानते हैं। अपने अधिकार की रक्षा के लिए ऐसे लोगों से लड़ना चाहिए यह भी हमें मंजूर है। लेकिन हम जानते हैं कि सारा समाज ऐसे लोगों का बना हुआ नहीं है। सवर्णों में और सब वर्ग के लोगों में ऐसे भी लोग हैं जो हमारे प्रति न्याय करने के लिए औरों से लड़ते रहते हैं। उनमें तत्वनिष्ठा है, उदारता है। स्वार्थ को भूलकर दूसरों के हित के लिए वे हमेशा कोशिश करते रहते हैं। परस्पर अविश्वास के कारण राष्ट्रीय संगठन अगर कमजोर हुआ तो सबका नाश होने वाला है। इसलिए अपने और अपनी जाति के स्वार्थ का ख्याल रख कर अंधे बन जाना, अविश्वास का वायुमंडल बढ़ाना, और राष्ट्रीय एकता खतरे में डालना राष्ट्रद्रोह होगा। जिन लोगों ने उपेक्षितों की ओर देखा, उनकी सेवा के लिए अपना स्वार्थ छोड़ दिया और परोपकार में ही जीवन की सफलता पाई, ऐसे लोगों का ही अनुकरण हम क्यों न करें ? हमसे भी अधिक उपेक्षित और अधिक दुर्दैवी जनता जरूर कहीं न कहीं होगी, उनकी सेवा का हम क्यों न सोचें ? और भूतकाल के अन्याय का ध्यान धरते न बैठकर भविष्यकाल के लिए सर्वसेवा का आदर्श हम क्यों न ग्रहण करें ? सारे राष्ट्र के हित के लिए प्रयत्न करते अपना और अपनी जाति का जो कुछ भी स्वार्थ सध जाए उसी से संतोष क्यों न मानें ? मनुष्य जाति के विकास का चिंतन करने वाले भविष्यानिष्ठ लोगों की जमात में हम क्यों न शरीक हो जायें ? यह है दूसरे किस्म के लोगों की जीवन दृष्टि।

मैंने देख लिया है कि माननीय श्री जगजीवन राम दूसरी कोटि के राष्ट्रपुरुष हैं। इसीलिए मेरे जैसे अनेक लोगों के मन में उनके प्रति आदर है। और इसीलिए हम उनका अभिनंदन करने प्रवृत्त हुए हैं। ईश्वर इन्हें दीर्घायु और आरोग्य दे। और इनका अनुकरण करने वाले लोगों की संख्या बढ़ती देखने का परम संतोष इन्हें प्राप्त हो।

व्यक्तित्व : एक वन फूल

जिस चेहरे पर जंगली फूल के निर्मल नैसर्गिक भोलेपन से भरे हुए सौन्दर्य की झलक है, ग्रामीणों की सिधाई है, और दुनिया की रंगीन जातियों की कष्ट-साधना की मानवीय करुणा प्रतिबिम्बित होती है, वह हमारे देश के राष्ट्रीय जागरण के युग में पैदा होने वाले असाधारण व्यक्तित्व का चेहरा है। उसकी सिधाई, भोलेपन और मानवीय करुणा के बीच दो पैनी दृष्टियाँ असाधारण योग्यता का प्रतीक हैं जैसे रंगीन जातियों के चेहरों में उनकी आँखों की भाषा ही उनकी योग्यता का बखान करती है ठीक वैसी ही इस चेहरे की विशेषता है। व्यक्तित्व में चेहरा और आँखें ही व्यक्तित्व के गुणों को उजागर करते हैं।

जगजीवन राम का व्यक्तित्व उनके चेहरे में बोलता है। उनकी मिलनसारिता, उनकी सचाई, और ईमानदारी और सब से बड़ी उनकी इन्सान परस्ती—सभी उनके चेहरे की रेखाओं में लिपिबद्ध हैं। इस व्यक्तित्व की कुछ झांकियां देखिए फिर चेहरे की रेखाओं से मिलाइए :

* *

बिहार का एक गाँव। छे-सात साल का अबोध बालक हाथ में डंडा लिए ऊंचे से पेड़ की चोटी पर मुँह फुलाए बैठा है। वह सोच रहा है : 'मुझे गुरुजी ने निरपराध क्यों पीटा ? मैं अब इस पाठशाला में नहीं पढ़ूँगा। ऐसी पाठशाला में जो भी मुझे पढ़ने के लिए कहेगा उसकी इसी डंडे से मरम्मत करूँगा।'

* *

हाईस्कूल में दाखिल होने का प्रार्थी एक अछूत छात्र। मास्टर कहता है : 'दरख़ास्त दो अछूत होने के नाते तुम्हारी फ़ीस माफ़ हो जायगी।' किन्तु वह दरख़ास्त नहीं देता है; बल्कि परीक्षा में अपनी असाधारण योग्यता दिखाकर फ़ीस माफ कराता है।

* *

वरुण की जल-सेना का आक्रमण। सारा गाँव जलमग्न है। खेती-बाड़ी डूब गई है, जानवर बहे जा रहे हैं और ज़िंदगी के बसेरे घरों की दीवारें भी विगलित होकर ज़मीन चूम रही हैं। पन्द्रह साल का एक लड़का रात में जल सेना के इस आक्रमण से अपने घर के सामान की रक्षा कर रहा है। उसने सब सामान बचा लिया किन्तु अपने भाई के भेंट किए हुए ५०० रु० तो अभी ज़मीन में ही दबे थे। वह अभिमन्यु की तरह जल के चक्रव्यूह में कूदकर अपनी इस प्रिय भेंट को निकाल लाया। देखने वाले दंग हैं।

* *

कसबे के हाईस्कूल का वार्षिकोत्सव। दकियानूसी धर्म का वातावरण। हिन्दूधर्म के नेता मालवीयजी पधारे हैं। सवर्ण स्वाभिमान से फूले नहीं समा रहे हैं और दलित जाति के लोग एक हीन-भावना से इस गौरव मण्डित दृश्य को देख रहे हैं कि एक अछूत छात्र ने, जो प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ था, एक भाव पूर्ण लेख पढ़कर सुनाया। लोग चौंके कि मालवीयजी ने उसे अपनी बग़ल में बैठा लिया है। गाँव के सवर्ण इस होनहार अछूत की प्रतिभा से चकित होकर उसकी माँ से कहते हैं: 'तोहार बबुआ अवस कौनो दिन बड़ा आदमी बनिहन। एतिना लरिका ओहिजा रहलन स बाकी कौनो के मालवीय जी अपना मेरी वोला के न बैठोलन, तोहरा बबुआ के अपना पास बोला के बैठा लैलन।' माँ यह सुनकर हर्ष से फूली न समाई।

* *

सन् १९४७ की तेज़ गर्मी। बसरा के आसपास का आग सा तपता हुआ रेगिस्तान। ज्वालामुखी के उच्छ्वास की तरह गरम हवा। ज़मीन पर पर-कटे पक्षी की भांति गिरा हुआ हवाई जहाज़, रात का सांय-सांय करता हुआ सन्नाटा। और इस बीहड़ निर्जनता में पड़े हुए घायल हवाई यात्री जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन का भारतीय प्रतिनिधि मण्डल का नेता भी पड़ा कराह रहा है। दुनिया में तार खटक गए। भारत में आशा-निराशा का द्वन्द्व मच गया। क्योंकि यह व्यक्ति भारत के श्रम मन्त्री जगजीवन राम ही थे—जो इन्सानियत और ईश्वर में अखण्ड विश्वास के कारण मौत पर भी विजय प्राप्त कर सके। इस पुनर्जन्म ने उनकी माँ के वात्सल्य को गौरवशाली बनाने वाले व्यक्तित्व की रक्षा की—इसे वह और उनकी परम आस्तिक माँ ईश्वर का चमत्कार ही मानते हैं। है भी चमत्कार।

व्यक्तित्व की ये कुछ झाँकियाँ उनके चेहरे की रेखाओं में साकार हो उठती हैं। उस स्वाभिमानी बालक की झाँकी, जो पेड़ की चोटी पर डंडा लेकर बैठा था और जिसने अछूत होने के नाते फीस माफ करने की दया की भीख नहीं माँगी; उस साहसी बालक की निर्भीकता, जो भयंकर बाढ़ में भी प्रेम की भेंट की रक्षा के लिए कूद पड़ा और उस प्रतिभाशाली छात्र की योग्यता, जिससे मालवीय जी प्रभावित हुए थे—इस चेहरे में सभी विकसित होकर सजीव हो उठे हैं।

अपने छोटे से गाँव के देहाती जीवन से लेकर जेनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन तक और म्युनिसिपलबोर्ड के सदस्य से प्रान्तीय धारासभा की सदस्यता की पीठिकाओं को पार करते हुए भारत के श्रम मन्त्रित्व तक उनके जीवन का विकास एक रचनात्मक क्रान्तिकारी का विकास है। राष्ट्रीय स्वाधीनता के संग्राम में एक सिपाही, दलित जाति के एक विद्रोही नेता और भारतीय संस्कृति में अखण्ड विश्वास रखने वाले महात्मा गांधी और नेहरू के पथगामी के रूप में वह राष्ट्रीय जीवन की अहिंसक रचना के असाधारण में व्यक्तित्व हैं।

उन्होंने सवर्णों के अत्याचारों से पीड़ित जातियों का पक्ष लेकर कभी धार्मिक प्रतिक्रिया का परिचय नहीं दिया और न कभी जातीय असन्तोष की भावना से उन प्रतिक्रियावादी ताक़तों का साथ दिया, जो भारत के स्वाधीनता संग्राम के दिनों जाति-पीड़न के नाम पर एक वर्ण-संघर्ष पैदा करना चाहती थीं और गांधी जी के हरिजन-आन्दोलन का विरोध करती थीं। इस प्रकार उन्होंने पीड़ित जातियों के

दुर्दशा के उद्धार की बात सोचते हुए भी और सवर्णों की आलोचना करते हुए भी कभी साम्राज्य-वादियों का साथ नहीं दिया। बल्कि साम्राज्य के समर्थकों की ओर से लालच देने पर उन्होंने एक देशभक्त स्वाभिमानी की तरह कहा : 'मैं देशद्रोही नहीं बनना चाहता।'

इसके साथ ही उन्होंने सदा दलितों और शोषितों का पक्ष लिया और उनकी दुर्दशा के सही सामाजिक, और आर्थिक कारणों को समझा। उन्होंने कहा :

'यदि हिन्दू-समाज के ढाँचे के अंतर्गत बाल्मीकि, रैदासी, या अन्य हरिजन नीच समझे जाते हैं तो यह उनका अपना दोष नहीं बल्कि ऊँची जातिवालों का दोष है। यह एक सामाजिक व्याधि है।'

'भंगियों की मुक्ति इसी में है कि ऐसे समाज का निर्माण किया जाय जिसमें कि कोई मेहतर न हो।'

'आर्थिक कारणों से सामाजिक ढाँचा टूटता जा रहा है और उच्च जाति के लोगों ने नाई, धोबी तथा मोची के पेशे तक को संभालना शुरू कर दिया है, किन्तु उनमें से किसी ने भंगी का पेशा अपनाने का साहस नहीं किया।'

'अस्पृश्यता की समस्या आर्थिक है, इसलिए उसे उसी विशेष दृष्टिकोण से सुलझाना चाहिए।'

इस प्रकार सवर्णों के धार्मिक कशाघात से पीड़ित जाति में जन्म लेने वाला गाँव की गुदड़ी का एक लाल आज़ाद भारत का पहला श्रममन्त्री बना।

जगजीवन राम के व्यक्तित्व की ये झाँकियाँ देखकर भारत के उन सन्तों के व्यक्तित्व की तस्वीर सामने नाचने लगती है, जिन्होंने दलित-जातियों के अछूत-गर्भ में जन्म लेकर भी भारत की संस्कृति और साहित्य का नेतृत्व किया। और जिनके कृतित्व के हिमालय जैसे गौरव के सामने सवर्णों का मिथ्याभिमान बौना-सा प्रतीत होता है। इन सन्तों ने अपनी लोकमंगल की मानववादी कामना से साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में जो निर्माणकारी काम किया, वही काम श्री जगजीवन राम ने भारत के वर्तमान राष्ट्रीय जागरण के राजनीतिक क्षेत्र में किया और जैसे वे लोग अपने गुण-कर्म-स्वभाव की योग्यता से अछूत होने पर भी सन्त और सब वर्णों के लिए पूज्य बन गये थे उसी प्रकार आपका व्यक्तित्व भी सर्वप्रिय बन गया।

यह इसलिए नहीं कि आपकी राजनीतिक सफलताएँ अधिक हैं; बल्कि इसलिए कि आप एक बड़े इन्सान हैं। इन्सानियत के बड़प्पन की ये सफलताएँ बाहरी रूप हैं—जो किसी क्षण मिट सकती हैं और बदल सकती हैं, किन्तु आदमी की आदमियत उसके मरने के बाद भी अमिट रहती है। आदमी सफलताओं से बड़ा होता है। जो आदमी सफलताओं के सिंहासन पर बैठ कर आदमियत की सार्वभौम गद्दी से नीचे गिर जाता है, वह सफलताओं से बड़ा और असफलताओं से छोटा बनता है। किन्तु जगजीवन राम का व्यक्तित्व उस आदमियत की कहानी है जो सफलताओं के सिंहासन पर बैठ कर भी इन्सानियत की सार्वभौम गद्दी से नीचे नहीं उतरा, जब भी उसे ऐसा धर्म-संकट दिखाई दिया उसने सफलताओं के सिंहासनों को त्याग दिया किन्तु फिर भी वह एक बड़ा

आदमी बना रहा क्योंकि उसने अपने में जीवित रहने वाले इंसान की सदा आज्ञा मानी। उनका कहना है : 'मैं तो सिर्फ मनुष्य मात्र के गुणों पर विश्वास करता हूँ।' इसीलिए वह व्यक्ति के सुधार में विश्वास रखते हैं और उनका मत्र है : 'वैयक्तिक सुधार गांधीवाद का सार है।'

मनुष्यता की चिंता ही व्यक्ति की चिंता है। राजनैतिक स्वाधीनता के इस युग में अनेक नेता मनुष्यता की स्वाधीनता की चिंता से मुक्त हो गए-से प्रतीत होते हैं, और राष्ट्रीय जागरण के उत्थान में उन्होंने जिस जोश का परिचय दिया था उसे आज खो चुके हैं, किन्तु आप आज भी यह सोचते हैं :

'जो आजादी आज हमारे पास है उसे हम असली आजादी नहीं कह सकते, क्योंकि वह केवल राजनीतिक आजादी है। जनता के लिए यह कोई अर्थ नहीं रखती। जब तक कि उसके रहन-सहन के स्तर को ऊपर नहीं उठाया जाता, उसकी गरीबी, उचित भोजन, वस्त्र तथा मकान की समस्याओं को हल नहीं किया जाता; जब तक शोषण, अन्याय तथा अत्याचार, चाहे किसी भी स्वरूप में हों, भूतकाल की वस्तुएँ नहीं बन जाते और जब तक कि उसे सब तरह की उन्नति के लिए सभी आवश्यक अवसर नहीं मिल जाते तब तक यह आजादी उसके लिए किसी काम की नहीं।

*   *

जंगली फूलों की पौध किसी सुसज्जित बाग में नहीं लगाई जाती। वे कहीं भी फूल कर सारे वातावरण को अपने पराग से सुगन्धित कर देते हैं। यह व्यक्तित्व भी एक दलितजाति में फूला और आज अपनी खुशबू से बागों की सुवर्ण क्यारियों को भी सुगन्धित कर रहा है।

जगजीवन राम

कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें देखते ही लगता है जैसे मातृभूमि के सच्चे प्रतिनिधि पुत्र वे हैं, उनके व्यक्तित्व में धरती की विराटता बड़े यथार्थ रूप में उद्घाटित होती है। वह केवल उस धरती के पुत्र नहीं होते जो पाषाण और धूलि से बनी है, बल्कि उस वसुन्धरा की कोख की उपज होते हैं जो रत्नगर्भा है, हिरण्यगर्भा है और सर्वसहा है।

श्री जगजीवन राम का व्यक्तित्व भी देख कर अथर्ववेद के उस पृथ्वी-पुत्र की कल्पना साकार हो उठती है जो कहता है 'भूमि मेरी माँ है, मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ'। ऐसे पृथ्वी-पुत्र राष्ट्रीय जीवन के कल्पवृक्ष के अमर फल होते हैं जो अपने अमृत दान से राष्ट्र को भी अमरता प्रदान करते हैं।

राष्ट्र की आत्मा जन है, भूमि उसका शरीर है और संस्कृति उसका शृंगार होती है। राष्ट्र का आत्मरूप जन ही भूमि की विराटता और संस्कृति का शृंगार पाकर असाधारण व्यक्तित्व बन जाता है। राष्ट्र में जन बहुत होते हैं, किन्तु राष्ट्र की आत्मा की विराट अभिव्यक्ति जिनके जीवन में मुखरित हो पाती है वे विरले ही होते हैं। राष्ट्रीय जीवन के कल्पवृक्ष पर कभी-कभी ऐसी बहार आती है जब उसमें असाधारण व्यक्तित्वों के अमरफल अंकुरित, पुष्पित और फलित होते हैं। भारत में राष्ट्रीय जागरण एक वसन्त ऋतु थी जिसमें ऐसे अमर फलों की सृष्टि हुई। श्री जगजीवन राम उन्हीं में से एक हैं।

आप राष्ट्रीय जागरण काल में गांधी रूपी वट-वृक्ष की छाया में पनपने वाले दलित जातियों की जनचेतना के सर्वाधिक लोकप्रिय नेता हैं। जिस तरह डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का व्यक्तित्व भारत के ठेठ किसान का सा व्यक्तित्व है उसी प्रकार श्री जगजीवन राम भी ग्राम-देवता की विभूति हैं। यदि किसी को बताया न जाए और साधारण वेशभूषा में जगजीवन राम जी को कोई विदेशी अपरिचित देखे तो उन्हें वह भारत का सीधा-सादा किसान समझेगा।

सादगी आपके जीवन का शृंगार है। उनकी खादी की भारतीय पोशाक में फैशन का चमत्कार नहीं होता है। क्योंकि राजनीतिक क्षेत्र में जीवन बिताने वाले लोगों पर—जहाँ दुनिया के नये सिद्धान्तों का प्रभाव शीघ्र पड़ता है वहाँ वाह्याडम्बरों के चमत्कार का प्रभाव भी खूब पड़ता है, किन्तु श्रीजगजीवन राम अन्तर और वाह्य सरल, आडम्बरहीन, भारतीय ग्राम-संस्कृति के प्रतीक हैं और सरलता और सादगी सदा सच्चाई और ईमानदारी की प्रतीक होती है। जिस तरह महात्मा गांधी ने अहिंसा और सत्य के सिद्धान्तों से राजनीति को नैतिक और मानवीय, सच्ची और ईमानदार बनाने का आदर्श प्रस्तुत किया उसी तरह इस आदर्श की प्राप्ति के लिए व्यक्ति के अपने जीवन में भी

अन्दर और बाहर—दोनों में—सच्चाई और ईमानदारी को प्रतिबिम्बित करने की प्रेरणा दी । गान्धी की यह महान नैतिक प्रेरणा जिन राजनीतिक व्यक्तित्वों में प्रतिफलित हुई उनमें श्री जगजीवन राम का व्यक्तित्व एक महत्त्व रखता है ।

बिहार प्रान्त के आरा जिले के एक छोटे गाँव में दलित जाति की गोद में जन्म लेकर भी अपने वर्ग-समाज की तमाम विषमताजन्य बाधाओं को पार करते हुए सार्वजनिक जीवन का रास्ता तय किया । दलित जाति के तमाम दुःख-दर्दों को जानते हुए और उनके तमाम कारणों के प्रति एक विद्रोह रखते हुए भी आप राष्ट्रीयता के देश-भक्तिपूर्ण पथ से कभी विचलित नहीं हुए, बल्कि आपने प्रतिक्रियावादी शक्तियों से संघर्ष किया और दलित जातियों में राष्ट्रीयता की भावना भरकर उन्हें उन्नत बनने एवं अपने अधिकारों को प्राप्त करने की प्रेरणा दी । प्रतिक्रियावादी ताक़तें दलित जातियों के अधिकारों की लड़ाई को राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष से अलग बताती रहीं । वे भारतीय स्वाधीनता संग्राम को सवर्णों का आन्दोलन बता कर इन सीधे लोगों को गुमराह करती थी । किन्तु श्री जगजीवन राम ने दलितों के अधिकारों की समस्या को एक राष्ट्रीय समस्या समझा और इसका निदान राष्ट्रीय समस्या का निदान माना । इसीलिए आप प्रतिक्रियावादियों के जाल में न आकर और साम्राज्यवादियों के तमाम आकर्षण ठुकरा कर महात्मा गांधी के तपःपूत मार्ग पर आगे बढ़ते रहे ।

मूलतः जगजीवन राम का परिवार आरा जिले का रहने वाला नहीं । इनके दादा श्री शिवनारायण आज से लगभग ६० साल पहले मऊ जिले के झुनाठी ग्राम को छोड़कर आरा जिले के मोरासीआ गाँव में आकर बस गए थे । यहाँ पर जगजीवन राम के पिता श्री शोभी राम का जन्म हुआ । परिवार के सब लोग आपको 'बाबू जी' कहते थे । इस कुल की ख्याति के मूल कारण आप ही हैं।

बाबू जी के पिता जी का देहांत इनके बचपन में ही हो गया, माँ इनकी सौतेली थी । कष्ट काफ़ी था । इनके एक फूफा फौज़ में नौकर थे । सात साल की आयु में आप अपने फूफा के साथ मुलतान गए । वहाँ रहते हुए ही आपने हिन्दी एवं अंग्रेज़ी का ज्ञान प्राप्त किया । छोटा-मोटा काम भी करते रहते थे । बाद में आपको सेना में ही एक नौकरी मिल गई । जिस पल्टन के साथ आप काम करते थे, वह दानापुर (पटना) आ गई और आप भी उसके साथ दानापुर आ गए । सात साल मुलतान में रहने के बाद जब आप पहली वार अपनी दादी (इन्होंने ही इनको माता का प्यार और स्नेह दिया था) से मिलने गए, तब आपने पहली भेंट में अपनी कमाई का सारा संचित रुपया दादी के आँचल में रख दिया । पौत्र-वत्सला दादी की आँखें प्रेम और स्नेह से चमक उठीं । उसको अनुभव हुआ कि उसके कुल का उद्धारक एवं तारक पौत्र सामने खड़ा है । उसका हर्ष और आनन्द हृदय में नहीं समाया और वह आंखों के रास्ते बह उठा और पितृमही भक्त 'बाबू' जी भी उससे आप्लावित हो गए ।

'बाबू जी' १४ साल के हो गए थे । फिर कमाने भी लगे थे । दादी की बहू देखने की इच्छा अत्यन्त प्रबल थी । बस फिर क्या था । बलुआ नरमदा गाँव के एक स्वजातीय कन्या 'वासन्ती' से

आपका विवाह निश्चित हुआ और साल बीतते आपका विवाह भी हो गया । वासन्ती की उम्र दस साल की थी । सेना की नौकरी अभी जारी थी । परन्तु यह और पाँच साल से अधिक नहीं चली । आप स्वभाव के मानी थे । सैनिक अफ़सर से आपकी किसी बात पर बिगड़ गई । आप अपने को निर्दोष मानते थे और इस कारण माफी माँगने से इन्कार कर दिया और नौकरी छोड़ दी । स्वभाव की यह तेजस्विता आपके परिवार में जन्मजात है । नौकरी छोड़कर आप चँदवा गाँव आ गए । यहीं आपकी पहली सन्तान का जन्म हुआ । बच्चे का नाम संतलाल रखा गया । 'बाबू जी' का इरादा बलिगाँव में अपना घर बना कर बसने का हुआ । वहाँ मकान बना लिया गया, किन्तु संतलाल वहाँ जाकर बीमार हो गए । यद्यपि आपके चचेरे भाई बलिगाँव में ही रहते थे, और आपने भी अपने लिए वहाँ घर बनवा लिया था, किन्तु पहली संतान का वहाँ जाकर बीमार होना अच्छा नहीं माना गया और इसको अपशकुन समझा इसके अतिरिक्त शहर से दूर होने के कारण वहाँ डॉक्टर और वैद्य की भी सुविधा जल्द न हो सकती थी । आप पुनः चंदवा गाँव आ गए । यहाँ आपने एक और घर बनवाया । यह घर इस कुटुम्ब का स्थायी घर हो गया ।

बहुत दिन आपको बेकार नहीं रहना पड़ा । कलकत्ते में आपको एक स्थान मिल गया । यहाँ की कमाई से खेती के लिये गाँव में ज़मीन खरीदी । इसके कारण परिवार की आर्थिक अवस्था सुधर गई । 'बाबू जी' की दूरदर्शिता एवं प्रबन्ध-कुशलता के कारण परिवार को कभी अर्थाभाव ने नहीं सताया और न कभी इस कुटुम्ब को कभी कर्ज़ लेना पड़ा ।

मुलतान में रहते हुए ही 'बाबू जी' ने 'शिवनारायण सम्प्रदाय' के एक महन्त से शिवनारायणी मत की दीक्षा ले ली थी । गुरु और ईश्वर पर आपकी अटूट श्रद्धा थी । व्रत, पूजा और दान में अपूर्व आस्था थी । आपकी अपने गुरु शिवनारायण पर अटूट श्रद्धा थी । गुरु जी का जन्म स्थान 'चन्द्रवार' गाँव गाज़ीपुर है । वहाँ की यात्रा आपने पैदल ही की थी । जगन्नाथ जी की भी यात्रा आपने की थी । गुरु-भक्ति, धार्मिक प्रवृत्ति और विद्वत्ता के कारण आप भी एक महन्त माने जाने लगे थे । आप बलि देने के विरुद्ध थे । अन्धविश्वासों, झाड़-फूँक और अयुक्ति-युक्त बातों को नापसन्द करते थे । आपके प्रचार का फल यह हुआ कि अनेक लोगों ने आप द्वारा दिखाए सत्पथ का अनुसरण किया । आपके हज़ारों शिष्य आज भी बिहार में हैं । आपका स्वभाव विनम्र और दयालु था । माँगने वाला कभी आपके घर से खाली हाथ नहीं गया । जिस किसी को कुछ दिया वह सदा के लिए उसको दे दिया, फिर उससे वापिस नहीं माँगा और तकाज़ा नहीं किया । रजाई, दुलाई, टोपी, कुरता, अचकन आदि खुद सी लेते थे । छोटे-मोटे रोगों का इलाज भी कर लेते थे । यदि किसी गाँव वाले ने आपको कभी किसी प्रकार की सेवा-सहायता माँगी तब आपने कभी उसको देने से मुख नहीं मोड़ा । गाँव वालों की सहायता करने के लिए सदा तत्पर रहते थे । गाँव का हृदय अपने व्यवहार से जीत लिया था । फलतः आपके परिवार को कभी सवर्णों के अत्याचार का सामना करना नहीं पड़ा । इस प्रकार के वातावरण के मध्य जगजीवनराम का पालन हुआ, यह एक उल्लेखनीय बात है । इसका उनके विचारों पर भारी प्रभाव पड़ा है । शोषित वर्ग के प्रतिनिधि

होने पर भी यदि आप में उग्रता और रोष का अभाव है तो इसका कारण पिता श्री शोभी राम से मिली यह विरासत है।

चँदवा में आपकी बिरादरी के लोगों को पानी की बहुत तकलीफ़ थी। आपके मुहल्ले में कोई कुआ नहीं था। इसके कारण बहुत कष्ट भोगना पड़ता था। यह देख कर 'बाबू' जी ने एक कुआ बनवाया। कुआ अपने घर के आँगन में न बनवा कर मुहल्ले के बीच बनवाया। परोपकार एवं आत्मत्याग की यह भावना उनके पुत्र में भी आई।

कलकत्ता में बहुत दिन रहने और नौकरी करने से जब शरीर थक गया तब 'बाबू' जी अपने गाँव आ गए। चंदवा में रहते हुए श्री शिवनारायण पंथ के बहुत से ग्रंथों को अपने हाथ से लिखा। उनकी हस्तलिपि मनोरम एवं कलापूर्ण थी।

नौकरी छोड़ने के बाद ही चंदवा गाँव में रहते हुए सात सन्तानों के बाद आठवीं सन्तान आपके ५ अप्रैल १६०८ को हुई। अब तक आपके दो पुत्र और पाँच लड़कियाँ हो चुकी थीं। किन्तु दूसरा पुत्र पाँच साल की आयु में ही मर गया था। इसलिए तीसरा पुत्र पाकर पिता का हृदय पुलकित हो गया। इस पुत्र का नाम उन्होंने जगजीवन राम रखा। नाम का बालक के भावी जीवन पर प्रभाव पड़ता है, यह मान्यता पुरानी है। 'बाबू' जी की भी इस बात पर श्रद्धा दीखती थी। इसलिए नाम चुनने में उन्होंने बहुत सूझ-बूझ का परिचय दिया। जहाँ ईश्वर को आप नहीं भूले वहाँ अपने मनोरथों को–एक पिता अपने पुत्रको इस दुनिया में जिस रूप में देखना चाहता है–भी मूर्त्तरूप दिया। उनका विश्वास ठीक निकला और उनकी निष्ठा असत्य नहीं प्रमाणित हुई और श्री जगजीवन राम ने अपने कार्य से इस बात को सिद्ध कर दिया कि उनके 'बाबू जी' ने उनका नाम रखने में कोई भूल नहीं की।

पाँच साल की अवस्था में ही आपका विद्याध्ययन प्रारम्भ हुआ; गाँव की पाठशाला में भरती कर दिए गए। प्राचीन परम्परा के अनुसार आपने भी 'पाटी' पूजी और गुरु जी के चरण छूए। इस समय आपके बड़े भाई कलकत्ता में कम्पाउण्डरी करते थे। आपकी सब बड़ी बहनों का विवाह हो चुका था। घर में आप और आपकी एक छोटी बहन-जो अभी गोद में ही थी—ही रह गए थे। आपके पिता इस कारण अपने को बहुत कुछ निश्चिन्त समझते थे। स्वास्थ्य उनका अच्छा नहीं रहता था। कमज़ोरी बढ़ती जाती थी। उनको अन्तर्ध्वनि हुई कि संसार से विदाई लेने का समय निकट आ गया है। उन्होंने एक दिन अपने छोटे पुत्र को अपने पास बुलाया। अत्यन्त स्नेह से अनेक बार पुत्र के सिर और पीठ पर हाथ फेरा। फिर गद्गद कण्ठ से बोले 'एक को तो कुछ अंग्रेज़ी पढ़ा पाया, परन्तु तुमको तो अभी हिन्दी भी नहीं पढ़ा पाया। अब मैं चला, परन्तु जाओ तुम्हें किसी बात का हर्ज़ नहीं होगा, तुम सालों-साल पास होते जाओगे।' सन्त पिता का पितृभक्त पुत्र को दिया गया यह आशीर्वाद विफल नहीं हुआ। पुत्र भी आज अपनी कीर्त्ति, अपनी योग्यता और अपनी सफलता का श्रेय अपने पिता के इस आशीर्वाद को देता है।

जगजीवन राम के पिता की आयु लगभग ५० वर्ष की होगी, जब उनका देहान्त हो गया। मृत्यु के समय आपको कुछ भी कष्ट नहीं हुआ। लोगों को कल्पना भी नहीं थी कि आज आपका अन्तिम दिन है। स्नान कर स्वच्छ वस्त्र पहने हुए थे। शिवनारायण संत-सम्प्रदाय के अनुसार संतपति (भगवान) की पूजा करने के निमित्त 'गादी' लगाने के लिए लोगों से कहा था। पर जब आपके भक्तों ने ही 'गादी' लगाने को अगले दिन के लिए टाल दिया, तब आपने साँस खींची और 'सत्‌लोक' को चले गए। पिता को आग देने का काम छोटे पुत्र ने किया। आपकी अवस्था इस समय केवल छः वर्ष की थी। परन्तु इस पर भी दस दिनों तक आपने विधि-विधानों के अनुसार जीवन बिताया। नमक खाना छोड़ दिया, खेलना छोड़ दिया, घर से बाहर निकलना छोड़ दिया और किसी निषिद्ध चीज़ का आग्रह नहीं किया। दसवें दिन श्राद्ध हुआ और एक व्रती के समान श्रद्धा एवं निष्ठा पूर्वक आपने सब नियमों का पालन किया।

योग्य पिता का वरद हस्त उठ गया। किन्तु उस स्थान की पूर्ति माता जी एवं बड़े भाई ने करदी। आपको कभी किसी चीज़ का अभाव नहीं होने दिया। आपकी पढ़ाई में किसी प्रकार की बाधा न पहुँचे इसका बड़ा ख्याल रखा। घर का कोई काम जहाँ तक बनता था आपसे नहीं लिया जाता था। घर भर की इच्छा यही थी कि लड़का अपना सारा ध्यान पढ़ाई में लगावे। आपके गुरु कपिल मुनि तिवारी भी आपका विशेष रूप से ख्याल रखते थे। गुरु-कृपा होने से आपकी पढ़ाई में किसी किस्म का विघ्न नहीं आया। पढ़ने पर आप भी खूब ध्यान रखते थे। पढ़ा पाठ याद कर लेने के बाद ही घर से खेलने के लिए निकलते थे।

गुरु आपको प्यार भी करते थे। किन्तु एक दिन गुरु ने आपको पीट दिया, एक लड़के से आपका झगड़ा हो गया था। उसने आपको मारा और जवाब में आपने उसको मारा। वह सह न सका और ज़ोर से चिल्लाया। गुरु जी ने समझा शरारत इन्हीं की है और न पूँछा-ताँछा और बेंत जड़ दिया। बालक स्वाभिमानी था। उसने हठ पकड़ लिया कि अब वह इस पाठशाला में न पढ़ेगा। स्कूल से आधी छुट्टी होने के बाद वे एक बाग़ में चले गए। वहाँ एक मोटी लकड़ी तोड़ी और एक पेड़ पर चढ़ कर बैठ गए। आपका मन प्रतिहिंसा की भावना से उद्दीप्त था। आपका विचार था कि जो कोई यहाँ आवेगा और पाठशाला चलने के लिए कहेगा उसकी इसी लाठी से मरम्मत करूँगा। खाने की छुट्टी समाप्त होने पर सब लड़के तो पाठशाला आ गए, पर आप नहीं पहुँचे। आपकी ढूँढ़ शुरु हुई। घर लड़के भेजे गए और वे वापस लौटकर खबर लाए कि वहाँ आप नहीं हैं। अब आपकी खोज और ज़ोर-शोर से शुरु हुई। कुछ लड़के आपको खोजते हुए बाग में पहुँचे। वे यह देख कर हैरान रह गए कि आप एक मोटी लकड़ी लेकर पेड़ पर बैठे हुए हैं। लड़के उनके इस उग्ररूप को देख कर डर गए। पहले तो आप पेड़ से उतरने और पाठशाला जाने को राज़ी नहीं हुए। आपके साथियों ने बहुत समझाया-बुझाया, फलतः आप नीचे उतर आए और पाठशाला पहुँचे। वहाँ गुरु के पाँव छुए और कहा बस, गुरु जी विदा, इस पाठशाला में अब मैं नहीं पढ़ूँगा। लड़के का हठ यहाँ तक पहुँचेगा, इसका गुरु जी को ध्यान न था। इनकी माँ भी यह कह चुकी थीं कि उनका लड़का अब इस पाठशाला में नहीं पढ़ेगा। परन्तु गुरु जी भी हार मानने

वाले न थे। वे घर पहुँचे। उन्होंने इनकी माँ को विश्वास दिलाया कि इस प्रकार की घटना फिर न होगी। इसके साथ बात समाप्त हो गई।

इनके चरित्र पर इनकी माता जी का गहरा प्रभाव पड़ा है। भाई तो कलकत्ते रहते थे। इनकी पढ़ाई और चरित्र का ख्याल रखना तो माता जी पर था। उन्होंने ही इन्हें पढ़ाया और योग्य बनाया। यद्यपि वह पढ़ी लिखी नहीं हैं, पर बहुत धार्मिक और पूजा, पाठ, व्रत, नियम करने वाली हैं। शायद ही कोई व्रत छोड़ती हों। सैंकड़ों भजन प्रभाती उन्हें कंटस्थ हैं। रामायण आदि धर्म-ग्रन्थों के बहुत से अंश उन्हें स्मरण हैं। बचपन में आपको घी-गुड़ का बड़ा चाव था। जमा घी और गुड़ बड़े चाव से खाते थे। सिकहर पर टँगी दही की हँडिया के ऊपर से आप माँ की आँख बचा कर मलाई निकाल लेते थे। मलाई भी इतनी सफ़ाई से उतारते थे कि किसी को आप पर संदेह ही नहीं होता था। माँ यही समझती थी कि रोज़ चूहा खा जाता है। एक दिन जब खुद आपने यह भेद खोला, तब सब लोग हँस-हँस कर लोट-पोट हो गए। आपके शौक के खेल थे—पतंग उड़ाना, कबड्डी और चीका खेलना। पढ़ने के समान खेलने में भी आप अपने साथियों में तेज़ थे।

धर्म के प्रति रुचि आपको अपने पिता से बचपन में ही मिली थी। छोटी अवस्था में ही आपको ईश-प्रार्थना, भजन, दोहे आदि कण्ठस्थ करा दिये गए थे। जब पढ़ने लगे तब रामायण, हनुमान-चालीसा, दान-लीला आदि भी आपको याद कराया गया। हनुमान-चालीसा का तो आप रोज़ प्रातः स्नान के बाद पाठ करते थे। रविवार को रामायण का गान करते थे और मुहल्ले के लोग जमा होते और उसको सुनते। जन-सेवा की भावना उसी समय से आपके हृदय में अंकुरित है। गाँव वाले आपको बहुत प्यार करते थे। उनका काम भी आप कर देते थे। उनकी चिट्ठी-पत्री लिखने से कभी आपने इन्कार नहीं किया। अपनी बिरादरी के लोग आपको मानते ही थे, किन्तु दूसरे भी आपको एक होनहार बालक समझ कर प्यार करते थे।

किसी का जीवन सदा सुखमय नहीं हुआ। आप भी इसके अपवाद नहीं रहे। एक दिन शाम को आप चीका खेल रहे थे। खेलते-खेलते आपका पाँव अनजाने कुत्ते पर पड़ गया। कुत्ते ने बदले में उछल कर आपको ज़ोर से काट लिया। दाँत गहरे लगे थे। खून की धारा फूट पड़ी। पर कुत्ता ज़हरीला नहीं था, अतः विशेष चिन्ता की कोई बात नहीं थी। परन्तु विपत्ति कभी अकेली नहीं आती। आपके घर के पीछे एक बरसाती नाला बहता है। वर्षा-ऋतु में यह नाला भर कर बहता है। नाला अधिक चौड़ा नहीं, किन्तु पानी का प्रवाह तेज़ होता है। आप अपने एक मित्र के साथ नाले में नहाने गए। बरसात के दिन थे। नाला चढ़ा हुआ था। दोनों साथी निश्शंक होकर पानी में कूद पड़े। तैरना दोनों में से कोई नहीं जानता था। तेज़ धारा का एक प्रबल वेग आया और दोनों बह गए। साथी तो हाथ-पैर मार कर बाहर निकल आया। संध्या का समय था। कोई पास न था। आपके लिए निकलना कठिन हो गया। साथी भी कोई उपाय आपको बाहर निकालने के लिए नहीं सोच सका।

अकस्मात् उसी समय सुअर चराती हुई एक मुसहरिन निकल आई। उसने आपकी हालत देखी और झट से अपने हाथ की लकड़ी आपकी ओर बढ़ा दी। लकड़ी का सिरा जब आपके हाथ में आ गया, तब उसने आपको किनारे पर खींच लिया। आपकी माँ इस घटना को कभी नहीं भूली। आपकी जान बचाने वाली मुसहरिन को भी कभी नहीं भुलाया। यह आपका दूसरा जन्म था। इस जन्म की दात्री थी मुसहरिन, फिर उसको कैसे भुलाया जाता?

गाँव की परीक्षा समाप्त कर आप आरा में जाकर पढ़ने लगे। यहाँ के मिडिल स्कूल और उसके बाद हाई स्कूल में आपने अपना नाम लिखाया। उस समय अछूत विद्यार्थियों के लिये कोई सुविधा नहीं प्राप्त थी। अछूत होने के नाते नहीं, बल्कि अपनी योग्यता के कारण आपने अपनी फीस माफ़ करवा ली।

जब आप ग्यारह साल के थे, तभी आपका सोनपुरा गाँव के श्री मुखलाल की लड़की से पहला विवाह हुआ। सात साल बाद आपका गौना हुआ। १८-१६ वर्ष की आयु में आप पर पत्नी का भार आ गया। किन्तु इससे आपकी पढ़ाई रुकी नहीं। बल्कि इससे आपकी पढ़ाई को और बल मिला। आप उच्च शिक्षा पा सके, इसका श्रेय आपकी पहली साध्वी पत्नी को ही है। वह इतनी पति-परायणा थीं कि एक बार आप म्युनिस्पल-चुनाव में आरा ही रह गए और रात को भी घर न आए और पत्नी ने आपकी प्रतीक्षा में जमीन पर बैठे-बैठे सारी रात गुज़ार दी। किन्तु सात साल बाद आपकी पहली पत्नी का निस्सन्तान अवस्था में ही देहान्त हो गया। १६३५ में आपका दूसरा विवाह कानपुर में श्री इन्द्राणी देवी से हुआ।

तरुणावस्था से ही आप साहसी हैं। आपके साहस की भी एक बार कड़ी परीक्षा हुई। १६२३ में आप पहली बार कलकत्ता गए। इस समय आप युवावस्था में पग रख चुके थे। वहाँ एक मास रह कर कलकत्ता में भ्रमण किया। यहाँ रहते हुए ही आपने शिवनारायण सम्प्रदाय के एक गुरू से रविदास-पंथ की दीक्षा ली। कलकत्ते से जब आप वापस लौटने लगे तब आपको बड़े भाई ने ५०० रुपये के नोट दिए और कहा इसको अपने पास रखो और जब अत्यन्त आवश्यकता पड़े तब इसमें से खर्च करना। घर आने पर आपने उसमें से २० रुपये ले लिए और शेष को रजत मुद्राओं में बदल कर हाँडी में बाँधकर बैठकखाने के कमरे के अन्दर ज़मीन में गाड़ दिया। एक मास बाद अचानक गाँव के अन्दर भयंकर बाढ़ आई। बाढ़ भी आधी रात के समय आई। जब आप की नींद खुली उस समय दरवाज़े तक बाढ़ का पानी आ चुका था। मुहल्ले वालों की सहायता से सामान निकालने और सुरक्षित स्थान पर पहुँचने में सफल हुए। पानी बराबर बढ़ रहा था। सब के सुरक्षित स्थान पर पहुँचने के बाद आप को ज़मीन में गड़े रुपयों का स्मरण आया। पानी उस समय बहुत चढ़ आया था। पर आपने हिम्मत नहीं हारी। बाढ़ के बढ़ते पानी की परवाह न कर आप रुपया निकाल ले आये और वह अपनी माँ को सौंप दिया। आप के घर से निकलने के कुछ मिनटों बाद मकान ढह कर गिर पड़ा। आधी रात के बाद पानी कम होने लगा। सुबह होने पर जब आपने अपने मकान की ओर नज़र दौड़ाई तो देखा कि वह भूमिसात हुआ पड़ा है। मकान


PHOTO G. VUARCHEX • Tél. 22500 • GENEVE



माता श्रीमती बासंतीदेवी



श्री जगजीवन राम की माता श्रीमती वसंती देवी, पुत्र सुरेश और पुत्री मीरा के साथ



श्री जगजीवन राम जी की धर्मपत्नी श्रीमती इन्द्राणी देवी, पुत्र सुरेश कुमार और पुत्री मीरा रानी के साथ

के मलबे तक को पानी बहा ले गया था। इस समय आपके मन की कैसी अवस्था हुई होगी, इसकी सहज में कल्पना की जा सकती है।

इस घटना के तीन साल बाद की बात है। १६२६ के मई महीने में महामना मालवीय जी आरा आए। वृहद सार्वजनिक सभा में उनको अभिनन्दन पत्र दिया गया। उसको आपने पढ़ा था। महामना मालवीय जी इससे बहुत प्रसन्न हुए। आपको महामना मालवीय जी ने अपने पास बुलाया और कहा की प्रवेशिका (इंट्रेन्स) परीक्षा पास कर हिन्दू-विश्व-विद्यालय में पढ़ने आना, वहाँ पढ़ाई की सारी व्यवस्था हो जायगी। १६२६ में आप ने प्रवेशिका परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। गणित में आप को शत-प्रतिशत अंक मिले थे। इससे उत्साहित हो, और महामना मालवीय जी के वचन को याद कर आप हिन्दू विश्वविद्यालय गए। १६२८ में वहाँ से आई० एस० सी० पास की। किन्तु वहाँ का वातावरण आपको संकुचित एवं संकीर्ण प्रतीत हुआ। पुनः आप कलकत्ता चले गए। वहाँ रहते हुए आप ने १६३० में बी० एस० सी० की परीक्षा पास की।

आपकी इच्छा नौकरी करने की नहीं थी। किन्तु भाई के आग्रह पर आपने आबकारी विभाग के इन्स्पेक्टरी के लिए प्रार्थनापत्र दे दिया। जिस दिन आपको वहाँ नौकरी पर जाना था, उसी दिन आप अस्वस्थ हो गए। रोग बढ़ा और निमोनिया में बदल गया। इसमें कई सप्ताह लग गए और उधर बहाली की तिथि टल गई। देशबन्धु दास, अरविन्द घोष तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के समान इस घटना के कारण आपके जीवन का प्रवाह भी बदल गया और अब आप ने सब दिशाओं से मुख मोड़ कर दलित जाति की सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग करने का निश्चय कर लिया।

छात्रावस्था में ही आप दलित जाति की सेवा में लग गये थे और आपने रविदास सभा का संगठन किया था। कांग्रेस के कार्यों में भी आप कुछ-कुछ हिस्सा लेने लगे। १६३२ में आप कलकत्ता से अपने गाँव आये हुए थे। इस समय गाँधी जी ने अपना अनशन व्रत किया था और उसके बाद अछूतोद्धार आन्दोलन आरम्भ हुआ था। अस्पृश्यता निवारण संघ (जो पीछे चलकर हरिजन सेवक-संघ के नाम में परिवर्त्तित हुआ) की स्थापना भी हो चुकी थी। बिहार में इस कार्य का सूत्रपात करने के लिए सूर्यपुरा के राजा श्री राधिकारमण प्रसाद सिंह की अध्यक्षता में एक सभा हुई। सवर्ण हिन्दू अस्पृश्यता के कलंक का सर्वथा अन्त करने को उत्सुक थे। वे देख चुके थे कि 'मैक्डानल्ड निर्णय' किस प्रकार इसकी आड़ लेकर हिन्दू समाज से लगभग एक चौथाई को काट कर अलग कर देना चाहता था। यदि गांधी जी यरवदा जेल के आम्र वृक्ष के नीचे अपने प्राणों की बाज़ी न लगा देते तो 'मैक्डानल्ड-निर्णय' देने वालों के मनोरथों के पूरा होने में क्या सन्देह रह गया था। इस कारण हिन्दू इस कलंक को मिटाने के लिए कुछ न कुछ करने को व्यग्र थे। यह सभा पटना के अन्दर 'अंजुमन इस्लामियाँ हाल' में हुई थी, श्री जगजीवन राम को भी बुलाया गया था। कलकत्ते में रहने के कारण कलकत्ते और बंगाल के नेताओं में इनका परिचय तो था, पर यह पहला

अवसर था जब आप बिहार के प्रान्त भर के नेताओं के सामने आये और आपकी योग्यता एवं शक्ति तथा प्रभाव को सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया गया । २५ वर्ष के युवक को सहसा इस प्रकार का सम्मान मिले तो उसकी क्या अवस्था होगी ! आपने इस अवसर का पूरा लाभ उठाया । युवकोचित-व्यग्रता और आवेश आपके भाषण में था । राजेन्द्रबाबू आपकी तरफ आकृष्ट हुए, आपकी भावना की क़द्र की गई । 'सर्वेण्ट्स ऑफ दी अन टचेबुल सोसाइटी' के संगठन-कर्त्ताओं ने आपकी सेवाओं से लाभ उठाया । यह संस्था 'बिहार हरिजन सेवक संघ' में विलीन हो गई और आप भी इसके एक मंत्री चुने गए । मंत्री की हैसियत से आप अपने काम में जुट गए । गाँवों में हरिजनों के लिए आपने कुएँ खुदवाए । हरिजन बालकों के लिए पाठशालाओं की स्थापना की । आप को ६५) मासिक इस कार्य से मिलते थे । इसको भी आप इसी कार्य में लगा देते थे । १६३४ में भूकम्प आया । गांधी जी भी इस अवसर पर बिहार आए । आपने प्रथम बार इसी मौके पर गांधी जी के दर्शन किए और उस दौरे में बराबर गांधी जी के साथ रहे । इसी वर्ष आप रविदास महासभा के मुंगेर अधिवेशन के सभापति चुने गए । यश की सीढ़ियों पर आप उत्तरोत्तर चढ़ते जा रहे थे । किन्तु उस समय भी किसी की कल्पना इतनी दूर नहीं पहुँची थी कि आप एक दिन स्वाधीन भारत के मंत्री भी बनेंगे ।

राजनीति ने भी युवक-हृदय को अपनी ओर खींचा । वहाँ एक बाधा भी थी । कांग्रेस में सभी विचारों के व्यक्ति थे । सामाजिक विचारों में वहाँ भी दकियानूसी है । जाति-भेद, वर्ण-भेद का संकीर्ण विचार उनमें से भी अनेकों के मन में व्याप्त है । कट्टरता से युद्ध करते हुए उनसे भी युद्ध करना अनिवार्य है यह अपको पहले ही दिन पता चल गया । दूसरी ओर आपने देखा कि जहाँ तक नेता मंडल का प्रश्न है, उससे आप का कोई मतभेद नहीं । वह सामाजिक उन्नति का पक्षपाती है । किन्तु वह समाज को छिन्न-भिन्न करके नहीं, बल्कि समाज का हृदय और मन एवं उसके विचार बदल कर वह यह क्रान्ति करना चाहता है । जगजीवन राम की ठोस सत्य और वास्तविकता को देखने वाली बुद्धि को अपना मार्ग चुनने में देर न लगी । कांग्रेस के प्रति अविचल भक्ति एवं निष्ठा रखते हुए धार्मिक कट्टरता तथा सामाजिक विषमता और आर्थिक पराधीनता से किस प्रकार लड़ा जा सकता है, इसका सरल मार्ग आपने ढूँढ़ लिया । यही कारण है कि दलितों की सेवा करते हुए भी आप कांग्रेस के चोटी के नेताओं के विश्वासपात्र बने रहे ।

कानपुर १६३५ में अखिल भारतीय दलित जातीय नेताओं का एक विराट् सम्मेलन हुआ । आप भी इसमें सम्मिलित हुए । यही नहीं आप इसके संयोजकों में से एक थे । इस सम्मेलन का उद्देश्य था दलित जातियों की केवल एक संस्था स्थापित करना । किन्तु यह सम्मेलन सारे देश के लिए एक संगठन की नींव डालने में सफल न हो सका । राष्ट्रवादी हरिजनों ने 'अखिल-भारतीय-दलित-जाति संघ' (All India Deppressed Classes League) की स्थापना की । इस नए संगठन के आप प्रधान मन्त्री चुने गए । इसी वर्ष इसकी बिहार शाखा के आप अध्यक्ष चुने गये । आपके स्फूर्तिमय एवं प्रेरणादायी नेतृत्व ने इस संगठन को बल तथा दृढ़ता प्रदान की । आपके स्वभाव के माधुर्य और आपकी लोक-संग्राहक वृत्ति ने देश-भर के कार्यकर्त्ताओं को एकत्रित करने और

इस संस्था को बलवान बनाने के लिए उनको इस कार्य में प्रवृत्त करने में सहायक हुई। इसका पहला अधिवेशन लखनऊ में आपकी ही अध्यक्षता में हुआ और इसका उद्घाटन गांधी जी ने किया।

इण्डिया एक्ट १६३५ के अनुसार देश के अन्दर प्रान्तीय असेम्बलियों का चुनाव १६३७ में हुआ। कांग्रेस ने यह निर्वाचन-संग्राम लड़ने का निश्चय किया। हरिजनों के लिए स्थान सुरक्षित रखे गए थे। श्री जगजीवन राम की कार्य-कुशलता इस समय देखने में आई। बिहार में हरिजनों के लिए सुरक्षित एक भी सीट कांग्रेस ने नहीं खोई। परन्तु आपकी इससे भी बड़ी तथा कठोर परीक्षा होनी अभी शेष थी। कांग्रेस ने सरकार की ओर से यह आश्वासन न मिलने तक कि गवर्नर दिन-प्रतिदिन तथा रोज़मर्रा के शासन-कार्यों में हस्तक्षेप न करेंगे, मंत्रिमंडल बनाने और शासन-सूत्र लेने से इंकार कर दिया। बिहार में सरकार ने कठपुतली मन्त्रिमंडल बनाने का यत्न किया। श्री यूनुस मुख्य सचिव बनाए गए। इस मंत्रिमंडल में आपको भी एक मन्त्री बनाने और कांग्रेस पार्टी से आपको फोड़ने का यत्न किया गया। मंत्रित्व के अतिरिक्त धन का प्रलोभन भी दिया गया और दबाव भी। लेकिन जिन लोगों ने श्री जगजीवन राम को ललचाया उनको इस व्यक्ति के दृढ़ चरित्र और उसकी गहरी राष्ट्रभक्ति का परिचय न था। उनका विचार था कि गाँव में पला, समाज के अत्याचारों से त्रस्त समाज का एक शिक्षित तथा महत्त्वाकांक्षी युवक और नहीं तो प्रतिहिंसा की भावना से ही उनका साथ देगा और विदेशी शासन को मज़बूत बनाने में सहायक होगा, किन्तु जगजीवन राम जो सन्त-परम्परा और ईश्वर-भक्ति की लोरियों में पला था—इस प्रबल लोभ के शिकार न हुए और उन्होंने देशद्रोह और समाजद्रोह करने से इन्कार कर दिया। गांधी जी, सरदार पटेल, राजेंद्रप्रसाद आदि नेताओं ने उनकी इस दृढ़ता पर बधाई के सन्देश भेजे।

कुछ दिनों बाद कांग्रेस मंत्रिमण्डल बने। आपको, आपकी राष्ट्र-भक्ति का पुरस्कार पार्लमेंटरी सेक्रेटरी की नियुक्ति के रूप में मिला। यदि आपकी आयु कम न होती और आप जेल हो आए होते तो आपके मंत्री होने में कोई सन्देह नहीं था। विकास और शिक्षा-विभाग के वे पार्लमेण्ट्री सेक्रेटरी बनाए गए थे। आपने इस पद पर रहते हुए हरिजनों की स्थिति सुधारने की ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया। स्कूलों और कालेजों में हरिजन छात्रों की फीस माफ़ कर दी गई। पुलिस में हरिजन लिए जाने लगे। हरिजनों को विद्याध्ययन में प्रवृत्त करने के लिए छात्रवृत्तियाँ दी गईं। पार्लमेण्ट्री सेक्रेटरी के नाते बिहार असेम्बली में आपने जो भाषण दिए उससे आपकी योग्यता की छाप सब पर बैठ गई। विरोधियों को निरुत्तर करने के लिए आप जिस प्रकार तथ्यों तथा आँकड़ों को सँजोते थे, कि वे दंग रह जाते थे। आप जब बोलते थे सप्रमाण और साधार बोलते थे। आप दिल को नहीं दिमाग़ को अपील करते थे। इस समय का अनुभव आपको भविष्य में बड़ा लाभप्रद सिद्ध हुआ।

सितम्बर १६३६ में महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। भारत से सलाह लिए बग़ैर गवर्नमेंट ने भारत की ओर से युद्ध घोषणा कर दी। भारतीय जनता युद्ध से अपने को अलि.. रखना चाहती थी। ब्रिटिश सरकार को कांग्रेस युद्ध में सहयोग देने के लिए तैयार थी, यदि वह तत्काल देश में उत्तर-दायी शासन की स्थापना करना स्वीकार कर ले। ब्रिटिश सरकार का जवाब नकारात्मक था। कांग्रेसी

मंत्रिमंडलों ने इस्तीफा दे दिया और देश के आठ प्रांतों में 'आर्डीनेन्स-राज्य या गवर्नर-राज्य, स्थापित हो गया। आपने भी कांग्रेस का आदेश सिर-माथे पर रखा। शासन-भार से मुक्त होने पर आप बिहार प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी के मंत्री बहुमत से चुने गये और १६४६ तक इस पद पर रहे। १६४० में गांधी जी ने वैयक्तिक सत्याग्रह आरम्भ किया। आप भी इसमें सम्मिलित हुए। इस समय आपकी पत्नी की गोद में ढाई वर्ष का पुत्र था। किन्तु आपने स्वातंत्र्य-युद्ध से इस समय मुख मोड़ना कायरता माना। यह आपकी पहली जेल-यात्रा थी। सितम्बर १६४१ में जेल से रिहा होने पर कांग्रेस तथा दलित-जातियों के संगठन-कार्य में जुट गए।

अगस्त १६४२ आया। गाँधी जी का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। कांग्रेस महासमिति के बम्बई अधिवेशन में सम्मिलित होने के बाद आप पटना वापस आ रहे थे। मार्ग में ही गिरफ्तारियाँ हो रही थीं, पर आप पटना पहुँच ही गये। दस दिन तक आन्दोलन का संचालन पटने में करते रहे। अमेरिकन सैनिकों के वहाँ पहुँचने के बाद इन्हें गिरफ्तार किया गया और हज़ारीबाग जेल भेज दिए गए। अक्तूबर १६४३ में अत्यधिक रुग्णावस्था में आप जेल से छोड़ दिये गये। आपको इस समय चौबीसों घण्टे बुखार रहता था। गर्दन में भी दर्द रहता था। जुलाई १६४४ में इस बीमारी से मुक्त हो सके। स्वस्थ होने पर आपने भारत के विभिन्न प्रान्तों का दौरा किया। दलित-जाति-संघ का अधिवेशन आपकी अध्यक्षता में कानपुर में होने वाला था। किन्तु सरकार इसके नाम से ही चौंक पड़ी और उसने इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

स्व० श्री भूलाभाई देसाई के प्रयत्नों से काँग्रेस कार्यसमिति के सदस्य रिहा कर दिए गए। यूरोप में युद्ध समाप्त हो चुका था। चर्चिल-गवर्नमेंट की जगह ब्रिटेन में एटली-गवर्नमेंट ने स्थान ले लिया था। फलतः भारत में लार्ड वेवल ने भी कांग्रेस और लीग के नेताओं को शिमला में बुलाया। काँग्रेस और लीग के बीच ५० : ५० के आधार पर चल रही बातचीत को आपने शंका की दृष्टि से देखा। आप साम्प्रदायिकता से जहाँ समझौता कराने के विरोधी थे वहाँ दलित जातियों की उपेक्षा कर मुस्लिम-लीग को कांग्रेस के समान मानने के भी विरोधी थे। इस समय आपने अपने विचारों को जिस दृढ़ता, किन्तु विनम्रता एवं शालीनता के साथ प्रकट किया उसने आपके स्वतंत्र व्यक्तित्व की छाप सब पर बिठा दी। पूना-पैक्ट के सम्बन्ध में गांधी जी द्वारा दिये गये एक वक्तव्य का भी आपने प्रकट रूप से विरोध किया। उनकी इस दृढ़ता ने सबको चकित कर दिया। उनका यह स्वतंत्र रूप अभी तक अप्रकट ही था। इससे उनके सहयोगियों को विदित हो गया कि यह युवक सिद्धांत को व्यक्ति से ऊँचा मानता है, और वैयक्तिक श्रद्धा एवं भक्ति भी उसको सिद्धान्त के साथ समझौता करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकती। वे समय आने पर कठोर सत्य कहने से भी नहीं चूकते तथा सम्भावित कष्ट उनको उनके निर्दिष्ट पथ से डिगा भी नहीं सकते। रुपये की अपेक्षा भी कीर्त्ति और यश की इच्छा बलवती होती है और अनेक बार व्यक्ति इस विचार से अपने सिद्धांतों का भी परित्याग कर देते हैं। किन्तु आपने बता दिया कि आप इस श्रेणी के व्यक्ति नहीं, और अपने अंगीकृत सिद्धान्तों और आदर्शों के लिए बड़े से बड़ा कष्ट सहने को सहर्ष प्रस्तुत हैं।



श्री जगजीवन राम जी के ज्येष्ठ भ्राता श्री सन्तलाल जी और माता जी

शिमला-वार्ता असफल रही। १९४६ में प्रान्तीय व केन्द्रीय असेम्बलियों का चुनाव हुआ। चुनाव में जहाँ अनेक प्रश्न थे, वहाँ एक यह भी प्रश्न था कि क्या हरिजनों के हित की प्रवक्ता कांग्रेस है! डॉ० अम्बेडकर दलित जातियों का एकमात्र रक्षक अपने को मानते थे और उनका कहना था कि 'शीड्यूल कास्ट फेडरेशन' ही भारत के हरिजनों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था है। कांग्रेस और दलित-जाति-संघ ने उनके इस दावे को चुनौती दी। श्री जगजीवन राम का नेतृत्व, संगठन-कौशल तथा उनकी कार्यक्षमता खूब चमकी। १९४६ के निर्वाचन परिणाम ने डॉ० अम्बेडकर के दावे को प्रातः-काल के कोहरे के समान छिन्न-भिन्न कर दिया। ब्रिटिश मंत्रिमण्डल मिशन के पास अब कोई उपाय ऐसा शेष नहीं रहा था, जिसके बल पर वह कह सके कि हरिजनों के वास्तविक प्रतिनिधि डॉ० अम्बेडकर हैं। दलित जातियों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था दलित जातीय संघ के सभापति की हैसियत से इन्हें 'कैबिनेट मिशन' के समक्ष बुलाया गया। इस समय पहली बार श्री जगजीवनराम दलित-जातियों के अखिल भारतीय नेता के रूप में रंग-मंच पर आए। कांग्रेस को आपके रूप में डॉ० अम्बेडकर का जवाब मिल गया। भारतीय राजनीति में यह घटना श्री जगजीवन राम के वैयक्तिक उत्कर्ष की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि वैसे भी यह घटना महत्त्वपूर्ण है। भारतीय समाज का संगठन छिन्न-भिन्न होने से बच गया।

१९४६ में श्री नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने अंतरिम मन्त्रिमण्डल बनाया। 'कांग्रेस हाईकमांड' ने इस समय आपकी सेवाओं और योग्यता को भुलाया नहीं। यद्यपि आपकी उम्र इस समय केवल ३८ साल की थी फिर भी आपको श्रम-मन्त्री बनाया गया। जब भारत के स्वाधीन होने पर पहला राष्ट्रीय मंत्रिमण्डल बनाया गया, तो पुनः आप श्रममंत्री बनाए गए। स्वाधीन भारत का प्रथम श्रम-मंत्री होने का गौरव इन्हें मिला। अप्रैल १९५२ तक आप इस पद पर रहे। इन छः वर्षों में श्रमिकों की अवस्था सुधारने, उनको उनके अधिकार दिलाने और भारतीय श्रमिकों का विश्व के श्रमिकों के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए आपने जिस तत्परता और लगन से काम किया उसकी प्रत्येक ने प्रशंसा की। पार्लियामेंट में कभी आप असावधान और अनुद्यत नहीं पाए गए। अकेले आपने जितने बिल पार्लमेण्ट में पेश किए, उतने शायद ही किसी अन्य मन्त्री ने पेश किए और पास कराये। इनके श्रम मंत्रित्वकाल में जितने कानून बने शायद ही किसी देश में उतने कम समय में इतने कानून बने होंगे।

श्रमिकों की स्थिति सुधारने के लिए आपने सर्वप्रथम 'फैक्टरी एक्ट' में महत्त्वपूर्ण संशोधन कराए और इसका क्षेत्र विस्तृत किया। न्यूनतम मज़दूरी देने का कानून बनाया। यह खेतीहर मज़दूरों पर भी लागू हो सके इसके लिए खेतीहर मज़दूरों की आर्थिक स्थिति की जांच कराई। मिल-मालिकों और मज़दूरों के बीच होने वाले झगड़ों को निपटाने के लिए ट्रिब्यूनल की स्थापना की। जिन कारखानों में ५०० या इससे अधिक मज़दूर काम करते हों, उसमें श्रमिकों के हितों की रक्षा और उनकी सुख-सुविधाओं की देख-भाल के लिए 'वेलफेयर अफसर' की नियुक्ति करना आपने कानूनन आवश्यक कर दिया।

भारत का ध्येय 'पितृ-राज्य' (वेलफेयर स्टेट) स्थापित करना है। इस दिशा में आपके प्रयत्न से पहला छोटा क़दम रखा गया, जब भारत के कुछ चुने हुए संगठित उद्योगों में मज़दूरों को 'एम्प्लाईज़ स्टेट इंशुरेन्स एक्ट (सेवा नियुक्ति राज्य-बीमा अधिनियम) के अंतर्गत सामाजिक सुरक्षा का पहला लाभ प्राप्त हुआ। यह कानून अभी २५ लाख मज़दूरों पर ही लागू हुआ है। इससे मज़दूरों को स्वास्थ्य-बीमा, प्रसूति एवं बीमारी के काल में सुरक्षा तथा चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

आप कोई उद्योग किसी वर्ग विशेष की बपौती नहीं मानते। आपकी मान्यता है कि मिल पर मिल मालिकों के समान मज़दूरों का भी अधिकार है, और मिल तथा कारखाना दोनों की साझेदारी से चलना चाहिए। 'दि इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट' [औद्योगिक विवाद अधिनियम] आपके इन विचारों का ही परिणाम है। इस कानून के अंतर्गत मालिकों और मज़दूरों के प्रतिनिधियों की एक कार्य-समिति बनाई जाती है, जोकि मिल के अन्दर रोज़मर्रा होने वाले झगड़ों का फैसला करती है। आपका सदा इस बात का प्रयत्न रहा है कि मिल-मालिक और मज़दूर दोनों अपने सामने राष्ट्रीय हित को सदा रखें और अपने तुच्छ वैयक्तिक तथा सामूहिक हितों के ऊपर सार्वजनिक हित को स्थान दें। आप यह कभी नहीं चाहते कि औद्योगिक उत्पादन में औद्योगिक झगड़ों के कारण किसी प्रकार की बाधा आवे। इसलिए आपका सदा प्रयत्न रहा है कि दोनों सदा राष्ट्र हित को सर्वोपरि रखें और दोनों मिल कर कार्य करें। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि मज़दूरों को जीवन-निर्वाह योग्य वेतन न मिले, उनके बच्चे अशिक्षित रहें, और वे अस्वास्थ्यकर अँधेरी कोठरियों में रहें। मज़दूर स्वास्थ्यकर, हवादार तथा सुन्दर घरों में रहें, इसके लिए आपने बड़े पैमाने पर घर बनाने की योजना बनाई थी और इसके अनुसार लाखों की संख्या में घर बन चुके हैं और अभी बन रहे हैं।

चाय बागों में काम करने वाले मज़दूरों के साथ भी 'न्यूनतम वेतन' का नियम लागू हो, इसके लिए आपको भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा। अन्त में आप का यह प्रयत्न सफल हुआ। १९४७ में आप प्रथमबार इस देश से बाहर गये और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम परिषद जेनेवा के अधिवेशन में भारत सरकार के प्रतिनिधि-मंडल के नेता के रूप में सम्मिलित हुए। १९५० में पुनः जेनेवा गए और इस बार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-परिषद ने आपको सर्व सम्मति से उस अधिवेशन का अध्यक्ष निर्वाचित किया। परिषद के अध्यक्ष के नाते आप ने जो भाषण दिया था वह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। खेतीहर मज़दूरों की समस्या आप का एक प्रिय विषय रहा है। १९३७ से उनके संगठन की ओर आप का ध्यान है। इस अवसर पर भी आप ने उनको भुलाया नहीं।

१९४७ में जब आप जेनेवा से वापस लौट रहे थे, तब आप भारत लौटते हुए बसरा में हवाई दुर्घटना की झपेट में आ गए। रात भर गरम-गरम बालू पर तड़पते और छटपटाते हुए पड़े रहे। दाहिना पैर टूटे हुए हवाई जहाज़ में फँस गया था। उसको निकालते हुए आप के घुटने की हड्डी टूट गई। घुटने में लकड़ी का एक पैना घुस गया था और वहाँ से खून की धारा बह रही थी। दो पसलियाँ टूट गई थीं। शरीर का ऐसा कोई भाग न था, जहाँ आपको चोट न लगी

हो। इस पर भाड़ के समान गरम रेत बिछौना बनी हुई थी। प्यास बुझाने के लिए पानी नहीं था। एक साथी की मेहरबानी से पानी की कुछ बूँदे मिल जाती थीं। मृत्यु जब सिर पर मँडरा रही थी, जीवन का कुछ भरोसा नहीं था, उस समय इन पानी की बूँदों ने ही अमृत का काम किया। आपका यश आप से पहले ही यहाँ पहुँच चुका था। जब बसरा के नागरिकों को ज्ञात हुआ कि हवाई दुर्घटना में भारत के श्रम-मंत्री भी हैं, तो एक हज़ार नागरिकों ने बसरा अस्पताल के अधिकारियों को उनके लिये अपना खून देने की तैयारी दिखाई। परन्तु इसकी आवश्यकता नहीं पड़ी। पन्द्रह दिन वहाँ रहे, फिर दो मास विलिंगडन अस्पताल में रहे। टूटी टाँग जुड़ गई, पर यह हवाई-दुर्घटना आपके शरीर पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ गई और आज भी आप का दाहिना पैर पूरी तरह सीधा नहीं मुड़ सकता। आप और आपका परिवार स्वर्गीय डॉ० भार्गव को कभी नहीं भूल सकता जिनकी सेवा के फलस्वरूप आप पुनः देश-सेवा के योग्य हो सके।

श्रमिकों के अधिकारों के वे एक सतर्क रक्षक और सावधान प्रहरी हैं। श्रमिकों को सरकारी सहायता की आवश्यकता क्यों है, यह बताते हुए आपने लिखा था :

'हम उन श्रमिकों को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते जो संगठित नहीं, जो अपने पाँव पर खड़े होने के बारे में सोच भी नहीं सकते; जो इस स्थिति में नहीं कि अपनी माँगें, तथा शिकायतें मालिकों, जनता तथा सरकार के सामने रख सकें। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि सरकार उनकी सहायता के लिए उनके पास जाय, और जब उनके तथा उनके मालिकों के बीच कोई झगड़ा हो, तब उनके पारिश्रमिक एवं उनके काम की अवस्थाओं को सुधारने का प्रयत्न करे। यदि मैं इसे और स्पष्ट शब्दों में कहूँ तो कहना होगा कि श्रमिकों की बहुत बड़ी संख्या खानों, चाय-बागानों तथा इससे भी अधिक खेती के काम के लिए इस देश में लाखों गाँवों में नियुक्त हैं। अशिक्षा, अज्ञान तथा कमज़ोरी के शिकार होने के कारण इन श्रमिकों की अवस्था अत्यन्त असन्तोषप्रद है।'

पददलित और शोषित मानवता के अधिकारों के लिए निरन्तर संघर्ष करने वाले वे वीर योद्धा हैं। वे राजनीतिक स्वाधीनता पाकर प्रसन्न होने वाले नहीं। उनकी पुकार है :

'यद्यपि १५ अगस्त के बाद हमें राजनीतिक आज़ादी मिल गई है, तथापि अभी तक हमने आर्थिक आज़ादी नहीं प्राप्त की। वास्तविक आज़ादी है ग़रीबी तथा अशिक्षा को दूर करना तथा देश के लाखों मेहनतकशों को उचित सुख-सुविधाएँ, रहन-सहन की स्वस्थ अवस्था तथा कम से कम दो वक्त पेट भर भोजन देने का आश्वासन देना। किन्तु यह तभी हो सकता है, जबकि श्रम और पूँजी दोनों आपस में भाई-बहिन की तरह बर्त्ताव करें और पूँजी श्रम की कठिनाइयों को पहिचाने तथा थोड़े से लोगों के हाथों में धन का एकत्र होना रोका जाय।'

मुट्ठी भर लोगों के हाथों में समाज का सारा धन एकत्रित न हो, इसी विचार से आप उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने के पक्षपाती हैं। नागरिक हवाई उड्डयन का राष्ट्रीयकरण इसी प्रेरणा

से आप कर रहे हैं। संवाद व संचार के साधनों पर किसी एक व्यक्ति का नहीं, राष्ट्र का अधिकार होना चाहिये, यह भावना ही इसके राष्ट्रीयकरण की प्रेरक कारण है।

जो भूमि को जोतता है वह ही उस ज़मीन का मालिक होना चाहिए। आप इस सिद्धान्त को मानते हैं। इस प्रसंग में आपके निम्न विचार ध्यान देने योग्य हैं :

'जिनकी जीविका का मुख्य साधन खेती करना न हो, तथा जिन्हें खेतों में स्वयं काम करने में किसी प्रकार की झिझक हो उनके अधिकार में सूत भर भी ज़मीन न रहनी चाहिए। उन्हें भी ज़मीन से हटा देना चाहिए जो हल जोतने या खेत में अन्य काम करने में अपनी हेठी समझते हैं और अपनी प्रतिष्ठा और जात्याभिमान के विपरीत मानते हैं। ज़मीन की पैदावार बढ़ाने तथा मानवीय-श्रम का समुचित उपयोग करने के लिये सामूहिक या सहयोगिक खेती की व्यवस्था करने पर भी इस बात का ध्यान रखा जाय कि ऐसे व्यक्ति को ज़मीन न दी जाये जिसके परिवार के लिये खेती के सिवाय आजीविका के लिए और कोई धंधा हो। जिस परिवार की जीविका और पेट पालने का और कोई साधन तथा सहारा हो उसका ज़मीन पर किसी भी रूप और हालत में हक न होना चाहिए। जो खुद अपने हाथ से खेती करता हो, बस उसका ही ज़मीन पर अधिकार हो। यह होने पर जहाँ ज़मीन पर आवश्यकता से अधिक लोगों को पालने का भार न होगा, वहाँ खेत में परिश्रम करने वाला भी सुखी, सम्पन्न एवं ज्ञानवान होगा।'

केन्द्रीय मंत्रि-मण्डल में आज आप संचार साधन विभाग के मन्त्री हैं और मन्त्रि-मण्डल में आप ही सबसे अल्प-वयस्क हैं। किन्तु अल्प समय में ही इन महान सफलताओं से आपके जीवनरथ के पहिये रुक नहीं गये हैं, तीव्रगति से राष्ट्र-निर्माण के जटिल मार्ग पर गतिशील हैं। साधारणतया सफलताएँ व्यक्ति को दम्भी बना देती हैं किन्तु आप इसके अपवाद हैं, क्योंकि इन सफलताओं को जीवन की परम सिद्धि नहीं मानते। आपके लिए तो ये नव-मानव के निर्माण के स्वप्न को साकार करने वाली पूर्व-पीठिकाएँ मात्र हैं। इसीलिये आप आज भी संघर्षशील और क्रियाशील हैं—इन्सानियत के महान स्वप्न की पूर्ति के लिए।

नीति-शास्त्र के पाश्चात्य विद्वान मेकेन्जी का कहना है, 'श्रेष्ठ चित्रकार वह है जो सुन्दर चित्र बना सकता है, पर श्रेष्ठ मनुष्य वह नहीं जो उचित कार्य कर सकता है, बल्कि वह है जो उचित कार्य करता है। श्रेष्ठता कोई योग्यता नहीं है, बल्कि वह तो सतत क्रियाशीलता है।'

श्री जगजीवन राम के अनवरत क्रियाशील व्यक्तित्व की श्रेष्ठता भी इसीलिए है कि वे भविष्य के निर्माण के लिए क्रियाशील वर्तमान के सजीव प्रतीक हैं।



श्री जगजीवन राम—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन के अध्यक्ष (जून. १९५०)



स्विटज़रलैण्ड में श्री जगजीवन राम (जन. १६५०)

श्री जगजीवन राम के स्फुट विचार

'जब तक भूल-चूक के पुराने पापों का नाम निशान मिटा कर नया अध्याय शुरू नहीं किया जाता तब तक कोई भी लोकप्रिय सरकार संतोष की साँस नहीं ले सकती ।'

'मज़दूर वर्ग में उन मज़दूरों की संख्या सबसे ज्यादा है जो कि खेतों पर काम करते हैं। लेकिन हमारे लिये शर्म की बात है कि वही सब से अधिक पद-दलित हैं, उन्हीं पर काम का बोझ सबसे अधिक पड़ता है और उन्हें उस हद तक दबाया और शोषित किया जाता है जिसे कि आज के समाज में आदमी की प्रतिष्ठा के बिल्कुल खिलाफ समझा जाता है।'

'मज़दूर को खेत और कारखानों में प्रतिष्ठित करने तथा समाज में उचित स्थान दिलाने में ही वास्तविक स्वराज्य है। आओ! हम सब मिलकर उसके लिये कार्य करें और अपने स्वप्नों के भारत का निर्माण करें ।'

'साम्राज्यवादियों से सफल लड़ाई लड़ने वाले पण्डित नेहरू पूँजीपतियों से नहीं डरते। उन्होंने तो सिर्फ पूँजीपतियों को अपना सुधार करने के लिए समय दिया है ।'

'प्रजातन्त्र में किसी भी राजनीतिक दल को सरकार बदलने का हक है, लेकिन उसे यह हक नहीं कि वह अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये मज़दूरों को गुमराह करे ।'

'समाजवाद और साम्यवाद के अलावा गांधीवाद भी है, जिसने कि भारत को राजनीतिक आजादी दिलाई है और वह अब उसे आर्थिक स्मृद्धि भी दिलाएगा।'

'भारत सरकार की श्रमनीति का लक्ष्य ऐसे वर्गहीन समाज का निर्माण करना है जहाँ कि मज़दूर और पूँजीपति उद्योग में साझीदार समझे जा सकेंगे। लाभ का विभाजन खुद इसका लक्ष्य नहीं है बल्कि मनोवांछित लक्ष्य तक पहुँचने के लिये वह साधन मात्र है।'

'उत्पादन को बढ़ाये बगैर न तो मुद्रा-स्फीति को कुचला जा सकता है और न जीवन मान को ऊँचा उठाया जा सकता है ।'

'लाभ विभाजन का सिद्धान्त तो औद्योगिक प्रजातन्त्र की शुरूआत है। इसके लिये हम सब को मिल कर काम करना है ताकि हम सहकारी राष्ट्र-मण्डल बनाने की दिशा में अधिक प्रगति कर सकें क्योंकि यही तो हमारा लक्ष्य है ।'

'यदि सद्भावना से काम लिया जाय तो सभी विवादों में समझौता हो सकता है। मज़दूर धन्यवाद के पात्र हैं क्योंकि राजनीति दलों के गुमराह करने का प्रयत्न करने पर भी उनकी ओर से इस दिशा में अनुकूल प्रतिक्रिया हुई है ।'

'यदि आदमी के पास पैसा है तो वह दुश्चरित्र, नीच तथा स्वार्थी होने पर भी बड़ा आदमी समझा जाता है और आदर्श चरित्र होने पर भी एक मज़दूर का आदर नहीं किया जाता। लेकिन श्रम के बिना पूँजी का कोई महत्व नहीं ।'

'किसान और मज़दूर राष्ट्र की रीढ़ हैं।'

'वैयक्तिक सुधार गांधीवाद का सार है जिसे कि मार्क्सवाद स्वीकार नहीं करता।'

'अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बरती जाने वाली भारत की तटस्थता नीति का आधार गांधी जी के सिद्धान्त हैं। उन्हें अशिक्षा, शोषण, गरीबी तथा अभाव के विरुद्ध खड़ा होना चाहिये एवं इनसे भी ऊपर उन्हें सभी कीमत पर आजादी को कायम रखना चाहिये।'

'पर्याप्त उत्पादन के बिना राष्ट्रीयकरण के कोई अर्थ नहीं। जब तक उत्पादन को बढ़ाया नहीं जाता, मज़दूरी बढ़ाना व्यर्थ है, सिक्का सिर्फ विनिमय का एक साधन मात्र है, सम्पत्ति नहीं। मैं न तो साम्यवादी हूँ और न समाजवादी। मैं तो सिर्फ मनुष्य मात्र के गुणों पर विश्वास करता हूँ।'

'मज़दूर का मतलब केवल शारीरिक श्रम करने वालों से ही नहीं बल्कि दिमाग तथा कलम का काम करने वालों से भी है।'

'यदि कीमत और लाभ को स्थिर करना है तो मजूरी को भी स्थिर करना होगा।'

'राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने का मात्र उपाय यह है कि उस दिशा में सहकारिता की भावना तथा राष्ट्रीय हित की दृष्टि से प्रयत्न किया जाय।'

जगजीवन राम के स्फुट विचार

'सिर्फ आजादी प्राप्त करने से ही लोगों का उत्तरदायित्व समाप्त नहीं हो जाता।'

'यदि जीवन-मान को ऊपर नहीं उठाया गया तो हमारे देश की समृद्धि बढ़ नहीं सकती।'

'अकेले राष्ट्रीयकरण से हमारे मसले हल नहीं होंगे, राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ हमारे चरित्र में भी परिवर्तन आना जरूरी है, तभी हम जन-साधारण की भलाई के लिये काम करना सीख सकेंगे जिससे कि फिर एक दूसरे को शोषण करने का अवसर ही न मिल सके।'

'क्षमता विहीन राष्ट्रीयकरण से हमें कोई लाभ नहीं होगा।'

'सिर्फ आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी शोषण समाप्त होना चाहिये, क्योंकि उन सबका पारस्परिक सम्बन्ध है और वे एक दूसरे के साथ गुथे हुए हैं।'

'भारत सरकार ने प्रतिज्ञा की है कि वह श्रम के साथ न्याय करेगी। सरकार ने इस नीति का एलान किया है कि आजाद भारत में मेहनतकश अपनी मेहनत के फलों तथा उचित जीवन स्तर का उपभोग करेंगे।'

'श्रम को व्यापारिक वस्तु नहीं समझना चाहिये, और उसे भी नौकरी में मानवोचित अवस्थाओं को प्राप्त करने का हक है।'

'उद्योग में साझेदार होने के कारण श्रम को साझीदारी से होने वाले लाभ को प्राप्त करने का हक है, लेकिन उसे अपनी जिम्मेवारियों को भी पहचानना चाहिये।'

'गरीबी और अशिक्षा को दूर करने में तथा मेहनतकशों को उचित सुविधाएँ, रहन-सहन की स्वस्थ अवस्थाएँ एवं कम से कम दिन भर में दो बार पेटभर अन्न मुहय्या करने में ही वास्तविक आज़ादी है।'

'श्रम और पूँजी को आपस में छुड़वें भाइयों की तरह व्यवहार करना चाहिये।'

'राष्ट्रीय आयात में हरेक खेत और कारखाना घरेलू मोर्चे का एक अंग है तथा हरेक मज़दूर सिपाही है जिसकी जागरूकता मेहनत तथा ईमानदारी के काम पर ही ऊँची कीमतों तथा अभाव के खिलाफ़ लड़ी जाने वाली हमारी लड़ाई का भविष्य निर्भर है।'

'ज़मीन उन्हीं की है जो कि उस पर काम कर सकते हैं।'

'खेती-बाड़ी में होने वाले श्रम की स्थिति का दूसरे श्रम से मुकाबला करने के लिये भारत के रहने वाले को मार्क्स के पास जाने की जरूरत नहीं। खेती-बाड़ी में काम करने वाले मज़दूर की हालत उन जानवरों जैसी या उनसे भी बदतर है जो कि खेतों में हल चलाते हैं।'

'ऐसे औद्योगिक उपकरणों को जो कि अपने कामकरों के लिये रहन-सहन का उचित स्तर मुहय्या नहीं करते, जीवित रहने के लिये सामाजिक दावा करने का कोई हक नहीं।'

'कामकर सिर्फ तभी योग्य और जिम्मेवार बन सकते हैं जबकि उन्हें उचित प्रशिक्षण, अच्छी मजूरी, रहने के लिए उपयुक्त घर तथा पर्याप्त सामाजिक सेवाएँ प्रदान की जायें। असन्तुष्ट श्रमशक्ति व्यापार में लगाई गई सबसे बुरी पूँजी है।'

'हमारे पास अनुशासन, उपकरण, संगटन तथा उस चीज की कमी है जिसे कि अमरीकी लो 'किस तरह जानना चाहिये' कहते हैं।'

'एक बार हमारे अधिक उत्पादन कर लेने पर साधारण व्यक्ति को भी अवश्य अधिक मिलना चाहिये।'

'मज़दूर वर्ग पूँजीपतियों का सबसे अच्छा ग्राहक है। इसलिए यह नारा होना चाहिये 'इस वर्ग की क्रय शक्ति बढ़ाओ'।'

'श्रम या प्रबन्ध की सहायता के विना यह आशा नहीं की जा सकती कि सरकार खाली स्थान पर काम कर सकती है।'

'तब तक न तो युद्ध विराम सन्धि और न शान्ति ही हो सकती है जब तक कि विरोधी पक्ष किसी एक के लिए प्रयत्न न करें।'

'आज़ादी और खुद की हकूमत खुद आखिरी उद्देश्य नहीं है, बल्कि वे एक सुखी राज्य की स्थापना में प्रत्येक व्यक्ति को भय और अभाव से आजादी दिलाने के लिए साधन मात्र हैं।'

'जब तक कि मकानों की अवस्था आज जैसी ही रहेगी तब तक न तो सरकार समाज में और न कोई मालिक उद्योग में शान्ति की आशा कर सकता है।'

'राजनीतिक हथियार के रूप में की जाने वाली हड़तालों की असफलता निश्चित है और सरकार अपनी सारी शक्ति और साधनों को लगा कर उनका मुकाबला करेगी।'

'कोई भी सरकार ऐसी कार्रवाइयों को सहने के लिए तैयार नहीं जो कि उसे चुनौती देने तथा उसकी हकूमत को उलटने के लिए की गई हो, चाहे वह फिर श्रम के नाम पर कितनी ही प्रगतिशील क्यों न हो, श्रम को ऐसे असामाजिक तत्वों की कुयोजनाओं से अपने को बचाना चाहिये, चाहे वे तत्व फिर उसके अपने ही अन्दर के हों या बाहर के।'

'दस साल पहले कांग्रेसी नेताओं को किसी अंग्रेज की अपनी रसोई में खातिरदारी करने के बजाय जेल जाना ज्यादा आसान था।'

'हिन्दुधर्म तथा समाज के हित के लिए हिन्दूधर्म के कर्णधारों को चाहिये कि वे दुनियाँ को बतायें कि हिन्दू धर्म में संकीर्णता नहीं है।'

'यदि समाज का कोई अंग पददलित तथा पिछड़ा हुआ हो तो न तो कोई राष्ट्र या समाज शक्तिशाली बन सकता है और न वह दूसरे देशों के हमलों का ही मुकाबला कर सकता है।'

'हरिजन जनता राम और कृष्ण को किसी दूसरे हिन्दू से कम प्रेम नहीं करती और वह हिन्दू धर्म को छोड़ कर किसी अन्य धर्म में दीक्षित होने की किसी की भी सलाह को नहीं सुनेगी।'

'नेता वह है जो जनता को अपने साथ ले जाता है और जो यह देखता है कि जिस सिद्धांत का वह समर्थन करता है वह अमल में आ सकता है या नहीं।'

'कायरों को हर समाज में कुचला जायेगा किन्तु हरिजन कायर नहीं हैं।'

'किसी एक खास पार्टी के आदर्शों को मजबूत करने तथा फैलाने के लिये गरीब तथा आधे भूखे मजदूरों की अज्ञानता का फायदा उठाना एक अपराध है।'

'हिन्दू धर्म अगर शाश्वत नवीनता वाला धर्म नहीं, तो वह कुछ भी नहीं । अगर वह अपने को वर्तमान अवस्थाओं के अनुकूल नहीं बना सकता तो उसे जीवित रहने का कोई हक नहीं ।'

'उत्पादन और वितरण योजना के अनुसार होना चाहिये—इसे चाहे राष्ट्रीयकरण कहो या जो आपकी इच्छा हो वह नाम दो ।'

'यदि हिंदू समाज के ढाँचे के अन्तर्गत वाल्मीक, रैदासी या अन्य हरिजन नीच समझे जाते हैं तो यह उनका अपना दोष नहीं बल्कि ऊँची जाति वालों का दोष है । यह एक सामाजिक व्याधि है । यह उनके मुँह में नहीं रहती जिन्होंने गन्दा नाम देने के लिए उन्हें नीच काम करने को मजबूर किया है ।'

'हरिजनों ने अपने मौजूदा पेशों को इसलिये नहीं अपनाया कि वे सभी कामों को अच्छा समझते थे, बल्कि इसलिए अपनाया कि समाज ने उन्हें नीच पेशा स्वीकार करने के लिये मजबूर किया ।'

'भंगियों की मुक्ति इसी में है कि ऐसे समाज का निर्माण किया जाय जिसमें कि कोई मेहतर न हो ।'

'आर्थिक कारणों से सामाजिक ढाँचा टूटता जा रहा है और उच्च जाति के लोगों ने नाई, धोबी तथा मोची पेशे तक को सम्भालना शुरू कर दिया है । किन्तु उनमें से किसी ने भी भंगी का पेशा अपनाने का साहस नहीं किया ।'

'अस्पृश्यता की समस्या आर्थिक है, इसलिए उसे उसी विशेष दृष्टिकोण से सुलझाना चाहिये ।'

'सिर्फ पिछड़े हुए लोग ही जिन्हें कि यातना में और अज्ञानता तथा अन्धकार की मानवीय दासता में रखा जाता है, महात्मा गाँधी के राम-राज्य के स्वप्न को वास्तविक रूप दे सकते हैं ।'

'ऐसे वातावरण में जो कि पारस्परिक अविश्वास तथा संदेह से भरा हुआ है और जहाँ कि विरोधी विचारधाराएँ एक दूसरे के खिलाफ निर्दयतापूर्वक शीत युद्ध चला रही हैं, केवल भारत ही महात्मा गांधी के शांति और प्रेम के संदेश के जरिये इस दुःखी दुनिया में अमन चैन की स्थापना कर सकता है ।'

'प्रान्तीयता का नवीनतम भूत जहाँ भी अपना भद्दा सिर उठाये उसे तुरन्त ही कुचल देना चाहिये।'

'प्रजातन्त्र को चाहे व्हाइट हाल में पेटेण्ट किया गया हो, चाहे अमरीका में ताजा किया गया हो तथा चाहे रूस में विशुद्ध किया गया हो लेकिन वह एक विडम्बना है, छलना है—उसे वास्तविकता से कोई मतलब नहीं। किन्तु कांग्रेस ने जिस प्रजातन्त्र को अपनाया है और राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने जिसे हरा भरा किया है, वह भारत में शांति और समृद्धि के युग को लाने जा रहा है।'

'हमारी आजादी संसार की शांति के लिए गारण्टी होगी और हमारा नैतिक तथा भौतिक बल सदैव औचित्य तथा न्याय की ओर होगा।'

'एशियायी देश इस समय सार्वजनिक जागृति की जबरदस्त मंजिल से गुजर रहे हैं। उनमें से कोई भी अब किसी विदेशी शक्ति का केवल गुलाम रहना पसन्द नहीं करेगा।'

'जन सुरक्षा अध्यादेश (Public Safety Ordinance) कर्मकारों की आज़ादी को रोकने के लिये नहीं बल्कि गुमराह कर्मकारों को रोकने के लिये बनाया गया है।'

'ऐसे किसी भी उद्योग को जीवित रहने का हक नहीं, जो कि अपने कामकरों को उचित मजूरी नहीं दे सकता।'

'ऐसे संघों की स्थापना हो जो कि अपने सामने कोई और उद्देश्य न रख कर सिर्फ कामकरों के हित-साधन में लगे रहें, जो केवल कामकरों के उचित दावों के लिए ही लड़ें और जिनके नेता जनता के लिये ही जीवित रहें और नेतागिरी के चोगे को सिर्फ अपने नाम के लिए ही न पहनें। इनके अलावा व्यर्थ के संघ किसी तरह भी स्थापित न किये जायें।'

'यदि विकासवाद और आदमी की स्वाभाविक अच्छाई के सिद्धांत को न माना जाय और न वह चिरकाल तक स्थिर ही रहे तो फिर मानवता के लिए कोई आशा नहीं रह सकती।'

'नैतिक मूल्य ही वास्तव में असली मूल्य है जो कि दुनिया में शांति स्थापित कर सकते हैं और दुनियां को बचा सकते हैं।'

'ज्यों ही समाज में धन दौलत के प्रति आदर कम होता जायेगा और उसके स्थान को ईमानदारी और कठिन परिश्रम ग्रहण करेंगे, पूँजीपति भी धन-दौलत का मोह छोड़ देंगे।'

'आज़ादी को प्राप्त करने का मौलिक उद्देश्य ग़रीबी को दूर करना था।'

'हमारे लोगों ने असली आज़ादी का स्वाद नहीं लिया है क्योंकि वे आज़ादी को भोजन और वस्त्र के रूप में समझते हैं जोकि आज काफी तादाद में नहीं।'

'साम्यवादी संसार के लिए त्रास बन गये हैं।'

'भारत की आर्थिक समस्या उत्पादन की समस्या पर आधारित है, इसलिए यदि इसका कोई स्थाई हल निकालना है तो उत्पादन आगे बढ़ाना होगा।'

'जो लोग स्वयं कुचले गये हैं, वे जानते हैं कि जबरदस्ती कुचले जाने में कितने कष्ट होते हैं, इसलिये हमें हिंसा के मार्ग का अनुसरण नहीं करना चाहिये।'

'मज़दूरों की जन-संख्या में एकता कायम रहनी चाहिये और उनमें नौकर तथा मज़दूर जोकि मजूरी कमाते हैं, जैसे विभाजन नहीं होने देने चाहियें।'

'यदि श्रम अपने उद्देश्यों को पूरा करना चाहता है तो उसे मज़बूत आधार पर अपना मोर्चा कायम करना चाहिये।'

'सरकार मज़दूर जनता की दशा को सुधारना चाहती है, लेकिन जब तक वे शराब पीने की आदत तथा उनकी उन्नति में बाधा देने वाली इसी प्रकार की अन्य आदतों को नहीं छोड़ते तब तक सिर्फ ऊँची मजूरी देने से कोई मतलब हल नहीं होगा।'

'आधुनिक औद्योगिक विकास से हमारी पुरानी देहाती आर्थिक व्यवस्था बिलकुल छिन्न-भिन्न हो गई है। इस मौजूदा दुनिया में हमें पीछे की ओर नज़र डालना तथा अपनी पुरानी प्रणाली से शिक्षा ग्रहण करना नहीं भूलना चाहिये।'

'आज़ादी ने हमारे राष्ट्रीय गौरव को बढ़ाया है।'

जगजीवन राम के स्फुट विचार

'गांधी जी ने हमें विकास का मार्ग बताया है क्रांति का मार्ग नहीं जो कि हिंसा में जाकर समाप्त होता है।'

'जब तक हम मज़दूर वर्ग को रहन-सहन के अच्छे स्तर तथा सम्मान के स्थान का जो कि उसके लिए उपयुक्त है, विश्वास नहीं दिला देते तब तक हम संतोष के साथ नहीं बैठे रहेंगे।'

'काम, कठिन और ईमानदारी का काम, काम और निरंतर अधिक से अधिक काम, यही आज भारत-माता की माँग हैं।'

'जो कि आवश्यक आर्थिक विकास के कार्यक्रम से भागता है या असंतोष अभिव्यक्त करता है अथवा किसी और तरीके से उसमें बाधा डालता है—वह चाहे सरकारी कर्मचारी हो, चाहे पूँजीपति और चाहे मज़दूर—जन साधारण के मतानुसार वह देशद्रोही है।'

'कानून, आखिर मानवीय सम्बन्धों को व्यवस्थित करने के लिए बनाया जाता है। इसलिए उसका उपयोग इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए होना चाहिए न कि उसके अपने लिए।'

'बुनियादी महत्व के कारण खाद्यान्न अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौतों में सौदा पटाने का एक जरिया बन गया है, इसलिए दूसरे देशों या इन सौदाबाजियों पर निर्भर रहने से तथा साथ ही अधिक मूल्य देने से हम अपनी आर्थिक आजादी की लेन-देन से कोई लाभ नहीं उठा सकेंगे।'

'जिस आंतरिक शक्ति ने हरिजनों को सदियों तक सामाजिक अत्याचारों को सहन करने में समर्थ किया, वही आन्तरिक शक्ति रोटी और न्याय के संघर्ष में उनकी सहायता करेगी।'

'मैं कर्मकार संघों के स्वार्थपूर्ण नेतृत्व के खिलाफ हूँ, क्योंकि वह पूँजीवाद के खिलाफ अपने स्वार्थ या पार्टी के उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए कर्मकार संघों पर नियन्त्रण रखता है।'

'श्रम पूँजीवादियों के बिना भी काम चला सकता है, किंतु पूँजीवादी श्रम के बिना काम करने में असमर्थ हैं।'

'अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए हड़ताल मज़दूरों का अंतिम हथियार है।'

'हरिजन समस्या अब सामाजिक समस्या नहीं रही, अब यह पूर्ण रूप से आर्थिक समस्या बन गई है, क्योंकि हमारी ज्यादातर जातियाँ गरीब हैं। इसलिए हमारा सबसे अधिक ध्यान गरीबी को दूर करने की ओर है।'

'धर्म परिवर्तन की बात करना सर्वथा कायरपन की निशानी है, क्योंकि कायर जहाँ भी जायगा वहीं दुतकारा जाएगा; इसलिए हम कायर नहीं बनना चाहते।'

'आज विचारों के साथ विचारों से ही लड़ना चाहिये।'

'नैतिक हथियार ऐसे व्यक्ति की रक्षा और उन्नति करता है, जिसकी रचनात्मक शक्तियों का पुनर्निर्माण आवश्यक है। यह दूसरे के अधिकारों का आदर करना सिखाता है।'

'विभिन्न देशों में इस सिद्धान्त के बारे में फैसला हो चुका है कि अन्तिम सत्ता जनता के ही हाथ में है और इस जमाने में किसी भी ऐसी चीज़ को जिसे कि जनता खुद पसन्द नहीं करती, कोई भी ऊपर से उन पर जबरदस्ती नहीं लाद सकता।'

'भारत में सबसे अधिक शोषित मानव समुदाय मज़दूर वर्ग है। उन्हें सिर्फ पूँजीपति ही शोषित नहीं कर रहे, बल्कि कुछ एक ऐसे कर्मकार संघ भी हैं जो कि अपने श्रेणीगत संगठन के कारण उन लोगों का शोषित कर रहे हैं।'

'आज के दुख-दर्दों के लिये लोगों को ही दोष देना चाहिये। वे चोरबाजारियों, भ्रष्टाचारियों तथा शोषण करने वालों का जो कि खून चूसा करते हैं, बहिष्कार करने के बजाय उनकी पूजा करते हैं, और यहाँ तक कि वे उनके पास धार्मिक कार्यों के लिए पैसा माँगने भी जाते हैं।'

'सवर्ण हिन्दुओं को हरिजनों का न्यायसंगत तथा उचित भाग उन्हें दे देना चाहिये। पारस्परिक विश्वास स्थापित करने तथा दोनों वर्गों को धीरे-धीरे एक करने के लिए सिर्फ एक यही रास्ता है।'

'मार्क्सवाद तथा गांधीवाद स्वभावतः एक जैसे ही हैं। दोनों के बीच सिर्फ साधनों का भेद

है। मार्क्स जहाँ साम्यवाद को बाहर से लागू करने में विश्वास करते थे वहाँ महात्मा गांधी आंतरिक विकास के जरिए उसी उद्देश्य की पूर्ति करना चाहते थे।'

'भारत सरकार अपने राज्य क्षेत्र से बाहर की किसी तरह की भी राजभक्ति को या भारत को विदेशी शक्ति के साथ एक सूत्र में बाँधने के लिए किए गए किसी प्रयत्न को सहन नहीं करेगी।'

'हम मिलों और कारखानों को चलाने के लिए सिर्फ मालिकों को ही नहीं बदलना चाहते हैं कि उन पर मज़दूरों का नियंत्रण हो।'

'महात्मा गाँधी की शिक्षाएँ, सत्त्व के खिलाफ सहकारिता, हिंसा के खिलाफ अहिंसा, घृणा के खिलाफ प्रेम तथा ऐसे संकीर्ण स्थान में जहाँ पानी का भी प्रवेश न हो सके मान्यता के विभाजन के खिलाफ भ्रातृत्व के स्थापन के सिद्धान्त पर आधारित थीं।'

'महात्मा गाँधी जैसा महानतम क्राँतिकारी कभी भी पैदा नहीं हुआ, रामराज्य के बारे में हम जो कुछ पौराणिक गाथा में पढ़ सकते हैं उससे कहीं अधिक गहरा अर्थ उनके रामराज्य की कल्पना में है।'

'हमारे नौजवानों को अस्पष्ट तथा अकल्पनीय आदर्शों की छाया के पीछे नहीं भागना चाहिये बल्कि अपने पास-पड़ोस को सुधारने में अपने को लगा देना चाहिये।'

'आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था में इस प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन होने चाहिये कि जिससे मुट्ठी भर लोग मौज न उड़ा सकें जब कि लाखों लोग भूखे मर रहे हों।'

'भूमि पट्टा प्रणाली के उत्पादकों के लिए जिनमें कि सबसे ज्यादा संख्या खेत मज़दूरों की है, किसी तरह का प्रलोभन नहीं क्योंकि उन्हें मालूम है कि उत्पादन बढ़ाने से उनके खुद का कोई लाभ नहीं, उन्हें तो सिर्फ निश्चित मजूरी ही मिलेगी।'

'जो लोग उत्पादन कर सकते हैं, उनके पास काफी जमीन नहीं और जिनके पास काफी जमीन है उनके पास जरिया या प्रवृत्ति कुछ भी नहीं।'

'श्रम के गौरव को अवश्यमेव स्वीकार करना चाहिए। जो लोग अपनी मेहनत के जोर पर

रहते हैं, वे समाज के बड़े उपयोगी सदस्य हैं, उन्हें उनका उपयोगी भाग अवश्य मिलना चाहिये। यदि शिशु राष्ट्र का विप्लव से बचाना है तो उनके हितों की अवश्य रक्षा होनी चाहिये।

'एक उच्च कुल का अफसर जो कि मजदूरों को निकृष्ट मानव समझता है उनकी कभी भी ठीक सेवा नहीं कर सकता।'

'मैं इस बात की परवाह नहीं करता कि छात्र किस वाद का अनुसरण करते रहते हैं, किंतु क्या कोई ऐसा वाद है जो कि अनुशासन हीनता की वकालत करता हो। कोई भी 'वाद' लाइसेंस के लिये आजादी की व्यवस्था नहीं करता।'

'बलपूर्वक आधीन करना मार्क्सवाद का ही तरीका है। महात्मा गांधी की योजना में इसके लिये कोई स्थान नहीं।'

'जब समाज भ्रष्टाचार में रत लोगों को प्रोत्साहन दे रहा हो उस समय केवल सरकार से ही चोरबाजारी, भ्रष्टाचार तथा दूसरी बुराइयों को हटाने की आशा करना बहुत बड़ी आशा करना है।'

'मैं किसी भी व्यक्ति को २४ घंटे तक अपने को भंगी की स्थिति में रखने के लिए चुनौती देता हूँ। मुझे सन्देह नहीं कि उस अवधि के बाद ऐसा व्यक्ति हिन्दू-समाज को छोड़ना ही अधिक पसन्द करेगा।'

'भारत के पूँजीपतियों ने नफा कमाने के सिवा और कुछ नहीं सीखा है।'

'मज़दूरों को हड़ताल करने का हक है। लेकिन इस अधिकार को सभी समय या बिना सोचे विचारे उपयोग में लाना उचित नहीं।'

'जो आजादी आज हमारे पास है उसे हम असली आजादी नहीं कह सकते, क्योंकि यह केवल राजनीतिक आजादी है। जनता के लिए यह कोई मायने नहीं रखती। जब तक कि उसके रहन-सहन के स्तर को ऊपर नहीं उठाया जाता, उसकी गरीबी, उचित भोजन, वस्त्र तथा मकान की समस्याओं को हल नहीं किया जाता; जब तक शोषण, अन्याय तथा अत्याचार, चाहे किसी भी स्वरूप में हो, भूतकाल की वस्तुएँ नहीं बन जाते और जब तक कि उसे सब तरह की उन्नति के लिए सभी आवश्यक अवसर नहीं मिल जाते तब तक यह आजादी उसके लिए किसी काम की नहीं।'

जगजीवन राम के स्फुट विचार

'अब तक जो विधान बनाया गया है या बनाए जाने को है उसमें एक अलग विराम तक को श्रम के खिलाफ सिद्ध नहीं किया जा सकता।'

'हमारा उद्देश्य ऐसे समाज का निर्माण करना होना चाहिए जहाँ कि मज़दूर और सिर्फ मज़दूर ही सारे उद्योगों के प्रबन्धक हों और जहाँ श्रम को पूँजी के समान स्तर पर स्थापित किया जा सके।'

'भारत सरकार का श्रम-विधान एक दिन औद्योगिक जनतन्त्र में विकसित हो जाएगा।'

'हमारी सारी कार्यवाहियों में हमारी राहनुमाई करने वाला सिद्धान्त प्रेम और प्रोत्साहन है न कि हिंसा, घृणा या भय।'

'भारतीय संस्कृति आदमी को सब वादों से ऊपर रखती है और मानवीय व्यक्तित्व को सम्पूर्ण रूप से विकसित करने में विश्वास करती है।'

'जब तक कांग्रेसी लोग उद्योग तथा खेत में काम करने वाले दोनों तरह के मज़दूर समुदाय के साथ अपने सम्बन्धों को फिर से स्थापित तथा मज़बूत नहीं कर लेते तब तक वे लाल धमकी का मुकाबला करने में असफल रहेंगे और आँखें बन्द करके देश में अराजकता की शक्तियों को ही केवल छूट देने में सफल होंगे।'

'मैं 'नैतिक पुनः शस्त्रीकरण' में ही ऐसे विश्व के निर्माण का मार्ग देखता हूँ जिसमें कि विचार-धाराओं के बीच रूकावटें बिलकुल नष्ट हो गई हों।'

'अपने कार्य में स्त्रीत्व के सभी सुन्दर गुणों को लाने के लिए सभी तरह से स्त्री बनो।'

'जातीयता का किला टूटता जा रहा है और वह गिरने ही जा रहा है। यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि मज़दूर श्रेणी की प्रगति का मतलब होगा कि कोई भी आदमी जो काम नहीं करता समाज में स्थान नहीं पाएगा।'

'जितनी जल्दी हम रक्षा-कवचों को खतम करेंगे उतना ही हमारे लिए अच्छा है क्योंकि यह रक्षा-कवच हमें हमारी कमजोरियों की याद दिलाते हैं।'

'जब तक कि पूर्ण समानता के भाव प्रबल नहीं हो जाते तब तक देश की आज़ादी व सुरक्षा खतरे में रहेगी।'

'कोई भी सरकार शराब लाइसेंस देने से प्राप्त होने वाले कलंकित राजस्व को इकट्ठ करने में दिलचस्पी नहीं रखेगी; क्योंकि यह लोगों के चरित्र को नष्ट करके एकत्र किया जाता है।'

'शराबबन्दी का सबसे बड़ा लाभ यह है कि बच्चे अच्छा खाना खायेंगे, अच्छे कपड़े पहनेंगे, स्कूल जायेंगे तथा माता-पिता की ओर से उनकी उचित पर्वाह तथा देख-भाल होगी। उस भावी पीढ़ी के आजाद तथा अबाध विकास के लिए ये प्राथमिक अवस्थाऐं हैं, जिसे कि विच्छिन्न परिवार तथा टूटी हड्डियों के झगड़ों व कष्टों के भूत जरा भी व्याप्त नहीं होंगे।'

'मज़दूर-वर्ग की अवस्थाओं में क्रांतिकारी परिस्थिति के लिए केवल विधान की आवश्यकता नहीं, बल्कि स्पष्ट रूप से कुछ और करने की भी आवश्यकता है और वह यह कि लोगों के मनोविज्ञान में परिवर्तन लाया जाये।'

'जो लोग अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दृढ़ हैं और अपमान के जीवन से मृत्यु को अधिक पसन्द करते हैं, वे जरूर सफल होंगे। जो लोग अच्छे उद्देश्य के लिये लड़ रहे हैं उनके सामने दुनियाँ में कोई भी शक्ति खड़ी नहीं रह सकती।'

'वयस्क मताधिकार को ठीक तौर से अमल में लाकर ही पद-दलितों को मुक्ति प्राप्त हो सकती मैं नहीं चाहता कि हरिजन रक्षा-कवचों का सहारा लेकर अपनी प्रगति के लिए योजना बनाएँ।'

'हरिजनों को अन्याय के सामने घुटने न टेकने के लिए दृढ़ रहना चाहिये। ऐसा रुख अपनाने के लिए उन्हें कुछ भी कीमत चुकानी पड़े इसकी परवाह नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि वे उन लोगों के खिलाफ जो कि उन पर अत्याचार करते हैं, हिंसा का आश्रय लें। उनमें बदला लेने की भावना नहीं आनी चाहिये, किन्तु साथ ही वे अन्याय के सामने सिर भी न झुकाएँ।'

'जंजीर की मज़बूती उसके सबसे कमजोर जोड़ पर ही निर्भर रहती है, यदि जनता का कोई अंग कमजोर रहता है तो समाज और राष्ट्र सम्पूर्ण रूप से मज़बूत नहीं हो सकते।'

'यद्यपि भारत एक ग़रीब देश है और उसकी फौजी ताकत भी नाम मात्र को है, फिर भी उसने संसार के ध्यान को जो अपनी ओर खींचा है, उसका कारण है कि यही एक ऐसा देश है जिसने

कि अहिंसा को अपनाया है और संसार को बताया है कि अच्छे उद्देश्य की पूर्ति अच्छे साधनों से ही हो सकती है।'

'वैसे तो यह सभी लोगों का कर्त्तव्य है, लेकिन उन लोगों का विशेष कर्त्तव्य है जो कि अच्छी स्थिति में है कि वे उस विचारधारा से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रत्येक प्रयत्न करें जो कि पूर्व या पश्चिम कहीं से भी छन कर आई हो।'

'अपनी नई पाई हुई आजादी को सुरक्षित तथा दृढ़ करने एवं मातृभूमि को गौरव के उच्चतम शिखर पर उठाने के लिए यह आवश्यक शर्त है कि अनिवार्य रूप से चरित्र का निर्माण किया जाय, व आत्मानुशासन, आत्मा-संयम तथा विस्तृत दृष्टिकोण को आश्रय दिया जाये।'

'राष्ट्रीय-संस्थायें भारी ज़बरदस्त ख्वाइश के प्रत्यक्ष निशान व हमारे इतिहास के स्पष्ट सीमाचिन्ह हैं।'

'रचनात्मक कार्यों में गान्धी जी का वैचारिक महत्व देखते हुए, आज भी अपनी और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का विचार करते हुए कार्यक्रम बनाए जाते हैं।'

'पिछड़ी जातियों का एक सदस्य जितनी गति के साथ अपनी जातियों की उन्नति करने के लिए आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करना चाहता है, वह गति हमारी योजना में नहीं है। इस योजना से विषमता नहीं हो सकेगी। यह बात सही है कि निर्धनता तो देश के और वर्गों में भी है। वह निर्धनता दूर होने पर पिछड़ी जातियों की दशा सुधरेगी; लेकिन जो समुदाय सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में पिछड़ा हुआ है, उस पर जब तक विशेष ध्यान नहीं दिया जायगा, दूसरे के मुकाबिले में पीछे रह ही जायगा। पंचवर्षीय योजना में जितने पहलू से ध्यान देना चाहिए, नहीं दिया गया है।'

'गांधी जी समाज और सत्ता का बहुत दूर तक विकेन्द्रीकरण करना चाहते थे। मार्क्स ऐसा मानते थे कि शोषक वर्ग की प्रचलित व्यवस्था में सुधार संभव नहीं है। इसलिए शोषित वर्ग का संगठन करके समाज के सभी पंचों को उसी वर्ग के हाथ में दे देना चाहिए।'

'सभी वर्गों की उन्नति एक ही अनुपात से हो, सबों के सुखी हो जाने के बाद भी आज की असमानता रह नहीं जायगी।'

'गांधी और मार्क्स के लक्ष्य में अन्तर तो नहीं है; लेकिन दोनों के मार्ग में मौलिक अंतर है। दोनों का हार्दिक प्रश्न एक ही सा था। गांधी जी वर्ग संघर्ष को बचाना चाहते थे, शोषक वर्ग के हृदय को बदलना चाहते थे, और शोषितों में आत्म-सम्मान तथा आत्म-निर्भरता भर कर उनकी मानसिक स्थिति को बदलना चाहते थे।'

'भारतीय संस्कृति में आज से नहीं, बहुत पहले से भिन्न-भिन्न वर्गों और सम्प्रदायों की संस्कृतियों का एक सुन्दर सामंजस्य रहा है। अत्यन्त उदार भावना विदेशी संस्कृतियों को अपनाने में भारतीय संस्कृति बरतती रही है। यदि उन अलग-अलग बाहरी संस्कृतियों को भारतीय संस्कृति से पृथक् करने का प्रयत्न किया जाय तो भारतीय संस्कृति की आत्मा का हनन करना होगा। क्योंकि भारतीय संस्कृति का मूलाधार इसकी शाश्वत आधुनिकता है। जब कभी इस सिद्धांत को ओझल किया गया भारतीय संस्कृति दोषी समझी गई और समाज में विशृंखलता पाई गई। मैं यह भी मानता हूँ कि किसी देश की संस्कृति धर्म के ऊपर ही शत-प्रतिशत नहीं निर्भर करती। एक ही देश में रहने वाले की संस्कृति एक-सी हो यह आवश्यक नहीं है। भाषा के कारण संस्कृति अलग हो जाय यह आवश्यक नहीं।'

'राष्ट्र भाषा हिन्दी तो होनी ही चाहिए। यदि एक मात्र हिन्दी का साम्राज्य हो जाय तो अच्छा है, किन्तु यह संभव नहीं, यदि हो भी तो कई शताब्दियाँ बीत जायँगी।'

'मेरे मन और हृदय पर गांधी जी, मालवीय जी, राजेन्द्र बाबू, जवाहरलाल नेहरू का काफी प्रभाव पड़ा है। मेरी माता जी के आत्म-संस्कार और उनकी उदात्त भावनाओं ने मुझे अपने बारे में सोचने समझने का अवसर दिया है।'

'मुझे भगवान में पूर्ण विश्वास है। उनकी कृपालुता का आश्रय पकड़ने में अनिवर्चनीय सुखों की प्राप्ति हुई है। जब जब कोई परेशानी आई है, उन्हीं की कृपा से दूर हुई है।'

'उन अभागे लोगों को जो सदियों से न केवल अछूत कहे जाते रहे हैं बल्कि जिनके साथ अछूतपन का व्यवहार किया जाता रहा, हमारे संविधान ने कुछ अधिकारों की गारंटी दी है। उनको कुछ सुविधाएँ भी दी हैं। संविधान की भूमिका में ही स्थिति, दर्जे और अवसर की समानता की गारंटी दी गई है। राष्ट्र के सामुदायिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में वे पिछड़े हुए हैं, यह विचार करके उनको कुछ मूलभूत अधिकारों की भी गारंटी दी गई है। अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है, और धर्म, जाति, नस्ल, लिंग या जन्मस्थान के कारण भेदभाव करने का निषेध कर दिया गया है।'



कर्मचारियों
की राज्य
बीमा-योजना
के उद्घाटन
के अवसर पर
कानपुर में
श्री जवाहर लाल
नेहरु.
राजकुमारी
अमृतकौर
तथा
श्री जगजीवन राम
(२४ फरवरी,
१६५२)



श्री जगजीवन राम,
डॉ० पट्टाभिसीता-
रमैय्या,
श्री पुरुषोतम दास
टण्डन और
श्री अनन्त शयनम्
आयंगर



डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के साथ श्री जगजीवन राम और
श्री नारायण सदोबा काजरोलकर



कानपुर में कर्मचारियों की राज्य बीमा-योजना के उद्घाटन के अवसर पर
श्री जवाहर लाल नेहरु के साथ श्री जगजीवन राम (२४ फरवरी, १९५२)
बाईं ओर डॉ॰ सी॰ एल॰ कटियाल



श्री जगजीवन राम अपने व्यक्तिगत सचिव श्री नरेश्वरप्रसाद सिन्हा, श्रम मंत्रालय के सचिव श्री वी. के. आर. मेनन और स्वास्थ्य सेवाओं के डायरेक्टर डॉ० के. सी. के. ई. राजा के साथ कर्मचारियों के राज्य बीमा कारपोरेशन के क्षेत्रीय कार्यालय, कानपुर में एक प्रदर्शन का निरीक्षण कर रहे हैं। (२४ फरवरी, १९५२).

'कानून बनाने और उनको जारी करने में तथा उनके अनुसार व्यवहार कराने में सदा अन्तर हुआ करता है। मगर जब कानून का सम्बन्ध ऐसे लोगों के साथ हो जिनकी संख्या नगण्य न हो तथा जो अपने अधिकारों के प्रति सजग हों, तब उस पर अमल करने में देर लगाना खतरनाक होता है। परिगणित जातियों की संख्या ऐसी नहीं है जिसका कोई महत्व न हो। उनकी अन्तश्चेतना जाग उठी है। वे जिन अयोग्यताओं, हीनताओं और घृणा के शिकार रहे तथा जिनके भार के नीचे दबे हुए हैं उनसे मुक्त होने के लिए वे छटपटा रहे हैं।'

'खेतिहर मज़दूर की समस्या का वास्तविक समाधान तो भूमि-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने पर ही होगा। इस विषय में सभी एकमत हैं कि भूमि-व्यवस्था इस ढंग की होनी चाहिये जिससे खेत जोतने वाले काश्तकार और राज्य के दर्मियान कोई भी दलाल न रहे और जमीन उन्हीं लोगों के साथ बन्दोबस्त की जाय जो 'असल में खेत जोतने वाले' हैं। कठिनाई तो तब पैदा होती है जब यह तय करना पड़ता है कि 'असल में खेत जोतने वाला' कौन है ? प्रचलित धारणा के अनुसार कोई भी व्यक्ति 'असली जोतने वाला' मान लिया जा सकता है जो अपने एजेंट या मैनेजर द्वारा अपने द्वारा दिये गये औजारों से शत-प्रतिशत मज़दूरों से ही खेती करा सकता है। विवेकपूर्ण भूमि-वितरण के प्रस्ताव के मार्ग में यह परिभाषा ही बड़े विरोध का कारण है। यदि 'जमीन जोतने वाला' का वही अर्थ माना जाय (जो कि वस्तुतः उसका अर्थ है) तो जमीन का पुनः वितरण बड़ा सरल हो जाय। विधवाओं, अशक्तों और बीमारों को छोड़ कर और कोई भी व्यक्ति, जो धार्मिक या सामाजिक या आर्थिक कारणों से हल जोतना और खेती से सम्बन्धित अन्य किसी कार्य को स्वयं और अपने परिवार के सभी नीरोग और सक्षम व्यक्तियों के साथ कम से कम मज़दूरों की सहायता से करने में अपनी हेठी समझता हो, उसे 'असली खेत जोतने वाला' न मानना चाहिये। जहाँ मज़दूर लगाये भी जायें वहाँ जिन्स में या नकद मज़दूरी देकर नहीं बल्कि मज़दूर की अदलाबदली पर।'

'भूमि का पुनर्वितरण केवल खेतिहर मज़दूरों की अवस्था सुधारने और 'असल किसान' की माली हालत ठीक करने के लिए ही जरूरी नहीं है बल्कि राष्ट्रीय हित में भी यह आवश्यक है। अनाज की पैदावार बढ़ाने की कोई आयोजना इच्छित फल न देगी जब तक किसान खेत पर खुद मेहनत न करेगा। भाड़े के मज़दूरों द्वारा खेती कराने और खुद खेती करने के बीच भारी अन्तर है और पैदावार पहले की अपेक्षा दूसरे में पन्द्रह से बीस प्रतिशत तक अधिक होती है।'

'किसान के खुद खेती करने से पैदावार हमेशा अधिक होती है। यह एक राष्ट्रीय समस्या है और इसको हल भी उसी रूप में करना होगा। केवल जमींदारी अन्त करने तथा राज्य और किसान के बीच के लोगों के हटा देने भर से कृषि-समस्या हल न होगी और न कृषि-अशान्ति दूर होगी। भूमि-व्यवस्था फिर से नये रूप में बनानी होगी और इसके लिए दृढ़ संकल्प और साहस से काम करना होगा, चाहे निहित स्वार्थ वालों का, जो कि अधिकतर बड़े किसान हैं, विरोध

भी क्यों न सहना पड़े । इस समस्या का समाधान इसी मंत्र में है—'जमीन जोतने वालों की। जोतने वाला कौन ?—जो हल चलाता है' ।'

'आर्थिक नीति, चाहे वह जमीन के सम्बन्ध में हो या उद्योग के बारे में हो, ऐसी होनी चाहिये जो वर्तमान सामाजिक-आर्थिक ढाँचे को बदल दे और संविधान के अन्दर मौजूद निर्देशात्मक सिद्धान्तों द्वारा बनाये लक्ष्य को पूरा करने में सहायक हो । यह नीति केवल वही हो सकती है जो शोषण और विदोहन का अन्त कर दे, असमानता एवं विषमता को दूर कर दे, और जो उत्पादक श्रम और समाज-सेवा में लगे हुए सब लोगों में यह भावना उत्पन्न करे कि वे राष्ट्र की सेवा के लिए काम कर रहे हैं, किसी व्यक्ति-विशेष के लिए नहीं, जो समाज में उनको उचित दर्जा और प्रतिष्ठा दे जिसके वे अपने श्रम, चरित्र और व्यवहार के बल पर अधिकारी हैं और जो उनको इस बात का विश्वास दिलाये कि वे अपने श्रम के फल में से उचित भाग अवश्य पायेंगे । यह उस समय सम्भव है जब खेतों, कल-कारखानों और समाज-सेवा में श्रम करने वालों के प्रति समाज का विचार और दृष्टिकोण एवं मनोवृत्ति बदल जायें । वर्तमान सामाजिक-आर्थिक ढाँचे को बदलने के लिए ठोस कार्रवाई करना और बड़ा कदम उठाना निहायत जरूरी है ।'

'परिगणित जातियों के लोगों के समाज द्वारा निर्धारित तथा कुछ परम्परागत पेशे हैं । अ ना माल तैयार करने के आधुनिक तरीके और ढंग न जानने के कारण वे प्रतिद्वंदिता में नहीं टिक सकते उनका पेशा उनसे अधिक आगे बढ़े हुए लोगों ने छीन लिया है और इन्हे बेकार बना दिया है। लेकिन इन पर लादे हुए सामाजिक बोझ को, जिम्मेदारी को भी इनसे पूरा करवाया ही जाता है। वे अपनी इच्छा के विरुद्ध ये काम करने को लाचार किये जाते हैं । यदि वे इनको छोड़ दें तो उनको अनेक तरह से डराया धमकाया जाता है। यहाँ तक कि कुछ अदालतों ने भी उन घृणित और हेय कार्यों को उनके द्वारा छोड़ देने के विरुद्ध फैसले दिये हैं, यद्यपि यह संविधान द्वारा दिये गये नागरिकता के अधिकारों के प्रतिकूल है । सतर्क और चौकस रहने के बावजूद वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर किये गये ऐसे हमलों को ये बेचारे नहीं रोक सकते, क्योंकि इनके पास धन कहाँ है, जिससे वे सुप्रीम कोर्ट में जाकर उसके विरुद्ध लड़ें ।'

'शिक्षा की दृष्टि से परिगणित जातियाँ बहुत पिछड़ी हुई हैं । यदि उनका रहन-सहन और जीवन-मान ऊँचा करना है तो यह जरूरी है कि इस दिशा में उनको आवश्यक सुविधायें दी जायें। गरीबी और सामाजिक परिस्थितियों के कारण उनके लिये अपने बच्चों को शिक्षा देना सम्भव नहीं ।'

'गरीब हरिजन छात्र ऊँचे अधिकारियों के पास कहाँ तक दौड़ धूप और पैरवी कर सकते हैं । हरिजन भी आगे बढ़ सकें, इसके लिये यह जरूरी है कि सभी सरकारों (केन्द्रीय और राज्य) के बजट के अन्दर परिगणित जातियों के छात्रों को सभी प्रकार की शिक्षा देने के लिए उदारतापूर्ण व्यवस्था होनी चाहिये। किसी भी बहाने से उनके दाखिले को नहीं रोकना चाहिये। जहाँ जरूरी हो उनके

लिए स्कूल-कालिजों में स्थान सुरक्षित रखने चाहिये। होस्टल उनके लिए बढ़ाने चाहिये। टैक्निकल शिक्षा को उत्साहित करना चाहिये जिससे शिक्षित हो जाने हर उनमें बेरोज़गारी और बेकारी न फैले।'

'यदि हरिजनों, शिल्पियों, देहातों के और गरीब लोगों के मकानों के स्थान की समस्या का हल कर दिया जाय तो बेगारी लेने की वारदातें भी बहुत कम हो जायें। आज हमारा ध्यान शहरों की गन्दी बस्तियों की ओर गया है, लेकिन बहुत कम लोग यह जानते हैं कि हमारे अधिकांश गाँवों में जहाँ हरिजनों की बस्ती होती है वह हिस्सा शहरों की गन्दी बस्तियों से कहीं अधिक गया-गुजरा होता है।'

'हरिजनों के और अन्य भूमिहीन वर्गों के घर देहातों में जिस जमीन पर बने हुए हैं उन जमीनों पर उनका दाखिलकारी हक हो जाना चाहिए। कानून के द्वारा इसकी व्यवस्था शीघ्र होनी चाहिए। मद्रास सरकार ने एक योजना स्वीकृत की है जिसके द्वारा दलित वर्ग को मकान बनाने के लिए जमीन मुफ्त दी जाती है। प्रत्येक परिवार को पानी वाली जमीन में ३ सैंट्स (करीब १५० वर्ग-गज) और सूखी जमीन में ५ सैंट्स (करीब २५० वर्ग गज) दिया जाता है। मार्च १९५० के अन्त तक लगभग ४६,००० परिवारों को घर बनाने के लिए जगह दी गई। मैसूर सरकार ने भी इसी प्रकार की कार्रवाई की है। अन्य प्रदेशों की सरकारों को भी ऐसा प्रबन्ध जल्द करना चाहिए।'

'परिगणित जातियों के अन्दर एक दल ऐसा भी है जो मानता है कि उनकी वर्तमान शोचनीय हालत का मूल कारण उनका हिन्दू धर्म में होना ही है। उनका ख्याल है कि ज्यों ही वे हिन्दू-धर्म एवं समाज के घेरे से निकल जायेंगे त्यों ही वे अछूत न रहेंगे एवं उनकी सामाजिक और आर्थिक अयोग्यतायें दूर हो जायेगी। इस विचार का मैंने कभी समर्थन नहीं किया और परिगणित जातियों द्वारा सामूहिक धर्म-परिवर्तन के विचार का सदा प्रतिरोध किया है। भारतीय दलित जातीय संघ की नीति भी यही रही है। यदि किसी आदमी को यह विश्वास हो जाता है कि वह जिस धर्म को स्वीकार करने वाला है वह उसके जन्म के धर्म से श्रेष्ठ है और वह यदि इस विश्वास से धर्म परिवर्तन करता है तो ऐसे धर्म-परिवर्तन के विरोध करने का कोई कारण नहीं। सामूहिक धर्म-परिवर्तन के मामले में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता और इस प्रकार के सामूहिक धर्म-परिवर्तन की भावना का सदा और सर्वथा विरोध करना चाहिये।'

'लौकिक लाभ के लिए अथवा कठिनाइयों से छुटकारा पाने के लिए धर्म-परिवर्तन को कमजोरी और कायरता का चिन्ह माना जाता है। मैं आज भी ऐसा मानता हूँ कि हिन्दू धर्म के सच्चे स्वरूप के ऊपर जितने कलुषित आवरण चढ़ा दिए गए हैं उनको हटाकर हिन्दू धर्म का सुधार करके उसको अपने गौरवपूर्ण स्थान पर स्थापित किया जा सकता है। वर्णव्यवस्था और जातिपाँति का जल्दी से जल्दी अन्त होना चाहिए। ऐसी बातों में राज्य की सहायता, कानून की मदद सदा

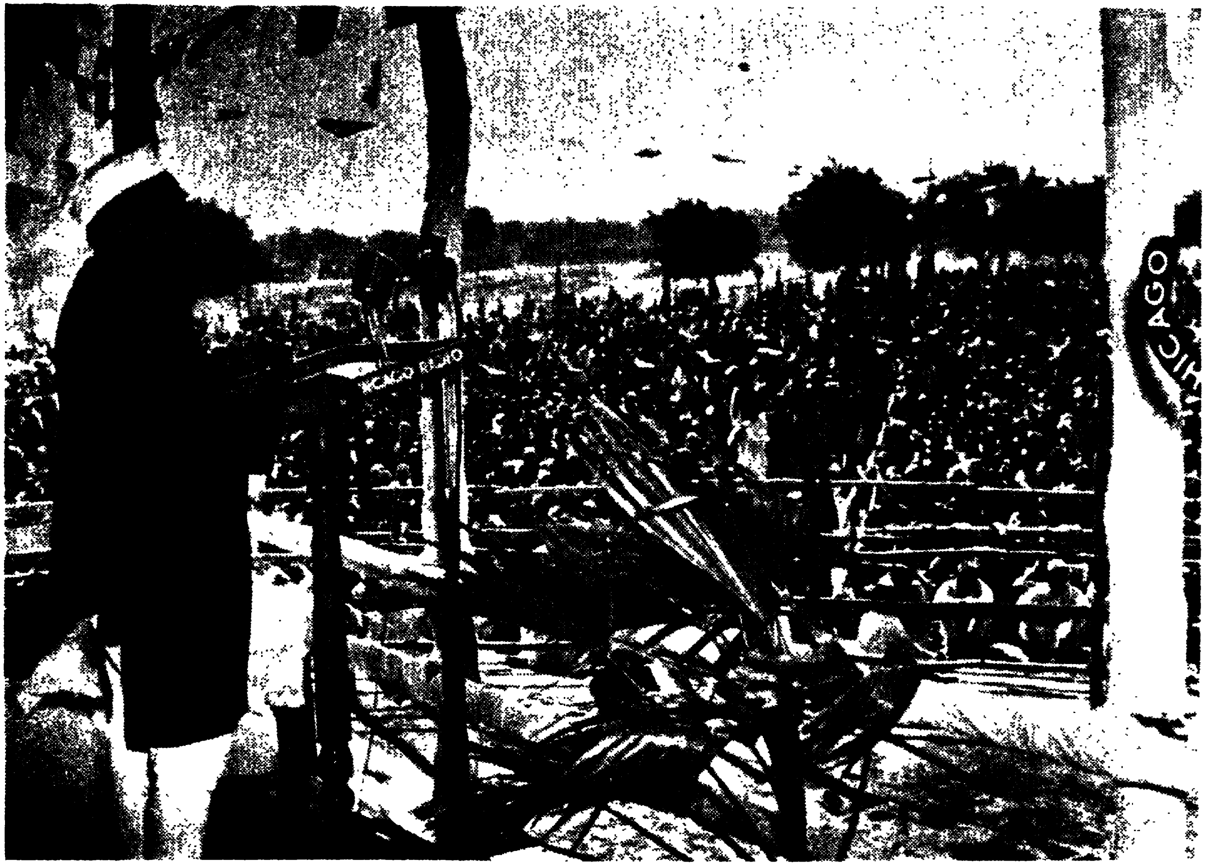
आवश्यक होती है। मैं उन लोगों से सहमत नहीं हूँ जो यह कहते हैं कि सामाजिक सुधार के क्षेत्र में सरकार को हस्तक्षेप न करना चाहिए। समाज के अन्दर जीवन के नैतिक मानदंड को ऊँचा रखने और समाज सुधार के कार्यों में सदा राज्य ने हस्तक्षेप किया है और राजदंड बरता है। किसी भी स्मृति को देख लीजिये, उसमें आपको इसके बहुत प्रमाण मिल जायेंगे। जातियों और वर्णों को मिटाने में सरकार को ठोस कदम उठाना चाहिए। जाति-प्रथा को मिटाने के लिए हमें तो कमर कस कर जिहाद बोल ही देना है।'

आज अपने मार्ग में आई सब रुकावटों और बाधाओं को दूर करने में परिगणित जातियाँ भले ही समर्थ न हों, किन्तु उनकी यह असहाय अवस्था बहुत देर तक या हमेशा न रहेगी। हरेक चीज़ की एक सीमा है, हद है। जब किसी आदमी के धीरज पर बहुत भार डाला जाता है तो वह अधीर हो जाता है और प्रायः निराश हो जाता है। निराशा में आदमी कुछ भी कर सकता है। 'मरता क्या न करता' इसे नहीं भूलना चाहिये।'

'न मालूम किस धर्मशास्त्र या आचारशास्त्र के अनुमोदन से इन वर्गों के साथ यह अमानुषिक बर्ताव किया जाता है। सदियों से उनकी उपेक्षा की जा रही है। मैं निराशावादी नहीं हूँ। आज भी मैं यह विश्वास करता हूँ कि इस विशाल देश के प्रत्येक भाग में इन लोगों के साथ न्यायपूर्ण बर्ताव किया जायगा और समाज इस स्थिति को सुधारने का हर तरह से प्रयत्न करेगा।

'सरकार ने देश के सामने आई अनेक कठिनाइयों और समस्याओं का सफलतापूर्वक सामना किया है। नवीन भारत के निर्माण का यही आधार है कि नर-नारी के बीच कोई भेद न रहे, वर्गहीन समाज की स्थापना हो, जिससे जाति, धर्म और विश्वास के भेदाभेद का विचार किए बिना प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति के लिए समान अवसर मिले, सभी वर्गों के रहन-सहन, सुख-सुविधा एवं जीवन-मान में तरक्की हो। इस लक्ष्य तक पहुँचने के प्रयत्न में परिगणित जातियों और अन्य शोषित वर्गों के प्रतिनिधियों का विशेष उत्तरदायित्व है।'

'मेरा दृढ़ विश्वास है कि वह समय दूर नहीं जब दलित और शोषित जातियों के लोग भी सभी क्षेत्रों में दूसरों के बराबर बन जायेंगे तथा वे देश की आर्थिक और नैतिक समृद्धि को बढ़ाने में अपना अंशदान देने में किसी से पीछे न रहेंगे।'



कानपुर में कर्मचारियों की राज्य बीमा योजना के उद्घाटन के अवसर पर भाषण देते हुए श्री जगजीवन राम
(२४ फरवरी, १९५२)



राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के साथ श्री जगजीवन राम

भारतीय दर्शन का विकास क्रम

आचार्य विश्वेश्वर

भारतीय दर्शन शास्त्र भारत का प्राण, विश्व का गौरव और मानव संस्कृति का सार है, उसी ने भारत के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन का निर्माण किया है, उसी ने विश्व को आध्यात्मिकता का दिव्य संदेश प्रदान किया है और उसी ने चिर अतीत की निर्जीव, निष्प्राण मानव संस्कृति के विश्व व्यापक विशाल शरीर में नवजीवन का संचार कर उसे अनुप्राणित, गौरवान्वित और महान किया है। क्या प्राचीनता की दृष्टि से, क्या व्यापकता एवं महत्ता की दृष्टि से और क्या सरलता एवं स्वाभाविकता को दृष्टि से सभी दृष्टियों से भारत का दर्शनशास्त्र विश्व साहित्य की एक अनुपम, अतुलनीय एवं गौरवमयी विभूति है विश्व की गूढतम दार्शनिक समस्याओं का जैसा सूक्ष्म समीक्षण, जैसा विशद विवेचन और जैसा उदात्त, व्यापक एवं सुन्दर विश्लेषण भारतीय दर्शनशास्त्र ने किया है वैसी सूक्ष्म समीक्षा, वैसा व्यापक विवेचन और वैसा विशद विश्लेषण विश्व के समग्र साहित्य में दुर्लभ जान पड़ता है उसका अन्तस्तल इतना उदार और उसका क्षेत्र इतना व्यापक एवं विशाल है कि उससे संसार की समस्त विचारधाराओं का समन्वय बड़ी सरलता एवं सुन्दरता के साथ हो जाता है। नैरात्म्यवाद के साथ सर्वात्मवाद का, अज्ञेयवाद के साथ विज्ञानवाद का और शून्य वाद के साथ ब्रह्मवाद का, त्रिवेणी संगम की भाँति सुन्दर समन्वय इसी क्षेत्र में देखने को मिलता है। कपिल और कणाद इसी देश की दिव्य विभूति हैं, व्यास और पतंजलि का दिव्य दर्शन यहीं होता है, महावीर और बुद्ध भगवान की परमपुनीत झाँकी यहीं दिखाई देती है और शंकु एवं बृहस्पति ने इसी को अपने दिव्य आलोक से आलोकित किया है। ये संस्कृतियाँ संसार का नन्दन कानन और साहित्यिक संसार का सुर उपवन है, जिसमें विविध आकार प्रकार, विभिन्न सौन्दर्य एवं सुगन्ध के अपरिसंख्येय पुष्प प्रसून विकसित हो अपनी सुन्दर सुवास से उद्यान को आमोदित, आवासित और स्पृहणीय बना रहे हैं, जिनके स्वर्गीय सौरभ से संसार का समस्त साहित्यिक वायुमंडल सुरभित एवं सुवासित हो रहा है।

भारतीय इतिहास के इस गौरवमय अध्याय की रचना अथवा विश्व के सांस्कृतिक नभोमंडल में इस दिव्य ज्योति का आविर्भाव कब और कैसे हुआ ? विश्व के इतिहासज्ञों के समाने यह

एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, और इसका समाधान करने का साधारणतया अब तक जो कुछ प्रयास उन्होंने किया है वह न उतना सुन्दर ही हुआ है और न वैसा सफल ही उसे कहा जा सकता है जैसा कि होना चाहिए। पाश्चात्य पद्धति के कुछ भारतीय और योरोपीय विद्वानों का विचार है कि भारतीय दर्शनशास्त्र भारतीय साहित्य का अपेक्षाकृत बहुत आधुनिक भाग है, उसका प्रारंभिक सूत्रपात बुद्ध भगवान के जन्म से कुछ पूर्व, ईसा की लगभग छठी या सातवीं शताब्दी बी० सी० में हुआ और लगभग १४ वीं शताब्दी तक नवीन साहित्य की सृष्टि इस क्षेत्र में होती रहीं। इस प्रकार ईसा के पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसा की चौदहवीं शताब्दी तक के लगभग दो सहस्त्र वर्षों के बीच ही भारतीय दर्शनशास्त्र का उत्थान और पतन हुआ है, इन दो सहस्त्र वर्षों के भीतर ही भारत की दार्शनिक विचारधारा का आदि और अन्त समाप्त हो जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय दर्शनशास्त्र के उदयास्त को ऐतिहासिक काल की इस छोटी सी संकीर्ण परिधि में सीमित और आबद्ध करने का जो यह प्रयास किया है वह हमारे विचार में न तो उचित ही हुआ है और न सुन्दर ही। भारतीय संस्कृति और साहित्य के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की इस प्रकार की संकीर्ण एवं अनुदार धारणाओं ने वस्तुतः इतिहास के गौरव को क्षति पहुँचाई है और भारतीय दर्शनशास्त्र के साथ अन्याय भी किया है।

दर्शनशास्त्र सत्यानुसन्धान का शास्त्र है। इस विशाल विश्व में जो कुछ सत्य है, जो कुछ ध्रुव और शाश्वत है उसी के अनुसन्धान के लिए, उसी की खोज के लिए दर्शनशास्त्र की सृष्टि हुई है। दार्शनिक सत्यानुसन्धान का क्षेत्र जैसा दुर्गम है वैसा ही विस्तृत भी है। एक तरह से विश्व के समस्त महत्वपूर्ण प्रश्नों और जटिल समस्याओं का समावेश उसके भीतर हो जाता है। जिज्ञासा दर्शन की जन्मभूमि है; अपने चारों ओर दिखाई देने वाले इस विशाल विश्व के स्वरुप और आदि कारण की जिज्ञासा से दार्शनिक सत्यानुसन्धान का प्रारम्भ होता है और आत्मस्वरूप के परिज्ञान में उसकी परिसमाप्ति। यही दोनों दर्शनशास्त्र के आदि और अन्त हैं, उन्हीं दोनों के बाद जैसे विश्व का और सब कुछ समाविष्ट हो जाता है। संक्षेप में, मैं क्या हूँ ? यह दृश्यमान विश्व क्या है ? हम दोनों कहाँ जा रहे हैं ? यही मौलिक प्रश्न है जिनका उत्तर देने के लिए दर्शन शास्त्र की सृष्टि हुई है।

दर्शनशास्त्र के आधारभूत यह प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक और व्यापक प्रश्न है। संसार का कोई भी विचारशील मस्तिष्क उनसे अछूता नहीं रह सकता। मनुष्य एक विचार शील प्राणी है, उसके मस्तिष्क की प्राकृतिक रचना ही स्वभावतः उसे दार्शनिक विमर्श तथा इन समस्याओं के मनन के लिए बाधित करती है। इसीलिए डाक्टर पालसन ने कहा है कि संसार के प्रत्येक व्यक्ति और जाति के अपने दार्शनिक विचार होते हैं। उनका कितना अंश हेय और कितना अंश उपादेय है यह दूसरी बात है, और वह उसकी विचारशक्ति, व्युत्पत्ति और प्रतिभा पर निर्भर है। परन्तु संसार का कोई साधारणतम मनुष्य भी दार्शनिक विमर्श से वंचित नहीं रह सकता यह एक ध्रुव, निश्चित और असन्दिग्ध तथ्य है। हमें तथ्य को दृष्टि में रखते हुए यह कहना चाहिए कि

दार्शनिक विचार प्रागैतिहासिक काल की सम्पत्ति है। उनके आदि स्रोत का अनुसन्धान तो ऐतिहासिक काल की सीमा से कहीं पीछे जाकर करना होगा जो प्राथमिक मानव सृष्टि के आरम्भ से लेकर अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में आज तक चला आ रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि विश्व के इस विशाल प्रांगण में मानवजाति की उत्पत्ति एवं विचारशक्ति का प्राथमिक सूत्रपात का समय है; क्योंकि आर्यजाति विश्व की प्राचीनतम जाति है, उसकी संस्कृति भारत की संस्कृति है, उसके दार्शनिक विचार भारतीय दर्शनशास्त्र का आधार है और वह प्रागैतिहासिक काल की सम्पत्ति है। आधुनिक इतिहास की संकीर्ण सीमा में उन्हें मर्यादित नहीं किया जा सकता।

सृष्टि के प्रारम्भ से इस देश दार्शनिक विचारधारा का प्रवाह कब किस किस क्षेत्र में होकर प्रवाहित होता रहा है और किस किस समय, किस किस देश में उसमें किस प्रकार के परिवर्तन, परिवर्द्धन तथा संशोधन आदि होते रहे हैं इस सबका क्रमवद्ध संकलन ही दर्शन शास्त्र का इतिहास है और वह विश्वदर्शन का इतिहास एक अत्यन्त व्यापक महान और गंभीर विषय है। सृष्टि के आरम्भ से आज तक के दार्शनिक विचारों का क्रमबद्ध विवरण तैयार कर सकना आज एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है, परन्तु फिर भी इस समय जो कुछ इतिहास उपलब्ध हो रहा है उसके अनुसार प्राचीन यूनान और भारत इन दो देशों में दर्शन शास्त्र की प्राचीनतम विचारधाराओं के स्वरुप की उपलब्धि होती है। उनके अनुशीलन और पर्यालोचन के आधार पर ही दार्शनिक विचारधारा के क्रमिक विकास का यथार्थ ज्ञान हो सकता है।

दार्शनिक विचारों के लिए यूनान भारत का ऋणी है :

यूनान देश पाश्चात्य संस्कृति का जन्मदाता और योरोपियन दर्शनशास्त्र का आदि प्रवर्तक है। सुदूर अतीत में उसकी मनोरम भूमि और रमणीय उद्यान अनेक शताब्दियों तक विश्व यात्रियों के लिए अपूर्व आकर्षण के स्थान रहे हैं। विभिन्न देशों के असंख्य जिज्ञासुओं ने उस देश के निकुंजों में बैठ कर अपनी अतृप्त आकांक्षाओं को पूर्ण किया, अपनी आत्माओं को पवित्र किया और अपने देश के कल्याण के लिये संस्कृति का पाठ पढ़ अपने को कृतार्थ किया था। पाश्चात्य जगत् में आज ज्ञान विज्ञान का जो कुछ प्रकाश दिखाई दे रहा है मूल रुप में वह यूनान की ही देन है। उसमें भी विशेषतया पाश्चात्य देशों के दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्माण तो पूर्णतया यूनानी दर्शन के आधार पर ही हुआ है। आज भी पाश्चात्य दर्शनों के इतिहास में सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के नाम गौरव के साथ स्मरण किए जाते हैं।

परन्तु यूनानी दर्शन के सिद्धान्त और उनके क्रमिक विकास का अध्ययन करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि दार्शनिक विचारों के लिये यूनान भारत का ऋणी है। यूनान देश के इतिहास से पता चलता है कि यूनान के दार्शनिक विचारों का सूत्रपात वस्तुतः यूनान देश में नहीं अपितु एशिया माइनर में यूनान के पूर्वीय उपनिवेश मिलटस में हुआ था। इसी से यूनानी दर्शन का प्रारंभिक सम्प्रदाय अपनी जन्मभूमि के नाम पर ही मिलेशियन सम्प्रदाय के नाम से विख्यात हुआ है। इस पूर्वीय उपनिवेश में यूनान के आदि व दार्शनिक थेलिज़, और अैनग्ज़ीन्डैर को भारतीय

विचारों का दिव्य आलोक प्राप्त हुआ जिसने योरोप के दार्शनिक विमर्श का पथ-प्रदर्शन किया और यूनान को दार्शनिक विचारों का आदि गुरु होने का गौरव प्रदान किया।

भारत और यूनान के आदि दार्शनिकों के बीच सिद्धान्तों की ऐसी स्पष्ट समानताएँ दिखाई देती हैं कि जिनको देखते ही देखने वाले का ध्यान उन दोनों देशों के सबन्ध की ओर आकृष्ट हो जाता है। दोनों देशों के दार्शनिक सिद्धान्तों की वह स्पष्ट समानताएँ स्वतन्त्र आलोचना का विषय हैं, उनके विस्तृत विवरण में हम इस समय नहीं जाएँगे। परन्तु उस सबसे यह बात स्पष्ट है कि यूनान के दार्शनिक विचारों पर भारतीय विचारों की पर्याप्त छाप है। श्रीयुत कोलब्रुक जैसे निष्पक्ष विद्वानों ने भी मुक्त कंठ से इस तथ्य को स्वीकार किया है।

'ऐडवर्टिंग टू व्हाट हैज़ कम टू अस आफ़ द हिस्ट्री आफ़ पाइथगोरस, आई शैल नाट हैसीटैट टू एकनालिज एन इनक्लीनेशन टू कनसीडर द ग्रीशियन टु हैव बीन इनडैटड टु इण्डियन ऐज़ देयर इंस्ट्रैक्टर'।

अर्थात् पाइथगोरस का जो कुछ ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध होता है उसको देखते हुए मुझे इस बात के स्वीकार करने में संकोच नहीं करना चाहिए कि यूनानी लोग अपने दार्शनिक विचारों के लिये अपने भारतीय शिक्षकों के ऋणी हैं।

भारत ने यूनान की दार्शनिक विचारधारा को कैसे प्रभावित किया इस विषय का विवेचन करते हुए फ़िलासफ़ी आफ़ एनशंट इण्डिया के लेखक ने पृ० ३८ पर स्पष्ट रूप से लिखा है कि :

'द हिस्टोरिकल पासिबिलिटी आफ़ द ग्रीशियन वर्ल्ड आफ़ थाट बींइंग इनफ्ल्यूएन्सड बाई इण्डिया, द मीडियम आफ़ परशिया मस्ट अनक्वैश्चनेबली ग्रान्टैड,एन्ड विथ इट दि पासिबिलिटी आफ़ द एबव मैनशन्ड आइडिया बीईंग ट्रांसफ़र्ड फ्राम इन्डिया टु ग्रीस।'

अर्थात् यूनान की विचार धारा पर्शिया के माध्यम द्वारा भारतीय विचारधारा से प्रभावित हुई है। इस ऐतिहासिक संभावना को निश्चित रूप से स्वीकार करना ही चाहिए और उसके साथ यह भी मानना ही चाहिए कि उपर्युक्त दार्शनिक विचार भारत से ही यूनान में पहुँचे।

इस प्रकार भारतीय एवं यूनानी दर्शन की अनेक सैद्धान्तिक समानताओं, दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध की ऐतिहासिक संभावनाओं और श्री कोलब्रुक आदि निष्पक्ष विशेषज्ञ विद्वानों की तर्कानुमोदित सम्मतियों के आधार पर असन्दिग्ध और निःसंकोच भाव से यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन शास्त्र विश्व का प्राचीनतम दर्शन शास्त्र है, उसने न केवल भारतीय संस्कृति का ही निर्माण किया है अपितु सुदूरवर्ती प्राचीन यूनान और उसके द्वारा समस्त विश्व की संस्कृति एवं विचारधारा को प्रभावित किया है। इस दृष्टि से भारतीय दर्शन शास्त्र महत्व और विश्व दर्शन का अध्ययन करने वालों के लिए उसका आकर्षण और भी बढ़ जाता है। भारतीय दर्शन ही विश्व दर्शन का आधार और प्राचीनतम दर्शन शास्त्र है। अतएव इस प्रश्न को अन्तः सांस्कृतिक और अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का प्रश्न समझना चाहिए।

भारत का प्राचीनतम वैदिक दर्शन और उसका विकास क्रम

विश्व दर्शन के इतिहास में भारतीय दर्शन शास्त्र का विकास क्रम जितना अधिक महत्वपूर्ण है उतना ही अधिक कठिन और विवादग्रस्त है उसका निर्धारण करना। भारतीय इतिहास में एक समय ऐसा आया है जो ऐतिहासिकों में दार्शनिक काल के नाम से प्रसिद्ध है, ग्रन्थ रूप में इस समय उपलब्ध होने वाले अधिकांश दार्शनिक साहित्य की रचना उसी काल में हुई है। परन्तु दर्शन शास्त्र के उस प्रकृत क्षेत्र में आने से पहिले और ग्रन्थ रूप में दार्शनिक विचारों के संकलित होने के पूर्व भी न जाने कितनी मूक सहस्राब्दियाँ व्यतीत हो गईं जिनके भीतर होकर दार्शनिक विचार धारा का स्रोत अव्यक्त रूप से प्रवाहित होता रहा है, वस्तुतः देखा जाय तो उन मूक सहस्राब्दियों ने भारत के दार्शनिक काल का निर्माण किया है और उस दीर्घ काल में अव्यक्त रूप से क्षीण रूप में जो विचारधारा प्रवाहित हो रही थी समय पाकर वही दार्शनिक काल में व्यक्त हो गई। प्रकृत क्षेत्र में आने के पूर्व, इस अव्यक्त काल में भारत की दार्शनिक विचारधारा का क्रमिक विकास कैसे हुआ इसका सूक्ष्म विश्लेषण करने के लिए हम उस समस्त काल को वेद, 'ब्राह्मण', आरण्यक और उपनिषत्काल इन चार भागों में विभक्त करेंगे।

वैदिक काल

भारतीय विद्वानों के मतानुसार तो वेद अनादि हैं, सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान की असीम अनुकम्पा से उनका दिव्य आलोक मानव समाज को प्राप्त हो जाता है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार भी वर्तमान काल में उपलब्ध होने वाले समस्त विश्व साहित्य की प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद है। प्राचीनता एवं मान्यता की दृष्टि से वेद ही भारतीय संस्कृति का आधार और ज्ञान सरिता का आदि स्रोत है। भारत के धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक और राजनैतिक सभी प्रकार के विचारों का निर्माण एकमात्र वैदिक साहित्य के आधार पर ही हुआ है। भारत का धर्म वैदिक धर्म, भारत की संस्कृति वैदिक संस्कृति, और भारत का जीवन वैदिक जीवन है। वेद ही भारत का प्राण है, वेद ने ही भारतीय मस्तिष्क को जीवन दान दिया है और वेद ने ही भारत में विचारशक्ति का विकास एवं भारतीय संस्कृति का निर्माण किया है। अतएव भारतीय दर्शन शास्त्र के प्राचीनतम स्वरूप का परिचय प्राप्त करने के लिए वैदिक साहित्य का आलोचनात्मक अनुशीलन आवश्यक और अनिवार्य है। उससे भारत के प्राचीनतम दार्शनिक विचारों का परिचय प्राप्त होगा और उनके क्रमिक विकास को शृंखलाबद्ध करने के प्रयत्न में अत्यन्त सहायता मिलेगी।

वेद और वैदिक साहित्य के विषय में अनेक पाश्चात्य विद्वानों की अत्यन्त संकीर्ण एवं अनुदारतापूर्ण धारणाएँ हैं, वह वेदों को गडरियों के गीत कहते और उनको अनर्थक प्रलाप-सा मानते हैं। इनमें कोई ऊँचा आदर्श, कोई ऊँची भावना और कोई उदात्त तत्व प्रतिपादन किया गया हो यह उनकी कल्पना से बाहर है। तब फिर दर्शन शास्त्र के गूढ़ तत्व और सूक्ष्म सिद्धांत भी कहीं वेद में पाये जा सकते हैं ऐसी सम्भावना उन्हें स्वप्न में भी नहीं हो सकती। यही नहीं, अपितु जो लोग वेदों के विषय में अपेक्षाकृत कुछ उदार विचार रखते हैं उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जो वेदों को [illegible]

के दार्शनिक तत्वों के अस्तित्व की संभावना पर विश्वास करते हैं। परन्तु हमारे विचार में वह दोनों ही वस्तुतः तथ्य से बहुत दूर हैं। वेदों में दर्शन शास्त्र के मौलिक प्रश्नों की मीमांसा बड़े सुन्दर ढंग से की गई है। भिन्न भिन्न स्थानों पर की गई इस मीमांसा के प्रसंग में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन वेद में हुआ है वही दर्शन शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त हैं और वही वैदिक साहित्य के दार्शनिक विचार कहे जा सकते हैं। इन सिद्धांतों में अनेक सिद्धांत ऐसे हैं जो उत्तरवर्ती दर्शन साहित्य के प्रकृत क्षेत्र में भी लगभग उसी रूप में व्यवहृत एवं समादृत हुए हैं और आज के दार्शनिक क्षेत्र में लगभग उसी रूप में पाये जाते हैं। ऐसे मौलिक सिद्धान्त दर्शन शास्त्र के लिए वैदिक साहित्य की मौलिक एवं बहुमूल्य देन हैं। उनके लिए दर्शन शास्त्र वस्तुतः वैदिक साहित्य का अत्यन्त ऋणी है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे विचार भी वेद में पाये जाते हैं जो दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं, परन्तु उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य में उनका कम उपयोग हुआ है और कहीं कहीं तो उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य ने उन विचारों को सर्वथा परित्याग कर नवीन विचारों को स्थान दिया है, अतएव इस प्रकार के सिद्धान्तों को मौलिक मतभेद का सिद्धांत कहना चाहिए। दार्शनिक विचारधारा के क्रमिक विकास का अध्ययन करने की दृष्टि से मतभेद के इन सिद्धान्तों का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है, अतएव हम सर्व प्रथम मौलिक मतभेद के प्रधान सिद्धांत का विवेचन करेंगे।

क्या संसार दुःख रूप है?

मौलिक मतभेद के जिस सिद्धान्त का विवेचन करने का यत्न हम कर रहे हैं उसके विषय में वेद और उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य में पर्याप्त अन्तर है। उस अन्तर को हृदयंगम करने के लिए हमें यह बात भली भाँति समझ लेनी चाहिए कि वेद देव का अमर काव्य है। स्वयं वेद ने ही अपने को देव का अमर काव्य उद्घोषित किया है।

'पश्य देवस्य काव्यं, न ममार न जीर्यति'

काव्य और दर्शन में जितना भेद होता है इस मौलिक सिद्धान्त के विषय में वेद और उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य में लगभग उतना ही भेद है। काव्य पद्य रूप है और दर्शन गद्य रूप। काव्य हृदय की सम्पत्ति है और दर्शन मस्तिष्क की उपज, काव्य का साम्राज्य सौंदर्य है और दर्शन का सौन्दर्य याथार्थ्य, इसी दृष्टि से वेद और दर्शन ने विश्व को दो भिन्न रूपों में देखा है—विश्व दर्शन के विषय में उनके दृष्टिकोण में वैसा ही मौलिक मतभेद है जैसा कि काव्य और दर्शन में होना चाहिए।

भारत के दार्शनिक क्षेत्र में प्रधान साम्राज्य वैराग्य का है और दोष दर्शन उसका सहकारी है। दर्शनशास्त्र ने जिस अपवर्ग को मानव जीवन का ध्येय माना है उसकी प्राप्ति के लिए अनेक मार्गों का निरूपण उसने किया है परन्तु उन सब में ही सांसारिक सुखभोग और ऐश्वर्य के प्रति विरक्ति का होना अनिवार्य और आवश्यक रखा गया है। पूर्ण वैराग्य के बिना वस्तुतः दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में प्रविष्ट होने का अधिकार भी किसी साधक को नहीं है। वैराग्य की इसी भावना को उद्भावित, विकसित और परिपुष्ट करने के लिए दर्शन शास्त्र संसार को अत्यन्त हेय और गर्हित रूप

में अंकित किया है। संसार वस्तुतः दुःखमय, हेय और एकान्ततः परित्याज्य है। यही दर्शन शास्त्र का प्रधान भाव है, इसी आधार शिला पर दर्शन शास्त्र के विशाल भवन का निर्माण हुआ है। दार्शनिक क्षेत्र से यदि विश्व की दुःखरूपता के इस प्रधान भाव को पृथक् कर दिया जाय तो वस्तुतः भारतीय दर्शन शास्त्र की आधारभित्ति का ही विलोप हो जाता है। संसार के स्वरूप के विषय में वेद और दर्शन के दृष्टिकोण में यहीं पर काव्य और दर्शन का सा भेद पाया जाता है। दर्शन गद्य रूप है, उसने विश्व को दुःखमय रूप में ही देखा और उसके सुखमय पहलू को जैसे देख कर भी देखना नहीं चाहा है, इस अनन्त और अपरिच्छेद्य विश्व में केवल दुःख-द्वन्द्व और दैन्य की ओर ही उसने ध्यान दिया है, उसके सुंदर सुखद स्वरूप को देखने का अवसर जैसे उसे मिल ही नहीं पाया है। सौंदर्य का स्वर्गीय सुखस्वप्न उसे लुभा नहीं सका, प्रेम, करुणा, त्याग एवं बलिदान की दिव्य भावनाएँ भी उसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकीं, इन सबके बीच में भी वह जैसे इन सब से परे, इन सबसे अलग, इन सबसे ऊँचे, अलिप्त, अविचल, स्थिर रूप में खड़ा है। संसार का कोई भी प्रलोभन उसे डिगा नहीं सकता। कोई भी आकर्षण उसे लुभा नहीं सकता। माता के प्यार में, बालक के मंजुल हास्य में, पक्षियों के मृदुल कलरव में, उषा के मन्द स्मित में और प्रकृति की निरपेक्ष वदान्यता में भी उसे बन्धन की गन्ध आती है, उसे भी यह सह नहीं सकता। रेशम का सुन्दर, सुकोमल वस्त्र अपने मृदुल सुखस्पर्श से जैसे समस्त शरीर के लिए आह्लाददायक होता हुआ भी यदि उसका कोमलतम तन्तु भी आंख में पड़ जाय तो उसके लिए क्लेश का ही कारण हो जाता है इसी प्रकार योगमार्ग के पथिक के चित्त की उपमा अक्षि-पात्र से देकर लौकिक सुखों की दुःखरूपता का उपपादन दार्शनिक आचार्यों ने किया है। इस मनोवृत्ति ने भारतीय समाज को पूर्ण रूप से व्याप्त कर रखा है। इसी दुर्दान्त भावना के वशीभूत होकर तो माता की स्नेहमयी गोद में सुखपूर्वक सोये हुए नन्हें से नवजात शिशु की, साम्राज्य के विशाल वैभव की और प्रियतमा यशोधरा के निर्व्याज स्वर्ग-स्नेह की उपेक्षा कर कुमार सिद्धार्थ अर्द्ध निशा के समय क्षण भर में राजप्रासाद का परित्याग कर कंटकाकीर्ण वन-मार्ग के पथिक बन गए थे। वैराग्य की इस भावना ने ही राजकुमार सिद्धार्थ को भगवान बुद्ध के रूप में परिणत किया था। विश्व के कुत्सित एवं दुःखमय स्वरूप को देख कर उसके प्रति विरक्त हुए बिना कोई भी आत्म-दर्शन का अधिकारी नहीं बन सका है। विश्व की इसी दुःखरूपता से खिन्न होकर उससे बचने के लिए दर्शन शास्त्र ने स्वर्ग या अपवर्ग को अपना ध्येय बनाया है जहाँ दुःख, द्वन्द्व और दैन्य नहीं हैं, जो आनन्द रूप है, जो अजर और शाश्वत है, जो सत्य, शिव और सुन्दर है। इस एकान्ततः दुःखमय विश्व का परित्याग कर उस अलौकिक आनन्द, उस अजर अमर शाश्वत अमर पद को प्राप्त करना ही मानव जीवन का ध्येय होना चाहिए यही दर्शन शास्त्र का उपदेश और आदेश है।

परन्तु वेद जो भगवान का अमर काव्य है, विश्व के सौंदर्य को सुन्दरतम रूप में अंकित करने का प्रयास करता है, ऊषा का हास्य, संध्या का राग, माता का प्यार और पत्नी का निरपेक्ष समर्पण वेद में बड़े सुंदरतम रूप में चित्रित हुए हैं। कारुण्य, वदान्यता, त्याग और सेवा की सुन्दरतम सुकोमल भावनाओं की ऐसी सुखमयी, सुंदर, सजीव अभिव्यक्ति कहीं अन्यत्र भी अंकित हुई हो इसमें संदेह ही है। संसार का कोई उज्ज्वल पहलू विश्व का कोई सुन्दर स्वरूप, कोई उच्च आदर्श-भावना ऐसी नहीं है जिसे वेद ने स्पृहणीय रूप में अंकित न किया हो। विश्व के स्वरूप के विषय में

वेद का दृष्टिकोण ही दूसरा है। विश्व में दुःख, द्वन्द्व और दैन्य भी है, इससे वेद इन्कार नहीं करता परन्तु उन के कारण संसार को छोड़ कर भाग जाने का भाव वेद में कहीं भी अंकित नहीं हुआ है। वह तो कायरता है, वैसी कायरता मानव मर्यादा के विपरीत है, इसीसे उनका उपदेश जैसे वेद करना नहीं चाहता। सांसारिक दुःख द्वन्द्वों का वीरता के साथ मुकाबिला करने का भाव ही सारे वेद में आद्योपान्त अंकित हुआ है। शत्रुओं, पापियों और अत्याचारियों के विनाश की प्रार्थना वेद में जगह जगह पर आती है, उसका एकमात्र यही आशय है कि शत्रुओं से प्राप्त होने वाले आधिभौतिक दुःखों से अपनी रक्षा करने का मार्ग जंगल में भाग जाना नहीं अपितु तलवार का अपनाना ही है। यही वेद का आदेश जान पड़ता है। कर्मयोग और कर्म संन्यास के बीच कर्मयोग का आदेश ही संहिताभाग में प्रधानतया दिखाई देता है। कर्म करो यही वेद का आदेश है, 'चरैवेति चरैवेति' यही वेद का उपदेश है और 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेत् शतं समाः' यही वेद की सर्वोत्तम शिक्षा है। उसका पालन ही मानव जीवन का सार है।

वैदिक दर्शन की दृष्टि में संसार रहने की चीज है, छोड़ कर भाग जाने की नहीं। इसीलिए स्वर्गापवर्ग की कल्पना वेद में स्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं होती। दुःख द्वन्द्वों की भाँति जो कुछ सुख, शान्ति, सौन्दर्य और आनन्द है वह भी इस संसार में ही है, उससे बाहर नहीं। जिन्होंने इस दुःखमय संसार से भाग कर उसके बाहर कहीं एक सम्पूर्ण सुखमय स्वर्गलोक की कल्पना करने का प्रयास किया है उनकी वह कल्पना भी एक वृथा विडम्बनामात्र सी जान पड़ती है। केवल इस पृथ्वी लोक का नाम ही तो संसार नहीं, वह तो विशाल विश्व का एक छोटा सा भाग ही है, विश्व के अगणित लोक लोकान्तरों की भाँति यदि यह स्वर्गलोक कुछ है भी तो वह संसार की सीमा के बाहर नहीं, उसके अन्तर्गत ही रहेगा। इसी से संसार को छोड़ कर भाग जाने की सामर्थ्य किसी में है नहीं उसके लिये प्रयास भी व्यर्थ है। फिर वह जिन्होंने कि ऐसे स्वर्ग लोक में अमृतत्व का लाभ किया है, क्या काम क्रोध की मानवीय दुर्बलताओं के शिकार नहीं बने हैं? क्या वह आसुरी विभीषा से संत्रस्त नहीं हुए हैं? इसीसे इस पृथ्वी लोक से, इस संसार से भाग कर भी हम दुःख द्वन्द्वों से बच नहीं सकते। तब फिर उनसे डर कर भागने का प्रयोजन ही क्या है? दुःख द्वन्द्वों और विघ्न बाधाओं के सामने डटकर मस्तक झुकाए बिना अपने को अजेय बना डालना क्या मानव जाति के लिए परम श्रेयस्कर नहीं है? इसी से संसार के दुःख द्वन्द्वों से घबड़ा कर भागने का आदेश वेद ने नहीं दिया है। कर्मफल की आकांक्षा का परित्याग कर भगवदर्पण-बुद्धि से यावज्जीवन शुभ कर्मों का अनुष्ठान करते हुए अपनी जीवन यात्रा को दृढ़तापूर्वक पूर्ण करने का प्रयत्न करना चाहिए। यही वैदिक आदेश है फलाकांक्षा का परित्याग और भगवदर्पण-बुद्धि यह दोनों ऐसे अभेद्य कवच हैं कि दुःख द्वन्द्व और निराशा की भीषणतम ज्वालाओं के बीच खड़े होने पर वह साधक का स्पर्श कर नहीं सकती और साधक के मुखमंडल पर कभी भी मालिन्य की छाया दिखाई नहीं दे सकती। इसलिए फलाकांक्षा को छोड़ कर भगवदर्पण बुद्धि से कर्मयोग का अवलम्बन कर विघ्न बाधाओं के सामने अपने को अजेय बनाने का प्रयत्न सदैव करना चाहिए यही मानव जीवन का उद्देश्य है, यही वेद का आदेश, उपदेश और अनुशासन है। यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में इसी का प्रतिपादन हुआ है।

संसार के स्वरूप के विषय में वेद और उत्तरवर्ती दर्शनशास्त्र का जो यह मौलिक दृष्टिभेद है दर्शनशास्त्र के क्रमिक विकास के इतिहास में उसका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु आलोचकों ने उसकी ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है। वेद में उपलब्ध होने वाले दार्शनिक सिद्धान्तों में दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त है वैदिक साहित्य का अपना उपासना कांड।

वैदिक साहित्य भक्तिप्रधान साहित्य है, उसके बहुत बड़े भाग में इन्द्र, वरुण, अर्यमा आदि विभिन्न नामों से ईश्वर स्तुति के रूप में भक्ति भावों का समावेश किया गया है। उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य के विभिन्न संप्रदायों ने स्वर्ग या अपवर्ग में से जिस किसी को भी अपना ध्येय निश्चित किया है उसकी प्राप्ति के अनुरूप साधनों का निरूपण भी उन्होंने किया है। यह साधन मुख्यतः तीन विभागों में विभक्त किए गए हैं। और दार्शनिक साहित्य में वही क्रमशः ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग के नाम से विख्यात हैं। आस्तिक दर्शनों में से पूर्व मीमांसा कर्ममार्ग का और सांख्य आदि दर्शन ज्ञानमार्ग के अनुयायी माने जाते हैं। उत्तरमीमांसा या वेदान्त दर्शन पर दो प्रकार की व्याख्याएं लिखी गई हैं—एक तो श्रीशंकराचार्य की अद्वैतपरक व्याख्या और दूसरी श्री रामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों की द्वैतपरक व्याख्या। श्री शंकराचार्य के अनुसार वेदान्त दर्शन ज्ञानमार्ग का प्रतिपादक है और श्री रामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों के अनुसार भक्तिमार्ग ही उसका प्रतिपाद्य साधन है।

वेद ने इन तीनों साधनों में से किसको अपनाया है, यह निश्चित रूप से कह सकना कठिन है, तीनों ही प्रकार के भाव भिन्न-भिन्न स्थलों पर अंकित हुए जान पड़ते हैं, फिर भी वैदिक दर्शन का प्रधान भाव भक्ति जान पड़ता है। वैदिक संहिताओं का एक बहुत बड़ा अंश ईश्वरोपासना के सुंदर भावों से ओत-प्रोत है, उसमें भगवान् के अनन्तगुणों का संकीर्तन बड़े भक्तिभाव के साथ किया गया है। वेद ने जो इतना अधिक भाग भगवान् के गुणों के संकीर्तन और ईश्वर स्तुति के अर्पण किया है और स्थल-स्थल पर अपने को भगवदर्पण करने का जो सुन्दर भाव चित्रित किया है उसी से जान पड़ता है कि वेद भक्ति भाव को प्रधान स्थान दे रहा है! नहीं तो वेद में अपने अपने स्थान पर ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का सुन्दरतम निरूपण हुआ है इसलिए उनमें से किसकी प्रधानता है यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। फिर इस विषय में यह बात विशेष रूप से स्मरण रखनी चाहिए कि कर्म और भक्ति रहित कोरा ज्ञान, ज्ञान और भक्ति रहित अकेला कर्म तथा ज्ञान रहित अन्ध भक्ति मानव समाज के लिए घातक सिद्ध हो सकती है और हुई है, इसलिए इन तीनों के यथा-योग्य समन्वय में ही मानव समाज का यथार्थ हित है ऐसा समन्वयवादियों का मत है, और वस्तुतः उसी का प्रतिपादन वेद ने किया है। मानव समाज में समष्टि और व्यष्टि की इष्ट सिद्धि का साक्षात् साधन तो कर्म ही है परन्तु ज्ञान उस कर्म का आधार और भक्ति उसका बल है। यही वैदिक सिद्धांत का भाव है।

बहुदेववाद या एकेश्वरवाद ?

इसी प्रसंग में एक और विशेष बात है जिसकी ओर ध्यान देना चाहिए। वेद के भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न नामों और रूपों में उपास्य देव का स्मरण किया गया है। इंद्र, मित्र, वरुण

आदि अनन्त नाम और रूपों में उसका उल्लेख वेद में मिलता है इसी बात को लेकर पाश्चात्य-विद्वानों ने यह मत स्थिर कर दिया है कि वेद का धर्म बहुदेववाद है। उसमें एक ईश्वर का वर्णन नहीं बल्कि अग्नि आदि जिन पदार्थों से मनुष्य ने भय का अनुभव किया उन्हीं को देवता मान कर उस समय के लोगों ने अग्नि आदि की पूजा प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार वेद के नाना देवताओं की उत्पत्ति हुई और जड़ तत्वों को देवताओं के रूप में पूजा जाने लगा। यही वेद का धर्म है, उसमें एक ईश्वर की उपासना का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक साहित्य के विषय में यही पाश्चात्य विद्वानों की धारणाओं का सारांश है।

परन्तु उनकी इस बहुदेववाद की धारणा के भीतर औचित्य की मर्यादा की रक्षा कहाँ तक की गई है यही एक चिंतनीय बात है। इन्द्र वरुण आदि नाना नामों से युक्त भगवान् का स्मरण जो वेदों ने किया है उसका उपपादन करते हुए स्वयं ऋग्वेद ने लिखा है :

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

अर्थात् एक ही भगवान् को भक्तगण उनके नाना गुणों के कारण नाना नाम रूपों से स्मरण करते हैं, कोई उन्हें अग्नि के रूप में स्मरण करता है, कोई इन्द्र, वरुण आदि नामों से उन्हीं का स्मरण करते हैं। इसी मंत्र के आधार पर श्री यास्काचार्य ने लिखा है :

महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।

स्वयं वेद तथा वैदिक व्याख्यानों द्वारा नाना नाम प्रयोग का स्पष्टीकरण तथा एकेश्वरवाद का स्पष्ट प्रतिपादन होते हुए भी वेदों पर बहुदेववाद का आरोप अन्याययुक्त जान पड़ता है।

मौलिक समस्याओं का विवेचन ?

वैदिक साहित्य में उपलब्ध होने वाले दार्शनिक विचारों में से ऊपर के दो प्रमुख सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, और उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य से पर्याप्त अंश में भिन्न हैं इसीलिए सबसे पहले उनका दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु इनके अतिरिक्त दर्शन के प्रकृत क्षेत्र में समालोचित अन्यान्य महत्वपूर्ण दार्शनिक समस्याओं की चर्चा भी वैदिक शास्त्र में अनेक स्थलों पर हुई है और विशेषतया जिन मौलिक समस्याओं का हल करने के लिए दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति हुई है, वैदिक साहित्य ने उन सभी समस्याओं की विशद् विवेचना करने का प्रयत्न किया है। यह दृश्यमान जगत क्या है ? कहाँ से आया और कहाँ जायगा ? मैं क्या हूँ, इस संसार में क्यों विचरण कर रहा हूँ, क्या शरीर के साथ ही मेरी उत्पत्ति और विनाश निश्चित हैं या मेरा आदि स्थान और पर्यवसान और कहीं है ? हम दोनों द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य के सिवा क्या इस संसार में किसी और वस्तु का भी अस्तित्व है ? यही मौलिक प्रश्न हैं जो अनादि काल से मानव मस्तिष्क को परेशान कर रहे हैं। उनका उत्तर समझे बिना हृदय को शान्ति नहीं होती। मानव जाति के श्रेष्ठतम मस्तिष्कों ने सहस्राब्दियों और लक्षाब्दियों के बीच इन्हीं प्रश्नों की मीमांसा करने का जो अनवरत प्रयत्न किया है उसी का सारांश निचोड़ कर दर्शन शास्त्र में एकत्रित कर दिया गया है। अनादिकाल

से सत्यानुसन्धान के लिए किए गए मानवसमाज के विविध प्रयोगों का इतिहास ही दर्शन शास्त्र के क्रमिक विकास का इतिहास है।

वैदिक साहित्य में भी दर्शन शास्त्र के इन मौलिक प्रश्नों की मीमांसा बहुत विस्तार के साथ अनेक स्थलों पर की गई है जिनमें से ऋग्वेद के नासदीह सूक्त, अस्य वामस्य सूक्त के नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। यह दोनों सूक्त वैदिक साहित्य के दार्शनिक सूक्त हैं, उनमें आद्यान्त दर्शन-शास्त्र की मौलिक समस्याओं की विवेचना की गई है। इनमें से प्रथम नासदीय सूक्त सृष्टि विद्या से सम्बन्ध रखता है और दृश्यमान् जगत् के विषय में उत्पन्न होने वाली जिज्ञासा का उत्तर देने का प्रयत्न करता है। बाह्य विश्व के विषय में जिस प्रकार की जिज्ञासा और तर्क वितर्क आज हमारे सामने उठते हैं ठीक उसी रूप में यह समस्या वैदिक व ऋषियों के सामने भी उपस्थित थी। नासदीय सूक्त ने अत्यन्त सरल और स्वाभाविक रूप में मानव हृदय की उस जिज्ञासा को अङ्कित किया है।

'किं स्विद् वनं क उ वृक्ष आस, यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः'

वह कौन सा वन है और कौनसा है वह वृक्ष जिससे द्युलोक, पृथ्वी लोक और इस विशाल विश्व का विधाता ने निर्माण किया होगा।

'को अद्धा वेद, क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः'

कौन जानता है और कौन यह बतला सकता है कि यह संसार कहाँ और कैसे पैदा हुआ और कहाँ जा रहा है ?

विश्वोत्पत्ति से पूर्व की अवस्था का वर्णन करते हुए इसी सूक्त में लिखा है।

नासदासी न्नो सदासी त्तासीद्रजो नो व्योमा परो यत्र।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नाय: किमासीद् गहनं गभीरम्॥

इस मंत्र का ठीक अर्थ क्या है यह कह सकना कठिन है। अनेक विद्वानों ने उसका अर्थ भिन्न भिन्न प्रकार से किया है। आधुनिक भाषा के शब्दों में यदि कहा जाय तो उसमें वर्त्तमान छाया-वाद की छाया सी जान पड़ती है और उसका अर्थ मंत्र में प्रयुक्त हुए 'गहनं गभीरं' शब्द के समान सचमुच गहन और गम्भीर सा ही हो गया है। विश्व के आदि कारण का निरूपण करते हुए शून्यवाद से लेकर ब्रह्मवाद तक जितने कारणों की कल्पना आज तक विभिन्न दर्शनकारों ने की है, भिन्न-भिन्न व्याख्याओं के अनुसार उन सबका ही संकेत इस मंत्र में मिलता है। इसी से यह मंत्र दार्शनिक साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध हो गया है। विश्व का वह आदि कारण क्या और किस रूप का है इस विषय में मतभेद होते हुए भी यह निश्चित है कि इस मंत्र में उस आदि कारण की ओर ही संकेत किया गया है। और वही दार्शनिक क्षेत्र में प्रकृति आदि नाना नामों से व्यवहृत।

उस अव्यक्त अनादि कारण से इस नाना नाम रूपात्मक व्यक्त जगत् का विकास कैसे हुआ यह एक दूसरा प्रश्न है जो इसके साथ ही उत्पन्न होता है और जिसके विषय में विश्व के विभिन्न

धर्मों में भिन्न भिन्न प्रकार के विचार पाए जाते हैं। यह प्रश्न आदि कारण की जिज्ञासा वाले मूल प्रश्न से भी अधिक कठिन और विवाद ग्रस्त हैं, भिन्न भिन्न धर्मों और दर्शनों में उत्पत्तिवाद और विकासवाद आदि विभिन्न पद्धतियों का अवलम्बन कर इस प्रश्न का समाधान किया गया है। नासदीय सूक्त और अन्य वैदिक साहित्य में उसका उपपादन तप का आश्रय लेकर किया है :

तपसस्तन्महिना जायतैकम्।

विश्व का वह एक आदि कारण केवल तप की महिमा नाना नाम-रूप से परिणत हो गया।

ऋग्वेद के दूसरे वैदिक ऋषि अघमर्षण ने भी :

'ऋतं च सत्यंच अभिद्धात्तपसो जायत'

के शब्दों में तप को ही इस विविध विश्व के विकास का प्रयोजक स्वीकार किया है। ब्राह्मण और उपनिषद् आदि उत्तरवर्ती साहित्य में इसी भाव को बोधित करने के लिए अभिध्यान, ईक्षण, काम और संकल्प आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है इससे प्रतीत होता है कि वैदिक साहित्य का तप शब्द लौकिक भाषा में अभिध्यान, ईक्षण या संकल्प का पर्यायवाची है। प्रारम्भ में जगत् का आदि कारण एक था, विश्व की वर्तमान विभिन्नता और विलक्षणता उस समय नहीं थी। उस एकता से अनेकता का और उस समानता से विलक्षणता का विकास किसी के तप, अभिध्यान, ईक्षण या संकल्प के द्वारा हुआ।

स ऐक्षत, एकोऽहं बहु स्याम्।

उसने संकल्प किया कि एक अनेक रूप में परिणत हो।

इस अभिध्यान, तप, ईक्षण या संकल्प के बल से ही जगत् एक आदि कारण से नाना नाम रूपात्मक व्यक्त जगत् का विकास हुआ, यही नासदीय सूक्त, अघमर्षण और अन्य आचार्यों का अभिप्राय जान पड़ता है। बहुत मोटे और लौकिक शब्दों में यदि कहा जाय तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि यह समस्त दृश्यमान जगत् सांकल्पिक सृष्टि है।

सांकल्पिक सृष्टि की उत्पत्ति उपादान सापेक्ष भी हो सकती है और उपादान निरपेक्ष भी। इसी प्रकार उसे मिथ्या भी कहा जा सकता है और सत्य भी। नासदीय सूक्त की व्याख्या और सांकल्पिक सृष्टि के आधार पर ही कदाचित् शंकराचार्य ने और उनके समान विचार रखने वाले अन्य आचार्यों ने ब्रह्म को जगत् का निरपेक्ष अर्थात् अभिन्न निमित्तोपादान कारण माना है और जगत् को व्यावहारिक सत्य तथा परमार्थतः मिथ्या प्रतिपादित किया है। इसी के आधार पर बौद्धों के निरपेक्ष विज्ञानवाद और निरपेक्षतम शून्यवाद की सृष्टि हुई। पुरुष के भोग और अनुभव को अवास्तविक मानने वाले सांख्य सिद्धान्त का आधार भी यही जान पड़ता है और न्याय आदि दर्शनों की उपादान सापेक्ष सृष्टि का प्रतिपादन करने की सामग्री भी उसमें उपस्थित है। इस प्रकार इस नासदीय सूक्त में दर्शनशास्त्र के अनेकानेक सम्प्रदायों का ही बीज मिल सकता है इसीलिए हम देखते

हैं कि उसकी नाना प्रकार की व्याख्याएँ की गईं और उनके आधार पर अनेक सिद्धान्तों का सम्बन्ध इस वेदमंत्र से जोड़ा गया है। अनेक विशेषज्ञ विद्वानों का यही मत है कि नासदीय सूक्त में भारतीय दर्शन की अनेक शाखाओं का बीज पाया जाता है।

जीवात्मा का स्वरूप

दर्शन शास्त्र की दूसरी और मुख्यतम जिज्ञासा अपने स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली है। मैं क्या कहूँ ? क्या इस दृश्यमान शरीर के साथ ही मेरा आदि और अन्त है ? अथवा इस शरीर को छोड़ देने के बाद भी कहीं मेरा अस्तित्व रहेगा ? मैं इस संसार में क्यों आया, कब तक यहाँ रहूँगा, फिर क्या होगा, कहाँ जाना होगा ? यह सब समस्याएँ हैं जो प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के सामने उपस्थित होती हैं, हम अहर्निश उनके विषय में सोचते हैं पर उनका यथेष्ट समाधान हो नहीं पाता। अपने अन्तरंगतम जिस विषय में हमको परिपूर्ण और सूक्ष्मतम बातों का साक्षात् ज्ञान होना चाहिए था उनके विषय में भी जब हम अपने को अभेद्य अन्धकार में भटकता देखते और निकलने के लिए प्रकाश की एक क्षीण रेखा भी कहीं देख नहीं पाते तब हमारी व्याकुलता का पारावार नहीं रहता। मानव हृदय की उसी व्याकुलता का वर्णन ऋग्वेद के अस्य वामस्य सूक्त में बड़े सुन्दर और स्वाभाविक ढंग से किया है।

'मैं नहीं जानता, मैं समझ नहीं पाता कि मैं यह हूँ अर्थात् मेरा स्वरूप क्या है ? मानसिक व्यापात्ति के आवरण से अभिभूत होकर मैं अस्तित्व-हीन सा मूढ़ हो इतस्ततः घूम रहा हूँ।'

'मैं अपने को जान नहीं पाता, अपने स्वरूप को समझ नहीं पाता यह कैसी दयनीय मेरी दशा है। इसी से व्याकुल होकर मैं अनुभवी और विद्वान् महानुभावों से प्रार्थना करता हूँ कि दया कर मुझे अपने निज स्वरूप का परिज्ञान कराइए।'

अस्य वामस्य सूक्त ऋग्वेद के प्रथम मंडल का १६४ वाँ सूक्त है, उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय आत्मा है। एक प्रकार से इस समस्त सूक्त को आध्यात्मिक सूक्त कहना चाहिए। उसमें कुल ५२ मंत्र हैं और उन सब में आत्मा या आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले अन्य महत्वपूर्ण विषयों का वर्णन किया गया है। इस सूक्त के द्रष्टा ऋषि का नाम दीर्घतमा है। ऊपर के दोनों मंत्रखंड इसी अस्य वामस्य सूक्त से लिए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें वस्तुतः हमारे हृदय की व्याकुलता ही जैसे घनीभूत होकर प्रतिबिम्बित हो रही हो। आत्मबोध की यह जिज्ञासा नित्य है। हमारे हृदय में आज भी ठीक उसी रूप में उदित होती है जिस रूप में वह दीर्घतमा के हृदय में उदय हुई थी, परन्तु अपनी उस जिज्ञासा का समाधान हम कर नहीं पाते मानों आज हम इसीलिए नास्तिकता के प्रवाह में विलीन कर देते हैं।

हमारे हृदय की इसी आत्म जिज्ञासा का वर्णन और उसका समाधान दीर्घतमा ऋषि ने इस सूक्त में प्रस्तुत किया है। आत्म जिज्ञासा का जैसा सुन्दर और करुण चित्र इस सूक्त में अंकित किया गया उसका समाधान भी वैसा ही सुन्दर एवं हृदयग्राही बन पड़ा है। आत्मदर्शन के विषय,

और उससे सम्बन्ध रखने वाली अन्य मुख्य बातों का ऐसा यथार्थ एवं प्रौढ़ वर्णन इस सूक्त में हुआ है कि उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य ने उन सब तत्वों को बिना किसी संकोच के लगभग उसी रूप में अपना लिया है। इसीसे आत्मतत्त्व विषयक सिद्धान्तों में वैदिक एवं दार्शनिक साहित्य में आश्चर्य जनक समानता दिखाई देती है और वह समानता सर्वथा स्वाभाविक ही है।

आत्मा का विषय भारतीय दर्शन शास्त्र का प्रधानतम और अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न है। देह से अतिरिक्त आत्मा का कोई स्वतंत्र अस्तित्व है या नहीं, इस विषय को लेकर भारत में बड़े बड़े विवाद हुए हैं। उसी के आधार पर आस्तिक और नास्तिक के भेदभाव की सृष्टि हुई, उसी के आधार पर विभिन्न सम्प्रदायों की रचना हुई और उसी के आधार पर उत्कट मनोमालिन्य एवं भीषण विरोध का अवसर भी अनेक बार उपस्थित हो चुका है। भारत का आस्तिक सम्प्रदाय देहादि से अतिरिक्त आत्मा की सत्ता स्वीकार करता है और जीवित शरीर में पाई जाने वाली प्रत्येक चेष्टा का कारण उसी को मानता है। आत्मा के विषय में लगभग इसी प्रकार के विचार इस अस्य वामस्य सूक्त के ३० वें मंत्र में अंकित किये गये हैं।

विषय प्रतिपादन की दृष्टि से यह मंत्र दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। मंत्र के पूर्वार्द्ध में शरीर की अनित्यता और सारहीनता का वर्णन कर उत्तरार्द्ध में देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व, उसकी नित्यता और पुनर्जन्म आदि के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। मंत्र का भावार्थ तथा शब्दार्थ इस प्रकार हैं :

'प्राणी के जीवन काल में यह शरीर अनत्, श्वास प्रश्वास युक्त, और एजत् गतिविधि सम्पन्न होकर भले ही तुरगातु अश्व के समान सवेग ही सांसारिक व्यापारों का सम्पादन करता रहे परन्तु जीवन लीला की समाप्ति के बाद तो वह पस्त्यानाम् गृहों के मध्य जहाँ कहीं पड़ा है वहीं ध्रुव निष्क्रिय और निश्चेष्ट जड़ पड़ा रहता है। इस प्रकार मंत्र के पूर्वार्द्ध में देह की सारहीनता का प्रतिपादन किया गया है। उत्तरार्द्ध के भी दो विभाग कर लेने चाहिये। चौथे पाद में जीव के स्वरूप का वर्णन तथा तीसरे पाद में कर्मविपाक एवं पुनर्जन्म सिद्धान्त का संकेत किया गया है। जीवात्मा अमर्त्य नित्य और अमर्त्यधर्मा है। चर्मचक्षुओं से देखने पर तो वह मर्त्य इस विनश्वर शरीर से भिन्न प्रतीत नहीं होता परन्तु वस्तुतः मर्त्येनासयोनिः अमर्त्यधर्मा शरीर से सर्वथा भिन्न और अजर अमर है। मृत्यु आ जाने पर वह आत्मा इस विनश्वर शरीर को पड़ा छोड़ कर स्वधाभिः अपने कर्मों के अनुरूप विभिन्न योनियों में विचरण करता है।'

भारतीय दर्शन शास्त्र का क्रमिक विकास किस प्रकार हुआ? इसका समाधान पाने के लिये हमें प्राचीनतम दार्शनिक सिद्धान्तों का अनुसंधान करने की आवश्यकता है। इसीलिये वैदिक साहित्य जो कि न केवल भारत का अपितु विश्व का प्राचीनतम साहित्य है उसका आलोचनात्मक अनुशीलन किये बिना दार्शनिक विकास मार्ग को समझ सकना संभव नहीं है। इसीलिये हमने प्रधानतया ऋग्वेद के आधार पर वैदिक साहित्य में उपलब्ध होने वाले दार्शनिक विचारों के संकलन करने का प्रयत्न किया है। ऋग्वेद के जिन सूक्तों का उल्लेख इस प्रकरण में हुआ उनके अतिरिक्त

अन्य अनेक स्थल ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में उपलब्ध होते हैं, जिनका महत्व दार्शनिक दृष्टि से बहुत अधिक है। इनमें से यजुर्वेद का ४० वाँ अध्याय तो इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि लगभग सारा का सारा अध्याय ज्यों का त्यों उपनिषद् के रूप में उत्तरवर्ती साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया है। जो लोग यह समझते हैं कि वेद में दार्शनिक विषयों की चर्चा नहीं हुई है वह वस्तुतः उनके साथ अन्याय करते हैं।

सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो दर्शन शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली सभी मौलिक समस्याओं का सुन्दर और सूक्ष्म विवेचन वैदिक साहित्य में हुआ है और उनमें से मुख्य मुख्य लगभग सभी विषयों के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य ने जो समीक्षा की है उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य में उसकी प्रतिच्छाया स्पष्ट दिखाई देती है। उषःकाल में अनुदित आदित्य मंडल अपनी विचरणशील उज्ज्वल दीप्ति से नभोमंडल को जैसे आरक्त और उद्भासित करता है इसी प्रकार दर्शनशास्त्र के प्रकाशन के पीछे वैदिक साहित्य ही मानों दार्शनिक नभोमंडल को उद्भासित एवं आलोकित कर रहा है।

संक्षेप में यदि कहा जाय तो दर्शनशास्त्र की मौलिक समस्याओं का समाधान करने के लिए वेद के तीन तत्वों की सत्ता स्वीकार की है। विश्व के स्वरूप तथा आदि कारण की जिज्ञासा का समाधान उन्होंने प्रकृति तथा ईश्वर का अस्तित्व मान कर किया है और आत्म-जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये देहादि व्यतिरिक्त नित्य आत्मा का अस्तित्व माना है। प्रकृति जगत का उपादान कारण, ईश्वर निमित्त कारण और जीवात्मा उसका भोक्ता है। यह तीनों नित्य पदार्थ हैं, उनमें से ईश्वर और जीव चेतन तथा प्रकृति अचेतन है। संक्षेप में यही वैदिक दर्शन का सार है, जो वैदिक साहित्य के विशाल कलेवर में से यत्न पूर्वक संग्रह किया जा सकता है। स्वयं ऋग्वेद ने एक ही मंत्र में वैदिक साहित्य के सारे दार्शनिक तत्त्व को संचित करके रख दिया है।

> द्वावा सुपर्णा सयुजा सताया समान वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पल स्वाद्वति अनश्नन अन्यो अभिचाकशीति॥

यह मंत्र भी ऋग्वेद के अस्य वामस्य सूक्त का है, उसमें जैसे वैदिक दर्शन का समस्त मधुसंचय कर दिया गया है। अलंकार रूप से उसमें एक वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों का वर्णन है जिनमें से एक उस वृक्ष के फलों का आस्वादन कर रहा है और दूसरा आस्वादन न करता हुआ सुशोभित हो रहा है। यह दोनों पक्षी क्रमशः जीव और ईश्वर तथा यह वृक्ष प्रकृति है। इस प्रकार थोड़े से गिने चुने शब्दों में दर्शन शास्त्र के विस्तृत और गहन अर्थ समूह का संग्रह कर वेद ने वस्तुतः गागर में सागर भर दिया है। वैदिक साहित्य में यदि अन्यत्र कहीं भी दार्शनिक विचारों का उल्लेख न होता तो केवल यह मंत्र ही वेद के दार्शनिक मत को स्पष्ट करने में पर्याप्त था।

अचिन्त्य भेदाभेदवाद

आचार्य अनंतलाल गोस्वामी
आचार्य कृष्णचैतन्य गोस्वामी

जगत् के सब जीवों से मनुष्य जीवन में जिज्ञासा भाव की ही विशेषता है। वह शिशु काल से ही स्वभावतः अनुसन्धित्सु होता है। अनुसन्धान लिप्सा जब प्रौढ़ हो जाती है; दीखने वाले नाम रूपवान विनाशशील पदार्थ ज्ञान से जब विरक्ति होती है तब मानव यमार्थ तत्त्वों की खोज में प्रवृत्त होता है। वास्तव में वही मानव जीवन का साफल्य भी है।

पूर्वकाल में पारमार्थिक तत्त्वानुसन्धान के लिए बड़े बड़े प्रकाण्ड पंडितों ने अपनी महती प्रज्ञा शक्ति का प्रयोग कर विज्ञान सागर में डुबकी लगाई और इसी कार्य में अपना समस्त जीवन काल व्यय किया, परन्तु अदृष्ट अलौकिक, तर्कातीत तथा अनिर्वचनीय तत्त्व संस्थापन के समय सब आचार्यों का ऐक्य मत नहीं हुआ। इसी कारण औपनिषदिक सावान्तर भेद वादों की सृष्टि हुई। द्वैत अद्वैत आदि सिद्धान्तों के शंखनाद से आकाश मण्डल गूँज उठा, सब सिद्धान्तवादी अपने सिद्धान्तों की पुष्टि और परवादों का खंडन-मंडन ही करते रहे, किंतु निराकरण कुछ न हो पाया। अन्त में पूर्णावतार श्रीमन्महाप्रभु चैतन्य देव ने अपनी प्रकट लीला के समय सर्ववाद समन्वय स्वरूप 'अचिन्त्य भेदाभेद' वाद का सिद्धांत प्रकाश किया और यही माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय का सिद्धान्त है।

अचिन्त्य भेदाभेद के अनुशीलन-समय के पहले पूर्वतन प्रचलित वादों की भूमिका आवश्यक है। क्योंकि इस सिद्धान्त से उन सबका समन्वय होता है, इसलिए संक्षेप में यहाँ शाङ्करादि मत का उल्लेख करना है।

(१) श्रीमच्छंकराचार्य महाशय ने 'अद्वैतवाद' सिद्धान्त का प्रकाशन करते हुए कहा— 'ब्रह्म, जीव, जगत् में वस्तुतः अभेद है। भेद की कल्पना भ्रम है। (१) जीव (२) ईश्वर (३) शुद्ध-ब्रह्म (४) इनका परस्पर विभाग (५) अविद्या और (६) ब्रह्म अविद्या—इनका सम्बन्ध अनादि है, परन्तु शुद्ध ब्रह्म के अतिरिक्त पाँचों सान्त हैं। अर्थात् मोक्षकाल में इनकी सत्ता नहीं रह जाती। जीव—अन्तःकरणोपाधिक चैतन्य, ईश्वर—मायोपाधिक चैतन्य, शुद्धब्रह्म निरुपाधिक चैतन्य है। अद्वैतवाद में चार प्रादेशिक वेद वाक्यों को महावाक्य प्रतिपन्न करके जीव और ईश्वर का जो शुद्ध सम्बन्ध है उसे अप्रकट रख कर अभिन्नत्व का ही प्रतिपादन हुआ है।

(२) श्रीमद्रामानुजाचार्य ने अपने 'विशिष्टाद्वैतवाद' में वर्णन किया—"स्थूल चेतनाचेतन विशिष्ट और सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट—इन दोनों का अभेद ही विशिष्टाद्वैत है। फलतः जीव विशिष्ट और जगद्विशिष्ट ब्रह्म ता एक ही है परन्तु जीव में और जगत् में भेद है अर्थात् ब्रह्म के जीव और जगत्रूपी दा शरीर हैं। यह चित् (जीव) अचित् (जड़) और ईश्वर-यों तीन पदार्थ मानते हैं। वे तीनों हरि के रूप हैं। इसमें भी जीव ब्रह्म का सम्बन्ध अविकसित ही व्यक्त हुआ।

(३) श्रीमद्वल्लभाचार्य जी महाराज ने विशुद्धाद्वैतवाद की आलोचना की कि—परब्रह्म सर्व धर्म-विशिष्ट, सच्चिदानन्द, व्यापक, सर्वशक्तिमान, निर्गुण (प्राकृत गुण वर्जित) विभु आदि है, और सत् चित् आनन्द शक्ति विशिष्ट है। जब यह स्वतंत्रेच्छ परमेश्वर निजेच्छा रूप लीला से (अपने व्यापक रूप में ही कल्पित) जिस जिस अंश में आनन्द शक्ति तिरोहित रखते हैं तब जीव कहाता है, जब चित् आनन्द शक्तिद्वय तिरोहित रखते हैं तब जड़ या संसार पदवाच्य होता है। तीनों शक्तियों का तिरोहितांश अलीक है, तथा जहाँ सत् चित् आनन्द तीनों शक्तियाँ अतिरोधान रूप में हैं वही ब्रह्म है।" वह जीव और जगत को मायानिर्मित नहीं कहते। ब्रह्म किसी भी अंश में माया से आवृत नहीं होता इसलिए यह शुद्धाद्वैतवाद कहाता है जो कि-माया सम्बन्ध शून्यता का द्योतक है।

(४) सुदर्शनावतार श्री निम्बार्काचार्य महानुभाव ने 'द्वैताद्वैतवाद' पर प्रकाश डाला, कि—"ब्रह्म भगवान पुरुषोत्तम, वासुदेव श्रीकृष्ण ही हैं और वही वेदान्त के विषय स्वरूप हैं। चित्-अचित् और ब्रह्म यह तीन तत्व हैं, किन्तु चिदचिद्वस्तु ब्रह्म से भिन्न होकर भी अभिन्न है। सदंश तीनों में है, इसलिए अभेद है परन्तु आनन्दांश और चिदंश में तारतम्य है, सुतरां भेद है। श्रीमद्भग्वद्भाव लक्षण मोक्ष ही प्रयोजनीय तत्व है।

(५) श्री मन्माध्वाचार्य चरण ने अपने 'द्वैतवाद' सिद्धान्त में सिद्ध किया कि "ब्रह्म, जीव और जड़-तीनों पदार्थों में वास्तविक भेद है। श्रीमदाचार्य ने (१) ईश्वर जीव भेद, (२) ईश्वर जगत् भेद, (३) जीव जगत् भेद, (४) जीव जीव भेद, (५) जगत् जगत् भेद यों भेद पंचक निर्णय किया। द्वैत सिद्धान्तानुसार—(१) श्रीहरि परम तत्व हैं (२) जगत् सत्य है, (३) जीवों में नित्य भेद है, (४) जीव श्री हरि का दास है, (५) उनमें साधनगत उच्च नीच भाव है, (६) भगवद्दासत्व की अनुभूति ही मुक्ति है, (७) भक्ति उसका साधन है, (८) प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द प्रमाण हैं, (९) सम्पूर्ण वेदशास्त्रों से वेद्य श्री हरि ही हैं।

इस प्रकार विभिन्न सम्प्रदाय प्रवर्तक महामहिम विद्वच्छिरोमणि आचार्य चरणों ने श्रीकृष्ण द्वैपायन निर्मित ब्रह्म सूत्र की व्याख्या कर निज-निज सिद्धान्तों की पुष्टि करने के लिए दार्शनिक सुदृढ़ भित्ति की स्थापना की। इन बहुवाद विवादों के तुमुल कोलाहल में जिज्ञासु सर्वसाधारण का पथ खोजना दुष्कर हो गया, वे भटकने लगे। और उधर इन मतों के अनुयायी परवर्ती अनेकानेक विद्वानों ने आपस में खण्डन करके वादों को और भी अधिक विसम्वाद एवं विषमवाद बना दिया।

शकाब्द १४०७ श्री नवद्वीप में कलियुग पावनावतार भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु ने अवतीर्ण होकर प्राचीन और नवीन, एकत्व और बहुत्व, प्रतिकूल और अनुकूल सब वादों में

सामंजस्य स्थापित कर बहुवाद-विवाद विस्तृत वेदान्त तत्व की ऐसी सुन्दर और स्वाभाविक मीमांसा कर दी कि जिससे समीचीन वेदान्त सिद्धांत निष्पन्न हुआ।

महाप्रभु निर्दिष्ट अचिन्त्य भेदाभेदवाद की पुष्टि के लिए अन्यान्य सम्प्रदायाचार्यों की भांति वेदान्त सूत्रों की अन्य भाष्य रचना करने की आवश्यकता नहीं मानी गई।

यद्यपि श्रीमन्महाप्रभु की अप्रकट लीला के पीछे एक समय आवश्यकता होने पर श्री बलदेव विद्याभूषण महाशय ने श्री गोविन्ददेव जी के स्वप्नलब्ध आज्ञानुसार थोड़े समय में ब्रह्मसूत्र के भाष्य की रचना की और उसका नाम भी श्री गोविन्द भाष्य रखा उसमें पाँच तत्व—(१) ईश्वर (२) जीव (३) प्रकृति (४) काल और (५) कर्म निर्णीत हुए हैं और श्री माध्व मतानुसार नव प्रमेयों का परिस्फुट विवेचन हुआ है, परन्तु श्री मन्महाप्रभु ने भाष्य रूप में श्रीमद्भागवत को ही रख कर युक्ति और प्रमाण पूर्ण अचिंत्य भेदाभेद सिद्धान्त घोषित कर बिना प्रयास नदिया निवासी श्री वासुदेव सार्वभौम जैसे कट्टर अद्वैतवादी, अद्वितीय नैयायिक, भुवन विजयी विद्वान को पुरी में पदार्पण करते ही वशम्वद बना लिया और काशी में जाकर मायावादी संन्यासी कुलचूड़ामणि महामहिमान्वित पण्डित प्रवर श्री प्रकाशानन्द सरस्वती जैसे तेजवान संन्यासी को प्रबोधन कर परम भक्त प्रबोधानन्द सरस्वती बना दिया।

अचिंत्य भेदाभेदवाद में निम्बार्क सम्प्रदाय के द्वैताद्वैतवाद की भाँति सर्वत्र भेद या अभेद अभिमत नहीं है। श्री जीव गोस्वामी ने सर्वसम्वादिनी में सब सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए लिखा है कि—'अपरेतु तर्काप्रतिष्ठानात् (ब्रह्म सूत्र २।१।११) भेदष्य भेदेपि निर्मर्यादा दोष सन्तति दर्शनेन भिन्नतया चिंतयितु मशक्यत्वादभेदं साधयन्तः तद्विभिन्नतया चिन्तयितु मशक्यत्वाद्भेद मपि साधयन्तो ऽचिन्त्य भेदाभेदवाद स्वीकुर्वन्ति।' अर्थात् – दूसरे वेदान्तीगण कहते हैं कि 'तर्क के अप्रतिष्ठान के कारण भेद और अभेद में अनेकानेक दोष सिद्ध होने से भेद का स्वरूप समझना असम्भव है। इसी भाँति अभेदभाव की चिन्ता कर अभिन्नत्व भी सिद्ध भेद और अभेद की सीमा साधन करने पर उसे सिद्ध करने में चिन्ता की असमर्थता उपलब्ध होने से वे अचिंत्य भेदाभेद वाद ही स्वीकार करते हैं।' सारांश यह कि ईश्वर और जीव में जो भेद है सो भेद वास्तविक है—या अभेद वास्तविक यह बात तीनों प्रमाणों से असंदिग्धरूप में निश्चय नहीं हो पाती, यह रहस्य जीवों के लिए ज्ञानागोचर है; इसलिए भेदाभेद को अचिन्त्य मानना अनिवार्य है।

(१) प्रत्यक्ष प्रमाण में प्रतियोगी (भेद की अवधि) अनुयोगी (भेदाश्रय) को सामने आना चाहिए। दृश्य वस्तु में ही प्रत्यक्ष की योग्यता है, पर ईश्वर व्यावहारिक ज्ञान से बाहर की वस्तु है अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से भेदाभेद का निर्णय नहीं हो सकता।

(२) अनुमान भी प्रत्यक्षमूलक होता है अतः उससे भी दृढ़ आश्रय नहीं पाया जा सकता।

(३) शब्द प्रमाण से भी साधारणतः निर्णय नहीं हो पाता क्योंकि वह सामान्याकार संकेत विशिष्ट होकर सामान्याकार में ही अर्थ-बोधक होता है। मीठा कहने से सभी मधुर पदार्थों का ज्ञान

तो हो जाता है परन्तु विशेषता व्यक्त किए बिना इष्ट-मिष्ट की अर्थोपलब्धि व्यक्त नहीं होती। जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा से ही अर्थ बोध होता है। परन्तु ईश्वर में न जाति है, न प्राकृत गुण, क्रिया या संज्ञा ही है इसलिए शाब्द प्रमाण भी भेद साधन में असमर्थ हो जाते हैं, इसलिए प्रत्यक्ष अनुमान और शाब्द प्रमाणों में से भेदाभेद अनिर्णीत होने के कारण अचिन्त्य कहा गया है।

अचिन्त्य भेदाभेद छठा वाद है। अद्वैत सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं; किन्तु श्री माध्वाचार्य के द्वैतवाद का अंश विशेष का निष्कर्ष और परिष्कृत रूप है। सब पदार्थगत गम्भीर तत्त्व का प्रकृत विचार करने पर देखा जाता है कि केवल भिन्नत्त्व और अभिन्नत्त्व को लेकर वस्तुतत्त्व का निर्णय करना दुष्कर है। अनिवार्य कारणों से वस्तु की एक शक्ति विशेष को स्वीकार करना ही पड़ता है। तब शक्ति का स्वरूप से अभिन्न रूप में न समझने से भेद, और भिन्न भाव से चिन्तनीय न होनेके कारण अभेद प्रतीत होता है, फलतः शक्ति और शक्तिमान् का भेदाभेद अवश्य मानना पड़ता है और यह अचिन्त्य है, इसलिए श्रीमन्मध्वाचार्य के भेदवाद का अनुसरण करते हुए ही श्रीमन्महाप्रभु का अचिन्त्य भेदाभेद वाद उपस्थित हुआ है। नास्ति सदा अस्ति का अपेक्षित है, मरण सर्वदा जन्मापेक्षी है। उसी भाँति अभेद भी भेदापेक्षी है। द्वैतवाद की अपेक्षा करके अभेदवाद आया है।

इस विचार से यह निष्कर्ष हुआ कि---(क) अविचिन्त्य शक्ति विशिष्ट इच्छामय परब्रह्म अपनी चिच्छक्ति द्वारा स्वांश और विभिन्नांश भेद से विलास करते हैं। स्वांश द्वारा चतुर्व्यूह और असंख्य अवतारों का विस्तार होता है, उसमें पूर्ण चिच्छक्ति की क्रिया होती है और पूर्ण से प्रकाशित वे अंश सब पूर्ण शक्तिमान् होते हैं। वे प्रायः अपरब्रह्म श्रीकृष्ण के तुल्य ही इच्छामय होते हुए भी अवतारी श्रीकृष्ण की इच्छाधीन मात्र रहते हैं।

उसी भूमाचित् शक्ति का सूक्ष्म खंडांश विभिन्नांश रूप में जीव होता है, उसे तटस्था शक्ति कहते हैं। श्रीकृष्ण की स्वरूपा चित् शक्ति और माया शक्ति के मध्य की एक एक शक्ति का नाम ही तटस्था शक्ति है। वे जीव दो प्रकार के होते हैं एक नित्य बद्ध, दूसरा नित्य मुक्त। तटस्था शक्ति (जीव) जब तक स्वतन्त्र इच्छा क्रम से भगवद् उन्मुख है तब तक माया या कर्म के अधीन नहीं होता। प्राकृत रूप रसादि सबको श्रीकृष्णमय समझने और भोगेच्छा से रहित होने के कारण ही वह कर्म बन्धन में नहीं फँसता, परन्तु जो इससे विरुद्ध वासना में पड़कर माया मोहित हो, कर्म परतन्त्र और भगवद्विमुख हो जाता है, वही बद्धजीव कहाता है। जब जगत् में आने के पहिले उनके पूर्व जन्म के संस्कार [illegible] मूल हो जाते हैं, इसलिए बन्धन अनादि हो जाता है और वह [illegible] कहा जाता है।

इस प्रकार [illegible] स्वरूप ईश्वर और माया [illegible] जीव में बहुत भेद [illegible] होता है, परन्तु उसी परमेश्वर की शक्ति स्वरूप होने के कारण जीव में अभिन्नत्व भी है। श्रीमन्महाप्रभु ने 'भेदाभेद प्रकाश' कह कर अचिन्त्य की निष्पत्ति की है। अणुचैतन्य—जीव स्वभावतः पूर्ण चैतन्य—श्रीकृष्ण का दास है इसीलिए श्रीकृष्णदास कविराज महाशय ने

ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है:—'जीवेर स्वरूप हय नित्य कृष्णदास'। इस नित्य सम्बन्ध को भूलने पर ही जीव बद्ध होता है। 'हम ही चैतन्य वस्तु हैं' इस अहंकार पूर्ण अध्यास से जीव शक्ति लाभ नहीं कर सकता, परन्तु शक्तिमान् श्रीकृष्णदासत्व के अध्यास से जीव को कृष्ण-कृपा से नित्यानन्द पर्यन्त लाभ हो जाता है और यह माया बन्धन से छुटकारा पा जाता है।

इच्छामय भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु ने प्रकटलीला में लोक शिक्षार्थ माध्वसम्प्रदाय स्वीकार किया था और जीवों के कल्याणार्थ द्वैतवाद का परिष्कृतरूप प्रकाश किया जिसे माध्व गौड़ेश्वर सम्प्रदाय का अचिन्त्य भेदाभेद वाद कहते हैं, परन्तु यह संज्ञा तो सब केवल शब्द बोध के लिए है, वास्तव में तो यह सिद्धान्त सर्वभौम है।

प्रचलित ज्ञान काण्ड और कर्म काण्ड के साधन से जीवों का परम कल्याण नहीं हो सकता, विशेषतः कलियुग में वह साधन सर्वथा अनुपयोगी हैं इसलिए श्रीमहाप्रभु ने कहा कि—कृष्णदासत्व अहंकार से जीव नवधा भक्ति द्वारा भजन कर भाव-भक्ति और परम चरम पुरुषार्थ—प्रेम लाभ कर सकता है। भक्ति की प्रथमावस्था है भाव और द्वितीयावस्था है प्रेम। भाव विशुद्ध सत्व स्वरूप है। भगवन्नाम लीलादि के श्रवण मनन और अनुशीलन से जब भावोदय होता है तब मनोवृत्ति स्वरूपता प्राप्त करती है। उसी भाव का एक नाम रति भी है। बद्धजीवों को संसारिक जड़ विषयों में रति होती है वह उसके चित् भावगतभाव की जड़ विकृति मात्र है, परन्तु जब भगवदनुशीलन होता है तब वह रति सम्विदंश के भगवत्सम्बधी नाम लीलादि आस्वादन का कारण होती है और आह्लादिनी अंश में स्वयं आह्लाद उत्पन्न हो जाता है। रति ही प्रेम रूप कल्प वृक्ष का बीज है, उसके सहायक अन्यान्य भावों के उदय होने पर भावयोजक सम्बन्ध द्वारा प्रेम वृक्ष विकसित हो जाता है। रति के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रेमवृक्ष का स्वरूप गत सूक्ष्मांश नहीं है। भावगत जीवन जब उदित होता है तब प्रपञ्चों से मुक्ति हो जाती है; फलतः प्रपञ्चों में प्रवृत्ति रति की विकृति और भगवदुन्मुखता उसका स्व-रूप है।

भाव दो प्रकार के होते हैं: साधनाभिनिवेशज और प्रसादज। साधनाभिनिवेशज-भाव (१) वैध-साधन (२) रागानुग साधन—भेद से दो प्रकार का है। श्रद्धायुक्त साधक के साधनाभिनिवेशज भाव से श्रीकृष्ण चरणों में रति उत्पन्न है और वह क्रम से बढ़ कर आसक्ति और पीछे रति के रूप में पुष्ट हो जाती है रागानुगसाधनाभिनिवेशज भाव की आसक्ति और भी गाढ़ होती है। प्रसादज भाव भी दो हैं—कृष्ण प्रसादज और भक्त प्रसादज। श्री कृष्ण प्रसादज वाचिक, आलोकदान, और हार्द तीन हैं। वह किसी को वचनामृत से ही तृप्त कर देते हैं, किसी को दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं और किसी के हृदय में ही उच्चतम भावों की स्फूर्ति कर देते हैं।

प्रभु कृपा से भक्तों को भी अपूर्व शक्ति प्राप्त हो जाती है जिससे वह आप तो कृत कृत्य होते ही हैं, साथ ही शक्ति सञ्चार कर साधन शून्य जीवों को भी भाव प्रदान कर उनका उद्धार कर देते हैं। वैसे भावोदय परम साधना से ही होता है, परन्तु भक्त प्रसादज भावनिवेश से बिना पूर्ण साधना के भी भाग्यवान जीवों को भाव की प्राप्ति हो जाती है।

से देखें तो इस जन्म के जो 'क्रियमाण'-कर्म हैं वे अगले जन्म के 'संचित'-कर्म होंगे। असली कर्म, 'संचित' और 'क्रियमाण' कर्म हैं। 'प्रारब्ध' तो 'संचित' और 'क्रियमाण'-कर्म—'क्रियमाण'-कर्म जब संचित बन जाते हैं—इनके फल के प्रारंभ हो जाने का नाम है। इसीलिये जब कोई अच्छा या बुरा फल प्रारंभ हो जाता है, तब हम कहते हैं—'प्रारब्ध में ऐसा लिखा था'। बिना प्रारंभ हुए कैसे कहें 'प्रारब्ध में ऐसा था'! एक आदमी को बैठे-बैठे साँप आकर डस गया। जब तक नहीं डसा तब तक हम नहीं कहते कि प्रारब्ध ऐसा था, जब डस गया तब कहते हैं कि प्रारब्ध में ऐसा लिखा था। तब इसलिये कहते हैं क्योंकि उस समय फल मिलना प्रारंभ हो गया दीखने लगता है।

क्या क्रियमाण-कर्म स्वतन्त्र हो सकता है ?

'कर्म-सिद्धांत' की वास्तविक समस्या 'क्रियमाण'-कर्म की है। जो कर्म हम इस समय करने लगे हैं वह बिल्कुल नया, स्वतन्त्र कर्म है, या यह किसी पिछले कर्म का फल है, यह किसी कारण का कार्य है, या एक नया कारण है जो किसी अगले कार्य को उत्पन्न करने वाला है? इसी प्रश्न के हल में 'भाग्य' या 'पुरुषार्थ' की समस्या का हल छिपा है

इस प्रश्न के दो उत्तर तो स्पष्ट हैं। एक तो यह कि 'क्रियमाण'-कर्म कोई स्वतंत्र कर्म नहीं है, कार्य-कारण की अनन्तकाल से चली आ रही लड़ी की यह एक कड़ी है, दीखने को यह एक स्वतंत्र कर्म दीखता है, परन्तु वास्तव में पिछले कर्म का यह फल है, यह ऐसा ही होता है, इस से भिन्न नहीं हो सकता। जो विचारक कर्म के सिद्धांत को कार्य-कारण का सिद्धांत ही मानते हैं वे इस से अतिरिक्त दूसरी बात कैसे कह सकते हैं! इसीलिये 'कर्म' का सिद्धांत मानने वाले प्रायः भाग्यवादी हो जाते हैं, जो-कुछ हो रहा है उसे अमिट, अवश्यंभावी मानते हैं, उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता—ऐसा मानते हैं। इस प्रश्न का दूसरा उत्तर यह है कि 'क्रियमाण'-कर्म एक स्वतन्त्र कर्म है, हम जो चाहें कर सकते हैं, किसी पिछले बंधन से हम बँधे नहीं। इस बात को मानने से कार्य-कारण के नियम को छोड़ना पड़ता है। इन दो उत्तरों के अतिरिक्त इस प्रश्न का एक तीसरा उत्तर भी है। यह उत्तर आर्य-संस्कृति का है।

तीसरा उत्तर यह है कि कार्य-कारण के नियम और कर्म के सिद्धांत में जहाँ समानता है, वहाँ उस समानता के साथ एक भिन्नता भी है। कार्य-कारण का नियम भौतिक-जगत् का नियम है, आग-पानी-हवा का नियम है, कर्म का नियम आध्यात्मिक-जगत् का नियम है, उस जगत् का नियम है जहाँ 'चेतना' नाम की एक नवीन सत्ता क्रिया करने लगती है। भौतिक-जगत् स्वतन्त्र जगत् नहीं है, दूसरे किसी के आधीन है। यह दूसरा कौन है? कोई कहता है परमात्मा है, कोई कहता है नियम (Law) है—परन्तु जो कुछ हो, भौतिक-जगत् स्वतन्त्र नहीं है, परमात्मा मानो तो भी, न मानो तो भी, यह कार्य-कारण के महान् नियम के अधीन है, उससे इधर-उधर नहीं हो सकता। आत्म-तत्त्व के साथ यह बात नहीं है। आत्मा भौतिक पदार्थों से एक भिन्न तत्त्व है। आत्म-तत्त्व में स्वतन्त्रता की अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति को होती है। इसमें सन्देह नहीं कि मैं चारों तरफ से बँधा हुआ हूँ, परन्तु इस में भी सन्देह नहीं कि मैं अनुभव करता हूँ कि मैं इन बन्धनों में से निकल भी सकता हूँ। हरेक प्राणी

हर बन्धन को तोड़ने के लिये हर समय झटका दिया करता है, स्वतन्त्र होना चाहता है, बँधे रहना नहीं चाहता, बन्धन को देखकर जिस किसी उपाय से, सफल हो, असफल हो, उसे काटा करता है। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी तक में बन्धन से निकल जाने की एक प्रबल भावना है। आग-पानी-हवा में, भौतिक-जगत् के किसी तत्त्व में तो ऐसा नहीं। वे तो कार्य-कारण के नियम से ऐसे जकड़े हुए हैं कि करोड़ों वर्षों से सूर्य जहाँ-का-तहाँ अपनी परिधि में चक्कर काट रहा है, चन्द्र-तारे एक सूत भी अब्द वर्षों से इधर-से-उधर नहीं हिले, उनकी विशेषता ही उनका कार्य-कारण के नियमों में बँधे रहना है। परन्तु मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंगा ? ये जब से सृष्टि में आये तभी से बन्धन से विद्रोह कर रहे हैं, इनके गले में बड़े-बड़े मज़बूत रस्से पड़े हैं, परन्तु उन रस्सों को तोड़ने के लिये ये लगातार झटके पर झटके दिया करते हैं। इसका कारण क्या है ? इसका कारण यही है कि यद्यपि आत्म-तत्त्व बन्धन में है, तथापि इसका स्वभाव बन्धन में पड़े रहने का नहीं है। यह बन्धन में आया है बन्धन में से निकलने के लिये, कर्म में फंसा है कर्म को काटने के लिये, कार्य-कारण में उलझा है कार्य-कारण की गाँठ को खोलकर उससे नहीं परन्तु उसमें से स्वतन्त्र हो जाने के लिये।

'कार्य-कारण' तथा 'कर्म' में यही भेद है। 'कर्म', इसमें सन्देह नहीं, 'कार्य-कारण' का ही नियम है, परन्तु भेद यह है कि 'कार्य-कारण' जड़-जगत् का, 'कर्म' चेतन-जगत् का निमम है, 'कार्य-कारण' अन्धा नियम है, 'कर्म' सुजाखा नियम है, 'कार्य-कारण' प्रकृति का नियम है, 'कर्म' आत्म-तत्त्व का नियम है, प्रकृति का स्वभाव ही 'कार्य-कारण' के बन्धन में पड़े रहने का है, आत्म-तत्त्व का स्वभाव ही बन्धन से निकलने का, कार्य-कारण की, कर्मों की भारी-भारी हथकड़ियों को, बेड़ियों को काट देने का है। अगर आत्म-तत्त्व एक स्वतन्त्र तत्त्व न होता, तब प्रकृति की तरह यह भी कार्य-कारण की बेड़ियों में जकड़ा रहता, तब जो हो रहा है वह अवश्यंभावी होता। परन्तु आर्य-संस्कृति की घोषणा है कि आत्म-तत्त्व प्रकृति से भिन्न एक स्वतन्त्र तत्त्व है। यह जब तक प्रकृति के साथ अपने को एक किये बैठा है तब तक कार्य-कारण की उलझन में पड़ा हुआ है, जहाँ इसने अपने स्वरूप को पहचाना वहीं यह कर्मों के बन्धन से साफ निकल कर बाहर आ खड़ा हो सकता है।

तो फिर क्या स्थिति हुई ? क्या 'क्रियमाण'-कर्म अवश्यंभावी हैं, एक चक्र के परिणाम हैं, या स्वतंत्र भी हो सकते हैं। आर्य-संस्कृति की जिस विचारधारा का हमने अभी उल्लेख किया उसके अनुसार ये दोनों हो सकते हैं। कर्म, कार्य-कारण का ही एक रूप है, इसलिये हमारे 'क्रियमाण'-कर्म, वे कर्म जिन्हें हम इस जन्म में, इस समय कर रहे हैं, पिछले कर्मों का फल भी हो सकते हैं, कार्य-कारण की शृंखला में एक कड़ी ही हो सकते हैं, और क्योंकि आत्म-तत्त्व की नींव ही स्वतन्त्रता पर खड़ी है, इसलिये ये 'क्रियमाण'-कर्म आत्म-तत्त्व के इस जन्म के सर्वथा स्वतन्त्र कर्म भी हो सकते हैं। इन्हें पिछले जन्मों का फल या इस जन्म के स्वतंत्र कर्म मानने से कार्य-कारण के नियम में कोई त्रुटि नहीं आती।

कर्म के सिद्धान्त को मानने में सबसे बड़ी निराशा की बात यह आ पड़ती है कि हम अपने को स्वतन्त्र-कर्म करने में, पुरुषार्थ करने में अशक्त पाते हैं, सब-कुछ दैव, भाग्य समझने लगते हैं। आर्य-संस्कृति का कहना है कि 'आत्म-तत्त्व' के यथार्थ स्वरूप को समझ लेने से यह निराशा जाती

रहती है। आत्म-तत्व कर्मों से बँधा है, कार्य-कारण के इधर-उधर नहीं जा सकता यह बात ठीक है परन्तु यह बात भी ठीक है कि इसमें स्वतंत्र कार्य करने की उग्र भावना भी है। यह तो हमें दीखता है, इसे किसी युक्ति से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रहती। अगर स्वतन्त्र कार्य करने की भावना भी कर्मों का ही फल है, कार्य-कारण के नियम का ही परिणाम है तब तो यह बहस एक शब्दाडंबर-मात्र रह जाती है। हमारा काम तो इतने से ही चल जाता है कि जीव बँधा ही बँधा न रहे, स्वतंत्र भी काम कर सके, भाग्य की डोर से ही लटका न रह कर पुरुषार्थ भी कर सके।

कार्य-कारण के नियम के पीछे चलते-चलते कर्म के सिद्धान्त को जन्म देने वाली आर्य-संस्कृति कर्म के विचार से इतनी परास्त नहीं हुई थी कि वह आत्म-तत्त्व की स्वतंत्र क्रिया-शक्ति को भूल जाती। कर्म का सिद्धान्त जहां आर्य-संस्कृति का मूल-तत्त्व है वहाँ आत्मा के स्वतन्त्र-कर्तृत्व का सिद्धान्त भी उसका उतना ही बड़ा मूल-तत्त्व है। हम बंधे हैं परन्तु बंधन काट सकते हैं, उलझे हैं परंतु उलझन में से निकल सकते हैं, कर्म के चक्कर में आ पड़े हैं, परन्तु इस चक्कर में से बाहर भी आ सकते हैं। हम परतन्त्र हैं, कर्म के अधीन हैं, परन्तु स्वतन्त्र भी हैं, कर्म के स्वामी भी हैं। प्रश्न यही है कि यह कैसे ?

यह इस प्रकार। 'क्रियमाण'-कर्म के विषय में ही तो हमें निश्चय करना है कि यह कर्मों का ही परिणाम है, या इस जन्म का ही नया कर्म है ? क्रियमाण कर्म दो तरह का हो सकता है—'वैयक्तिक' या 'सामाजिक'। वैयक्तिक वह जिसका हमारे निज के साथ सम्बन्ध है, दूसरों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। हम खाते हैं, पीते हैं, फिरते हैं। भूख लगी, खाना खा लिया, प्यास लगी, पानी पी लिया। इन कर्मों में भी 'अवश्यंभाविता' और 'चक्रता' है, परन्तु वह हमारे लिये कोई समस्या नहीं खड़ी करती। भूख लगने पर खायेंगे तो तृप्ति अवश्य होगी, पेट अवश्य भरेगा, भरकर पेट काम करेगा, भोजन पच जायगा, फिर भूख लग जायेगी, इस अवश्यभाविता के साथ यह चक्र भी चल पड़ेगा, परन्तु कर्म के सिद्धान्त की जो उलझन है वह यह नहीं है। उलझन कहां आती है ? उलझन आती है उन कर्मों में जिन्हें 'सामाजिक' कहा जा सकता है। 'सामाजिक कर्मों' से हमारा अभिप्राय उन कर्मों से है जो करते तो हम हैं परन्तु उनका सम्बन्ध हमारे निज से तो है ही परन्तु साथ ही दूसरों से भी कम नहीं है। हमने किसी को क्रोध में मार डाला, पकड़े जाने पर साफ़ इन्कार कर दिया, किसी की चोरी की, दुराचार किया—यह सब बातें करते तो हम हैं परन्तु इन का सम्बन्ध दूसरों से होता है—समाज से होता है। कर्मों के सिद्धान्त की जटिलता इन्हीं 'सामाजिक'-कर्मों के संबंध में है और एक जटिलता यही है कि ये कर्म अगर कार्य-कारण की शृंखला के परिणाम हैं, अगर 'अवश्यंभावी' हैं, और एक 'चक्र' को उत्पन्न कर रहे हैं तो पाप-पुण्य क्या रहा ? पाप तो पाप तब हो सकता है, और इसी प्रकार पुण्य पुण्य तब कहा जा सकता है, जब वह जान-बूझ कर, अपनी इच्छा से किया जाय। जो काम होना ही है, हम चाहें, न चाहें, पिछले कर्मों के ज़ोर से होना है, वह न पाप हो सकता है, पुण्य हो सकता है, वह तो टल ही नहीं सकता, उसमें तो कोई हमारा बस ही नहीं है।

समस्या के इस बिंदु पर पहुँचने पर आर्य-संस्कृति का कहना था कि 'कर्म' कार्य-कारण के नियम की तरह एक अन्धा नियम नहीं है । यह ईंट, पत्थर—अचेतन का नियम नहीं, चेतन का नियम है । दीवार पर ईंट फेंकी जायगी तो वह अवश्य दीवार से टकरायेगी, किसी मनुष्य पर फेंकी जायगी तो वह एक ही स्थान पर खड़ा रह कर चोट भी खा सकता है, एक तरफ को हटकर चोट से बच भी सकता है । खड़ा रह कर दीवार की तरह व्यवहार करेगा; तो अचेतन की तरह व्यवहार करेगा, एक तरफ़ को हट जायगा, तो चेतन की तरह व्यवहार करेगा; खड़ा रहेगा तो 'अवश्यंभाविता' और 'चक्र' में फँस जायगा, हट जायगा, तो इस चक्र में से निकल आयगा ।

कर्म-चक्र का कारण आवेग है

इस बात को अभी और अधिक समझने की ज़रूरत है । हम कर्म के चक्र में क्यों पड़ते हैं ? हमने किसी की कोई चीज़ चुरा ली, उसने हमें पकड़ लिया, उसे गुस्सा आया, उसने हमें थप्पड़ मारा, हमने बदले में मारा, उसे और गुस्सा आया—चक्र चलता गया, चलता गया । प्रश्न यह है कि क्या हम इस 'अवश्यंभाविता' और 'चक्र' को कहीं पर काट भी सकते हैं या नहीं ? आर्य-संस्कृति की विचार-धारा यह है कि हम इसे शुरू में भी काट सकते थे, बीच में ही काट सकते हैं, अन्त में भी काट सकते हैं, जब चाहें इस चक्र में से निकल सकते हैं इसलिये निकल सकते हैं क्योंकि हम ईंट-पत्थर नहीं चेतन प्राणी हैं, प्रकृति-तत्त्व नहीं, आत्म-तत्त्व हैं, स्वतन्त्रता आत्म-तत्त्व का जन्म-सिद्ध गुण है, जब तक हम अपने स्वात्म को भूले हुए हैं तभी तक हम इस उलझन में फँसे हैं । यह चक्र चला कैसे ? हमने किसी की चीज़ चुराई थी । अगर हम न चुराते, तो यह चक्र कैसे चलता ? चुराने पर जब उसने हमें मारा तब हम गुस्से में आकर प्रतिक्रिया न करते, अपने अपराध को स्वीकार कर लेते, तो वह चक्र कैसे चलता ? चक्र चलते-चलते किसी समय भी हम गुस्सा छोड़ सकते थे, अपराध स्वीकार कर सकते थे, क्षमा-याचना कर सकते थे—इसका अर्थ यही है कि किसी समय भी हम कर्म की 'अवश्यंभाविता' और उसके 'चक्र' में से निकल सकते थे । यह कहना कि *जिस समय हमने पहले-पहल चीज़ चुराई थी उस समय ही हम चोरी करने में स्वतन्त्र नहीं थे, कर्मों के अनुसार हमने चोरी करनी ही थी, यह विधि का विधान था, टल नहीं सकता था—यह कहने के समान है कि आत्म-तत्त्व आत्म-तत्त्व नहीं है, ईंट-पत्थर है । यह तो हम देखते हैं, अनुभव करते हैं कि क्रोध हमें आता है, हम चाहें तो क्रोध को दबा भी सकते हैं, लालच हमें* पराभूत कर देता है, हम चाहें तो लालच को जीत भी सकते हैं, बदले की भावना सिर पर सवार हो जाती है, हम चाहें तो इस भावना से ऊपर भी उठ सकते हैं । इस बात को खूब अच्छी तरह से समझ लेने की आवश्यकता है कि कर्म के चक्र चल पड़ने का कारण भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है । काम-क्रोध-लोभ-मोह के कारण हम कर्म के चक्र को चलने देते हैं । कितना ही कर्म का चक्र है—असंख्य प्राणियों का जिसके आधार में 'काम'- वासना कार्य कर रही है । लाखों और करोड़ों प्राणियों के कर्म-चक्र के पीछे क्रोध है, लोभ है, या मोह है । कर्म-चक्र के चलने के ये आध्यात्मिक

ही उपाय हैं। आर्य-संस्कृति का कहना था कि काम-क्रोध-लोभ मोह पर विजय पा लिया जाय तो कर्म का बन्धन अपने-आप कट जाता है, और इन पर विजय पाना अपने हाथ में है।

भोग-योनि तथा कर्म-योनि

काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि मन के आवेग हैं। इनके वश में न होने से कर्म का चक्र चलता है, इन्हें अपने वश में कर लेने से चक्र टूट जाता है। परन्तु इन्हें वश में कर लेना भी तो कोई हंसी-खेल नहीं। अधिक अवस्था तो ऐसी ही होती है जिस में हम इन्हीं के वश में रहते हैं। इस समस्या को सुलझाने के लिये आर्य-विचारकों ने भोग-योनि और कर्म-योनि के सिद्धान्त की कल्पना की थी। आत्म-तत्व के विकास की एक अवस्था तो वह है जिसमें हम इन मनोवेगों में से बच कर निकल नहीं सकते, कार्य कारण के अटल नियम को तरह इन के घात-प्रतिघातों में थपेड़े खाते ही रहते हैं। यह अवस्था भोग-योनि कहाती है। इसमें हम कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं। जो कर्म है, अवश्यंभावी है। कर्म क्या ? वही—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरता आदि द्वारा प्रेरित कर्म। पशु-योनि भोग-योनि है। इस योनि में कर्म का सिद्धान्त बिलकुल कार्य-कारण के भौतिक-नियम की तरह अटल कार्य करता हे। ये योनियां अनन्त हैं। अनन्त इसलिये हैं क्योंकि कार्य-कारण के नियम के अनुसार चलते हुए काम का, क्रोध का, लोभ का, मोह का अन्त में अवश्यंभावी परिणाम क्या हो सकता है यह पाठ आत्म-तत्त्व में पूरी तरह से बैठ जाय, किसी के कहने-सुनने से नहीं, अपने अनुभव से बैठ जाय कि ये मार्ग एक ऐसे चक्र को चला देते हैं जिसका कहीं अन्त नहीं। मनुष्य-जन्म कर्म-योनि है। कर्म-योनि इसलिये क्योंकि इस योनि में कर्म आत्म-तत्त्व को कार्य-कारण के अटल नियम की तरह नहीं चिपटता। भोग-योनियों में से गुजरने के बाद आत्म-तत्त्व पर यह अमिट छाप तो पड़ चुकी होती है कि कर्म के बन्धनों में से निकलने का रास्ता काम क्रोध-लोभ मोह—आत्म-तत्त्व के इन बन्धनों को काट देता है, मनुष्य की इस कर्म-योनि में आ कर हमारे हाथ में एक शस्त्र आ जाता है जिससे हम कर्म के बन्धनों को कर्म की 'अवश्यंभाविता' और 'चक्र' को काट सकते हैं, परन्तु हम इसका लाभ उठाते हैं, या नहीं, यह दूसरी बात है। जो मनुष्य जल को एक दुर्लभ अवसर समझते हैं वे इसका लाभ उठाते हैं, जो इस अवसर को खो देते हैं, वे चौरासी लाख योनियों में फिर-से यह सीखने के लिए चल देते हैं कि काम-क्रोध आदि के वश में पड़े रहने का परिणाम क्या है !

वास्तव में भोग-योनि में कार्य-कारण का नियम काम करता है, कर्म-योनि में कर्म या सिद्धांत, भोग-योनि में आत्म-तत्त्व कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं होता, कर्म-योनि में स्वतन्त्र होता है। कर्म का सिद्धान्त वास्तव में भोग-योनि का नहीं कर्म-योनि का सिद्धांत है। इस सिद्धांत की आत्मा यह नहीं है कि हम कर्मों के बन्धनों से बंधे हुए हैं, इस सिद्धांत की आत्मा यह है कि यद्यपि पिछले जन्म-जन्मान्तर के कर्म एक अथाह बोझ को लिए खड़े हैं तब भी आत्मा अपने निजी रूप में कर्म करने में स्वतन्त्र है, और यह स्वतन्त्रता का अवसर इस मनुष्य जन्म में ही मिलता है। मनुष्य जन्म कर्म भूमि है। इस एक जन्म में इतनी सामर्थ है कि हम पिछले सभी जन्मों के 'संचित' कर्मों को इसे जन्म के 'क्रियमाण'-

कर्म से बदल सकते हैं। आखिर, असली कर्म तो 'क्रियमाण'-कर्म ही है। जिन कर्मों को हम 'संचित' कहते हैं वे भी तो किसी समय किये ही जा रहे थे—'क्रियमाण' ही थे। यह नहीं माना जा सकता कि हरेक कर्म किसी न किसी पिछले कर्म का परिणाम है। अगर ऐसा माना जाय तब तो शुरू-शुरू का सिर्फ एक कर्म रह जाता है। उस एक कर्म से यह सारा सिलसिला चल पड़ा—यह असंभव है। हरेक कर्म पिछले का परिणाम है, परन्तु उसमें अपना नयापन भी अवश्य है, अगर नयापन न होता तो आगे-आगे के कर्मों और कर्मों के परिणामों में भेद क्यों होता? यह नयापन आत्म-तत्त्व की स्वतन्त्रता के कारण ही है, यह नयापन ही कर्म के सिद्धांत की अन्तरात्मा है। आत्मा की कर्म करने की इस स्वतन्त्रता के आधार पर ही, बिल्कुल नया कर्म करने की, पिछले किसी कार्य-कारण के बन्धन से न बँधे हुए कर्म करने की आत्म-तत्त्व की सामर्थ्य के सहारे ही आत्मा कर्मों के चक्र में से, विधि के विधान में से निकल सकता है, जन्म-जन्मान्तरों की माथे पर पड़ी हुई लकीरों को मिटा सकता है।

कर्म-चक्र कट सकता है

कर्म का चक्र कैसे चल पड़ता है, और यह चक्र कैसे कट भी जाता है, यह कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा। हम बैठे एक लेख लिख रहे हैं, बड़ी तन्मयता के साथ, दत्त-चित्त होकर। इतने में पत्नी ने आकर पुकारा, चलो घूम आयें। हम झुँझला उठे, क्रोध में भर गये—इसलिये कि उसे इतना भी ख्याल नहीं कि ऐसे समय जब विचारों की धारा एक खास दिशा में बह रही है तब बीच में उस शृंखला को न तोड़े। हमने कहा, चुप रहो, काम करने दो। हमारे क्रोध को देख कर उसे क्रोध आया, उसने कहा, चुप कैसे रहूँ, घूमने का वक्त हो गया है, चलना होगा। हमने कहा नहीं चलते—बस, तू तू मैं-मैं का सिलसिला चल पड़ा, पति-पत्नी में लड़ाई हो गई। घंटों वे एक दूसरे से नहीं बोले। यह एक छोटे से कर्म-चक्र का दृष्टान्त है। अगर जब हमें काम छोड़ कर घूमने चलने को कहा गया था तब हम चल पड़ते, तो यह तू-तू मैं-मैं का सिलसिला न चलता, अगर शांति से कह देते, अच्छा, दो-चार मिनट में चलता हूँ, तब भी मामला आगे न बढ़ता। चक्र को चलने देना न चलने देना अपने हाथ में था। ऐसी घटनाएँ हर व्यक्ति के जीवन में, हर रोज होती हैं। मानसिक आवेग से कर्म का छोटा-सा चक्र बना ही करता है, इस आवेग में से निकलकर काम करना अपने ही हाथ में होता है, परन्तु हम ज़रा-ज़रा सी बात में लड़ा करते हैं, झगड़ा करते हैं। एक दूसरे से उलझा करते हैं, और कर्म का चक्र लम्बा होते-होते कभी-कभी बहुत बड़ा हो जाता है। पिछले दिनों अखबारों में पढ़ा कि दो आने के लेने-देने पर खून हो गया। एक मोची से किसी ने जूता ठीक कराया, मोची ने चार आने माँगे, देने वाले ने दो आने दिये, देकर वह चल दिया, मोची ने उसे पकड़ लिया, झगड़ा हो गया. झगड़ा बढ़ते-बढ़ते हाथापाई होने लगी, ग्राहक ने मोची का गला दबोच लिया, मोची ने उसका गला पकड़ने की कोशिश की, ग्राहक ने क्रोध में आकर चाकू निकाला और मोची के पेट में घोप दिया, वह चिल्लाया और देखते-देखते मर गया। कितनी छोटी सी बात थी, कितना भयंकर परिणाम निकला। इस घटना पर बड़े बड़े विचारक माथापच्ची कर सकते हैं। हो सकता है, यह सब पिछले जन्म का नाटक इस जन्म में खेला जा रहा हो। इस जन्म का अपने

वाला पिछले जन्म का मारने वाला हो, इस जन्म का मारने वाला पिछले जन्म का मरने वाला हो। इस जन्म में तो यह दो आने का पहली बार का लेन देन था, फिर इतनी भयंकर घटना किसी इतने ही भयंकर कारण के बिना कैसे हो गई ? परन्तु फिर प्रश्न होगा, अगर ऐसी घटना इस जन्म में पहली बार नहीं हो सकती तो पिछले जन्म में कैसे हुई होगी ? अगर यह माना जाय कि पिछले से पिछले जन्म में हुई होगी तब तो पीछे-ही पीछे चलते जाना होगा। अगर इससे समस्या हल नहीं होगी तब कहीं कोई जन्म तो मानना ही पड़ेगा। जब ऐसी कोई भयंकर घटना इन दोनों के जीवन में पहली बार हुई होगी। अगर पिछले किसी जन्म में पहली बार ऐसी घटना हो सकती है, तो इस जन्म में भी पहली बार हो सकती है। समस्या यह नहीं है कि यह घटना कब हुई, इस जन्म में पहली बार हुई, या पिछले किसी जन्म में पहली बार हुई। हमारी व्यावहारिक समस्या यही है कि अगर यह घटना कर्मों की पिछली किसी शृंखला की कड़ी है, तो क्या इस शृंखला को आगे बढ़ने से रोका जा सकता था या नहीं, पीछे नहीं रोका गया, तो अब रोका जा सकता है या नहीं। क्या यह चक्र अटल है, अमिट है, हम इसे नहीं तोड़ सकते, या यह टल सकता है। अगर नहीं टल सकता तो हमारा सब कर्म निरर्थक है, टल सकता है तभी कर्म की सार्थकता है। इस घटना में क्या हुआ ? मोची ने चार आने माँगे, ग्राहक ने दो आने दिये। अगर मोची दो आने लेकर चुप हो जाता, या ग्राहक चार ही आने दे देता, तब मामला आगे कैसे बढ़ता ? मोची दो आने लेकर चुप नहीं रहा, ग्राहक चार आने देने पर राजी नहीं हुआ। क्यों ?—इसलिये कि दोनों अपने आपे को भूल गये, बुद्धि से काम लेने के स्थान में मानसिक आवेगों से काम लेने लगे। उनके आत्म-तत्त्व पर क्रोध छा गया, लोभ छा गया, पैसे को दांत से पकड़ने की भावना छा गई। अगर वे दोनों जरा सोच-समझ से काम लेते, तो मामला आगे बढ़ ही नहीं सकता था। वे दोनों भोग-योनि के जीवों का-सा बरतने लगे, कार्य कारण के थपेड़े खाने लगे, कर्म योनि के जीव का-सा नहीं बरते, कार्य-कारण में से निकलकर कर्म के सिद्धांत से नहीं चले। परन्तु क्या चल नहीं सकते थे ? सारा प्रश्न तो मानसिक आवेगों में से निकलने का था। मनुष्य जन्म दिया ही इसलिये गया है कि मनुष्य सोच समझ से काम ले, अपने स्वतन्त्र कर्तृत्व को जगायें, मन के आवेगों में अन्धा होकर न चले। अगर उन दोनों में से कोई एक भी क्रोध न करता तो कर्म का यह चक्र—चाहे जन्म-जन्मान्तर से, पीछे से चला आ रहा हो या इस जन्म में आगे के लिये बनने जा रहा हो—एक दम टूट जाता। कर्मों के चक्र का सारा प्रश्न मानसिक आवेगों में से निकलने का, काम क्रोध-लोभ-मोह को जीतने का प्रश्न है। इनमें से मनुष्य निकला नहीं, और कर्म-चक्र टूटा नहीं।

महात्मा गांधी ने इसी परीक्षण को एक विस्तृत-क्षेत्र में घटाने का प्रयत्न किया था। हमारी तथा अंग्रेज जाति के पारस्परिक कर्मों का लेना-देना देर से चला आ रहा था। वे हमें लूटते थे, हम विद्रोह करते थे, क्रिया-प्रतिक्रिया चल रही थी, कर्म का चक्र कहीं टूटता न था। महात्मा गांधी ने एक नवीन विचार-धारा को जन्म दिया। हम विद्रोह करें, परन्तु ऐसा विद्रोह करें जिससे प्रतिक्रिया उत्पन्न न हो। प्रतिक्रिया का आधार तो मानसिक-उद्वेग है। काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि के आवेश में जो कर्म किया जायगा उसी की तो प्रतिक्रिया होगी। हम क्रोध में किसी को मारेंगे, वही बदला लेने के

लिये अपना हाथ चलायेगा, प्रेम से मारने पर कौन थप्पड़ का जवाब थप्पड़ से देता है ? महात्मा गांधी ने विद्रोह किया, परन्तु जिसके प्रति विद्रोह किया। उसके प्रति वैर-भाव को नहीं उत्पन्न होने दिया। काम काम को उत्पन्न करता है, क्रोध क्रोध को उत्पन्न करता है, लोभ लोभ को उत्पन्न करता है, मोह मोह को उत्पन्न करता है—इसी से चक्र चलता है, सकामता के सामने निष्कामता खड़ी हो जाय, क्रोध के सामने अक्रोध खड़ा हो जाय, लोभ के सामने अपरिग्रह और त्याग खड़ा हो जाय, मोह के सामने वैराग्य खड़ा हो जाय, तो चक्र अपने आप टूट जाता है, अगला सिलसिला बनने ही नहीं पाता। महात्मा गांधी के सत्याग्रह आन्दोलन का यही रहस्य है। हिंसा एक ऐसा कर्म है जो अगले कर्म को उत्पन्न कर देता है, सिलसिले को बढ़ा देता है, अहिंसा ऐसा कर्म है जो कर्म के शैतान की आंत की तरह एक के बाद निकलने वाले दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे कर्म को शुरू शुरू में ही काट डालता है। इसी सिद्धान्त पर चलने से महात्मा गांधी को सफलता मिली।

आवेगों से कर्मों का बन्धन चलता है, आवेग ही कर्म के चक्र के मूल-स्रोत हैं। इस चक्र में से निकलने का रास्ता आवेगों में से निकल जाना है। उद्वेग मनुष्य को अन्धा बना देता है, उसके स्वतन्त्र-कर्तृत्व को उससे छीन लेता है, उस समय आत्म-तत्त्व स्वयं कुछ नहीं करता, परिस्थितियाँ उसे नचाती हैं, कार्य-कारण की शृंखला में उसकी छीछा-लेदर होती है। उद्वेग के पीछे भोग-योनि के जीव चलते हैं। कर्म योनि का उद्देश्य मानसिक उद्वेग, काम-क्रोध आदि में से निकल कर तर्क के, बुद्धि के, सोच-समझ के क्षेत्र में आ जाता है, अन्धी शक्तियों के थपेड़े खाने के स्थान में मन चाहा संसार बनाना है। भोग-योनि में कर्म कार्य-कारण के नियम के अनुसार चलता है। उस योनि में जो होगा अटल नियमानुसार होगा। उस योनि के प्रेरक कारण काम-क्रोध लोभ-मोह हैं, मानसिक-विकार (Emotions) हैं। भोग-योनि में मानसिक उद्वेगों से धकेला हुआ प्राणी काम करता है। उस समय आत्म-तत्त्व अपने को कर्म करने में स्वतन्त्र अनुभव नहीं करता वह जो करता है इसलिये करता है क्योंकि उससे भिन्न कर ही नहीं सकता, इस योनि में काम-क्रोध कर्मों के ही अवश्यंभावी परिणाम हैं, इन पर विजय नहीं पाया जा सकता। कर्म-योनि में ऐसा नहीं है। इस योनि में मानसिक-उद्वेग भी प्रेरक-कारण हो सकते हैं, प्राणी मानसिक-उद्वेगों को मसल भी सकता है, बुद्धि से, तर्क से, सोच-समझ (Reason) से भी काम कर सकता है। इस योनि में कर्ता के सामने दो रास्ते हर समय खुले रहते हैं। एक रास्ता तो वह है जो कार्य-कारण का अवश्यंभावी परिणाम है, मानसिक-विकारों का रास्ता है, कर्म-चक्र में बांधने का रास्ता है, जो रास्ता भोग-योनि में चल रहा है। परन्तु कर्म-योनि में एक दूसरा रास्ता भी खुला है। इस योनि में आत्म-तत्त्व अपनी अन्तर्निहित स्वतन्त्रता के कारण कार्य कारण की शृंखला को तोड़ कर, मानसिक-उद्वेगों के पीछे चलने के स्थान में उन्हें बुद्धि तथा तर्क के पीछे चला कर एक बिल्कुल नये रास्ते को भी पकड़ सकता है। कई मनुष्य मनुष्य होते हुए भी भोग-योनि के मार्ग पर ही चलते हैं, काम-क्रोध आदि में अन्धे हो जाते हैं, अपने स्वतन्त्र कर्म करने की सामर्थ्य का उपयोग नहीं करते, परन्तु मनुष्य वही है जो आत्म-तत्त्व के स्वतन्त्र-कर्तृत्व का प्रयोग करे, बुद्धि और तर्क की आंखों से आगे-पीछे देखता हुआ कर्म के चक्र में बंधने के स्थान में उसमें से निकलने का प्रयत्न करे। ऐसा प्रयत्न करने का सामर्थ्य अन्य किसी जन्म में प्राप्त नहीं होता, केवल मनुष्य जन्म में प्राप्त होता है। मनुष्य जन्म में



अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन जेनेवा के अध्यक्ष श्री जगजीवन राम (जून १९५०)



रोम में इटली के श्रम-मन्त्री एच. ई. श्री अकिल्ले मैराज़्ज़ा से हाथ मिलाते हुए श्री जगजीवन राम, (जुलाई १९५०)

सामर्थ्य भर प्राप्त होता है, यह मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है कि वह इस सामर्थ्य का उपयोग करे या न करे। जो उपयोग करता है वह क्रोध का बदला क्रोध से नहीं लेता, वह क्रोध के बदले में शान्ति का स्रोत बहा देता है। घृणा का उत्तर घृणा से नहीं लेता, घृणा की प्रतिक्रिया में प्रेम की रागिनी अलापने लगता है, मानसिक-आवेगों में उलझने के स्थान में इनमें से निकल जाता है। आर्य संस्कृति की घोषणा है कि कर्मों की गांठों को खोलने का, कर्म के दुर्गम-व्यूह में से निकलने का यही असली रास्ता है।

प्रश्न यह रह जाता है कि काम-क्रोध आदि मानसिक-उद्वेगों को हम जीत सकते हैं या नहीं? कहीं ये पिछले जन्म के ही अमिट बन्धन तो नहीं? आर्य संस्कृति के पास इस प्रश्न का उत्तर यही है कि भोग-योनि में तो मानसिक-उद्वेग 'कार्य-कारण' के नियमानुसार चलते हैं, परन्तु कर्म-योनि में इनका संचालन 'कर्म' के सिद्धान्त से होता है। हम चाहें इनको दबा दें, चाहे न दबायें—इन योनि में आकर जीव कर्म करने में स्वतन्त्र हो जाता है। और, क्या हम इस बात को अपने जीवन में देखते नहीं? हम क्रोध में हैं, क्रोध का विश्लेषण करने लगें—क्यों ठीक है या गलत—इन बातों पर सोचने लगें, तो क्रोध एक दम काफ़ूर हो जाता है। प्रत्येक मानसिक-उद्वेग की यही अवस्था है। मानसिक-विकार के बादल हम पर तभी तक छाये रहते हैं जब तक हम बुद्धि के प्रकाश से उन्हें छिन्न-भिन्न नहीं कर देते। जहाँ बुद्धि की आँख से देखा वहीं उद्वेग समाप्त हो जाता है। काम-क्रोध आदि में अन्धापन उनका आवश्यक सहचारी गुण है। जहाँ बुद्धि या तर्क की आँख खुली वहीं मनुष्य को अन्धा बनाने वाले ये मानसिक-विकार समाप्त हो जाते हैं। आर्य-संस्कृति के सभी शास्त्र एक स्वर होकर, एक ही पुकार से मनुष्य को जगा रहे हैं—'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत'—उठो, जागो, ज्ञानी पुरुषों के चरणों में जाकर अन्तरात्मा को पहचानो—क्योंकि जिस घुमघेरी में हम आ पड़े हैं, उसमें से निकलने का रास्ता यह मनुष्य जन्म ही है।

समाज को बदलो : स्वयं को बदलो

रावी

भारत आज स्वतंत्र है। उसकी स्वतन्त्रता उसके लोकजीवन की एक महान् धारणा है। उसकी परिस्थिति आज उस व्यक्ति की जैसी है जो अभी तक लकड़ी के तख्ते में रस्सियों से बँधा हुआ बह रहा था और जिसके हाथ-पैर अब खुल गये हैं। वह अब अपने श्रम और बुद्धि का प्रयोग कर उस तख्ते को किनारे की ओर खेकर ले जाने के लिए भी स्वतन्त्र है और मँझधार में कूद कर प्राण गँवाने के लिए भी स्वतन्त्र है।

राजनैतकि स्वतन्त्रता का अर्थ केवल इतना है कि हमारे सामने की राहों पर से कुछ मोटी रुकावटें हट गई हैं; लेकिन हैं अभी हम जहाँ के तहाँ ही। उन राहों को साफ करने और आगे बढ़ने का पूरा काम अभी शेष है। यह ठीक है कि उन मेरी रुकावटों का हटना हमारी प्रगति के लिए एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटना है।

हमारी यह स्वतन्त्रता अपने साथ कुछ नई समस्याएँ लेकर आई है। लेकिन इस स्वतन्त्रता और साथ की समस्याओं को कितने लोग देख पाये हैं? निन्यानवे प्रतिशत लोगों के लिए स्वतन्त्रता का अर्थ है, अधिक से अधिक मुनाफ़ाखोरी, चोर बाजारी, संग्रह, अपहरण या दूसरों पर हुकूमत की स्वतन्त्रता। स्वतन्त्रता को वे इसी दृष्टिकोण से देखते हैं कि उससे उन्हें क्या मिल सकता है। और उनकी समस्याएँ भी क्या हैं! रोटी की, कपड़े की, कम्यूनिज्म की, कैपिटलिज़्म की, व्यक्तिगत या दलगत हितों की समस्याएँ! इन्हें ही वे अपनी समस्याएँ समझते हैं। अमीर और ग़रीब शोषक और शोषित, दोनों ही श्रेणियों के लोगों का दृष्टिकोण और रवैया ऐसा ही है।

तो फिर हमारी आज की वास्तविक समस्या क्या है? विदेशी शासन को हटाकर हमने अभी अभी अपनी प्रगति का पहला द्वार खोला है। हमें एक सुव्यवस्थित, सुखी समाज का और समाज के लिए उपयुक्त नागरिकों का निर्माण करना है। नये समाज और नये व्यक्ति का निर्माण ही हमारी मुख्य, मौलिक समस्या है और रोटी, कपड़े आदि की समस्याएँ उस मौलिक समस्या की शाखाएँ-मात्र हैं। समाज और उसके व्यक्ति को सबसे पहले एक नई चेतना और नये जीवन की आवश्यकता है। उसमें जीवन की कुछ स्फुरता दीखने लगी है, लेकिन आज भी वह गहरी नींद में सोया हुआ है। हमारी आज की जलती हुई समस्या है; हमारा समाज कैसे जागे, कैसे जिये; हम कैसे जागें, कैसे जियें!

समाज को बदलो : स्वयं को बदलो

हमारा समाज भी गहरी नींद में सोया है; इसे समझने में सोने वाले को स्वभावतया देर ही लगेगी। जब तक वह टूटती नींद की अँगड़ाइयाँ न लेने लगेगा, पिछले वर्षों की नींद और प्रस्तुत समय की तन्द्रा को न पहिचान सकेगा। समाज के उच्चतर वर्ग को लीजिए, जो अपने आपको समाज का शिक्षक, शासक और संरक्षक कहता है। स्कूलों कालेजों के अध्यापक, वय-प्राप्त विद्यार्थी, लेखक, सम्पादक, वक्ता, दफ्तरों के बाबू, राजनैतिक नेता, वकील, डाक्टर, इंजीनियर व्यवसायी, उद्योगपति आदि समाज की उपरी सीढ़ी के लोगों में से कितनों को जागता हुआ कहा जा सकता है ?

इन शब्दों को कुछ दिलचस्पी के साथ पढ़ने वाले लोग समाज के शिक्षित, इसलिए ऊपरी वर्ग के लोग हैं। अपनी बात की सुविधा के लिए ये समाज के लोगों को, शिक्षा और सामाजिक स्तर के दृष्टिकोण से, दो ही श्रेणियों में बाँट रहा हूँ और जिसे समाज का मध्य वर्ग कहा जाता है वह लगभग सारा ही इस हिसाब से ऊपरी श्रेणी में आ जाता है। पढ़े लिखे और सफेदपोशी की क़दर करने वाले लोग समाज की ऊपरी श्रेणी के व्यक्ति हैं और वे समाज की अधिक जिम्मेदारियाँ उठा सकते हैं। उन्हें समाज की ऊपरी और दूसरों को निचली श्रेणी में रखने का मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि ये दूसरे निरादर और उपेक्षा के योग्य हैं। उन्हें निचली श्रेणी का कहने का मतलब इसी बात को दृष्टि में रखने का है कि वे अभी अपढ़ हैं और उन्हें समाज के सामने साफ कपड़े पहनने की क़दर नहीं है और वे समाज की बड़ी जिम्मेदारियों को उठाने की योग्यता अभी नहीं रखते। समाज में उनका वही स्थान है जो परिवार में छोटे बच्चों का होता है। वे समाज के छोटे, कम समझ सकने वाले और इसीलिए कम ज़िम्मेदार भाई हैं।

कोई भी समाज कितना सोया और कितना जागा हुआ है, इसे जागने के लिए उसके ऊपरी शिक्षित और सफेदपोश वर्ग से एक प्रश्न पूछा जा सकता है 'आपकी हैसियत क्या है ? आपकी जिम्मेदारियाँ क्या हैं ?'

इतनी आमदनी, इतनी जायदाद, इतना ओहदा, कालेज अमुक अमुक डिगरियाँ सभा सोसाइटियों में अमुक-अमुक पद, अमुक श्रेणी तक के लोगों में ऐसी-ऐसी पहुँच और परिवार और समाज में इतना-इतना सम्मान। इन बातों में अगर हम कुछ बढ़े हुए हैं तो अपने आपको बड़ी हैसियत वाला और अगर पिछड़े हुए हैं तो कम हैसियत समझते हैं। और जिम्मेदारियाँ ? कुटुम्ब का पेट पालना, लड़कियों की शादी करना, बच्चों को रोजगार से लगाना, जैसा बन पड़े, रिश्तेदारों से लेन-देन निभाना, पैसा और फ़ुरसत बचे तो दीन दुखियों और सभा-संस्थाओं की कुछ मदद कर देना, और अधिक से अधिक, यदि समाज में कोई प्रतिष्ठा का पद प्राप्त है तो उसे बनाये रखने के लिए कुछ पैसा और परिश्रम खर्च कर देना। क्या इन्हीं बातों को हम अपनी हैसियत और अपनी जिम्मेदारियाँ नहीं कहते ?

मुझे पता है कि पढ़े-लिखे और साफ कपड़े पहनने वाले वर्ग की सबसे बड़ी समस्या पैसे की समस्या है। हममें से अधिकांश के लिए अपना और अपने परिवार का पेट भरना और तन ढकना

भी ठीक तरह से सम्भव नहीं होता। समाज में अपनी सफेदपोशी बनाये रखना हमारे लिए कितना कठिन हो जाता है। हमारी सबसे बड़ी और व्यापक कठिनाई यही है। इसके आगे हमें और कुछ करने और सोचने की फुर्सत नहीं मिलती। हममें से जो खाते-पीते और चालू कारबार वाले व्यक्ति हैं उन्हें भी पैसे के लिए ही अपना अधिक से अधिक समय और चिन्ता लगानी पड़ती हैं। उसके सामने बाप दादों का नाम और समाज में अपनी हैसियत बनाये रखने का प्रश्न सदैव नाचता रहता है। जिसकी आमदनी पचास रुपये हैं उसे तो स्वभावतया रोटी-दाल की चिन्ता है ही, लेकिन जिसकी आमदनी हजार हैं उसे भी डेढ़ हज़ार की आवश्यकता है, और उसी के लिए वह परेशान हैं। कारबार की सौ झंझटें उसके सिर पर ऊपर से हैं। पैसे के बाद हम अपने परिवार और पड़ोस में अपना कुछ रोब-दाब भी चाहते हैं। यह हमारी दूसरी—दूसरों पर प्रभाव बनाये रखने की—समस्या है। इसके हल में भी हमको बड़ी झंझटों का सामना करना पड़ता है। हमारी तीसरी समस्या अपने भीतर की है—प्रेम की, आकर्षण की, वह अपने हार्दिक-आत्मिक विकास की अपने मन की माँगों की समस्या। हम सभी समस्याओं में चारों ओर से अच्छी तरह घिरे हुए हैं।

हम कहते हैं : 'अपनी झंझटों और अपने परिवार की आवश्यकताओं से जब तक हमें फुर्सत न मिले तब तक समाज के प्रति हमारी कोई जिम्मेदारी नहीं है। पैसा और समय बचे, हृदय को शान्ति हो तो उस दशा में जो कुछ हम समाज के लिए करदें वही हमारी समाज के प्रति जिम्मेदारी है।' हम अपने सीने पर हाथ रखकर देखें, हमारा दिली कहना यही है, शब्दों में हम भले ही कुछ भी कहते हों!

ये सब हमारी—समाज के शिक्षित और इस प्रकार ऊपरी वर्ग की—गहरी नींद के लक्षण हैं। जिस समाज का ऊपरी वर्ग ही सोया हुआ हो उसके निचले वर्ग की दशा का अनुमान लगाना कठिन नहीं है। हम जिन बातों को अपनी हैसियत और जिम्मेदारियाँ समझते हैं वे समाज के शिक्षित व्यक्ति की हैसियत और जिम्मेदारियों से कोसों नीचे की बातें हैं!

हमारी असली हैसियत और जिम्मेदारियाँ क्या हैं? हम अपनी निजी समस्याओं में इतने घिरे हुए हैं कि इस प्रश्न पर विचार करने की हमें कभी फुर्सत नहीं मिली। आज के समाज में व्यक्ति की मजबूरियों का मुझे अनुमान है; लेकिन मेरा आग्रह है कि हम अपनी मजबूरियों को कुछ गहराई तक समझने का एक बार प्रयत्न करें। हमारी वे मजबूरियाँ वैसी नहीं हैं जैसी हमने उन्हें अभी तक समझा है। आज के साधारण शिक्षित और सफेदपोश वर्ग की सब से अधिक व्यापक कठिनाई आर्थिक है। अपनी इस कठिनाई, इस मजबूरी को पार करने के लिए वह बेतहाशा भाग-दौड़ में लगा है। लेकिन उसकी यह आर्थिक कठिनाई और कमी क्या है, क्यों है, कितनी है, यह वास्तव में उसके मार्ग में कितनी बाधक है—इन बातों को वह तब तक नहीं देख सकता जब तक इससे बचने और इसे दूर करने की चिन्ता में पिला रहेगा। अपनी मजबूरी के सामने जम कर, उसे

मिटाने या उससे दूर भगाने की चिन्ता कुछ देर के लिए छोड़ कर यदि हम उसका मुकाबला करें; धनवान बनने की चिन्ता को छोड़ कर यह देखने का प्रयत्न करें कि आखिर हमारी निर्धनता ऐसी कौन-सी बड़ी मुसीबत है, तो जिस घड़ी भी हम ऐसा कर सकेंगे, देखेंगे कि हमारी वह मजबूरी कुछ भी नहीं है। जिस क्षण हम अपनी मजबूरियों को ठीक ठीक देख लेंगे उसी क्षण हमें अपनी असली हैसियत और असली जिम्मेदारियों का पता लग जायगा।

हम जिस वातावरण में पले हैं उसमें हमें यही सिखाया गया है कि धन के लिए, विद्या के लिए, पद और प्रतिष्ठा के लिए जीवन के किसी क्षेत्र में भी हम हों उसमें सफलता के लिए हमें मिल कर प्रयत्न करना चाहिए; दूसरों के साथ प्रतियोगिता में आगे निकलना चाहिए, सार्थकता संघर्ष में ही हैं, हमें जीवन के लिए भरपूर संघर्ष करना चाहिए। हमने अपनी दौड़-धूपों को बड़े गर्व और गौरव के साथ 'जीवन-संघर्ष' का नाम देकर उनकी पूजा करने का फैशन बना लिया है। लेकिन जीवन के लिए संघर्ष और प्रतियोगिता से बढ़कर मूर्खता-पूर्ण धारणा दूसरी कोई नहीं है। आपको यह बात अभी नई और चौंकाने वाली जान पड़ सकती है, लेकिन इस 'जीवन-संघर्ष' की मनहूसियत को देख सकना आपके लिए कठिन न होगा। जीवन के लिए संघर्ष की नहीं, केवल स्वच्छन्द प्रवाह की आवश्यकता है।

किसी न किसी तरह की तंगी, मुसीबत और मजबूरी में हम हर समय घिरे रहते हैं। किसी को पैसे की कमी है, किसी के शरीर को रोग लगा हुआ है, किसी को परिवार या पड़ोसी के साथ कलह से शान्ति नहीं है। जब कभी हमें चैन की साँस नसीब भी होती है तब भी उसके छिन जाने का डर बराबर लगा रहता है; समाज या दूसरों के लिए भी हमारी कोई जिम्मेदारी हो सकती है, हम सोच भी नहीं पाते। हम सोचते हैं, हमें पैसे की तंगी है, शरीर को कष्ट है, मन को पचास चिन्ताएँ हैं, फुर्सत की एक घड़ी नहीं मिलती, हममें कोई विशेष योग्यता और प्रभाव नहीं है, हम समाज़ की क्या सेवा कर सकते हैं और हमारी क्या ज़िम्मेदारी हो सकती है। अपने परिवार को हम रोटी-कपड़ा जुटा दें, बच्चों को पढ़ा-लिखा दें, लड़कियों के विवाह कर दें यही बहुत है। हमारा ऐसा सोचना हमारी किसी वैसी कमी या अयोग्यता का हर्गिज नहीं, केवल हमारी विचार-हीनता या गलत सोचने का नतीजा है। जब भी हम ठीक सोचने का और सचमुच सोचने का इरादा करेंगे, हम अपने भीतर एक ऐसी चीज़ पायेंगे जो हमारी सभी भीतरी अयोग्यताओं और बाहरी कमियों से कहीं अधिक वज़नी बैठेगी। हमारी सारी तंगियाँ, मुसीबतें और मजबूरियाँ उसके सामने समाप्त हो जायँगी। हम अपने आपको तेजी से बदलता हुआ पायेंगे और तब हम देखेंगे कि सँकरी और खुली कैसी भी परिस्थितियों के बीच रहते हुए समाज के प्रति हमारी बहुत बड़ी जिम्मेदारियाँ हैं और उनके निभाव के लिए हमारे पास भरपूर शक्ति और समय है। हममें से ऐसे हरेक की—जो कोई न कोई भाषा लिख और पढ़ सकता है और जो समाज के सामने साफ कपड़े पहन कर निकलना आवश्यक समझता है—असली, स्वाभाविक हैसियत यही है और अगर यह अपनी ऐसी हैसियत को नहीं पहचानता तो उसने स्वयं ही दौड़-धूप करके अपने चारों ओर कल्पित दीवारें खड़ी कर रखी हैं।

जब भी हम ठीक-ठीक सोचने और सचमुच सोचने का इरादा करेंगे, हमारे भीतर एक शक्तिशाली परिवर्तन प्रारम्भ हो जायगा और तुरन्त ही हम समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को देख सकेंगे। वे जिम्मेदारियाँ क्या हो सकती हैं, क्या आप अभी सोच सकते हैं ? समाज के प्रति हमारी जिम्मेदारियाँ क्या हैं ? दूसरों को शिक्षा और उपदेश देना, दौरे करना, अखबार निकालना, सरकार की आलोचना करना या उसका पथ-प्रदर्शन करना, सभाएँ-संस्थाएँ कायम करना या उनको दान देना, अमुक वाद का विरोध या अमुक वाद का प्रचार करना ! मेरा विश्वास है कि इनमें से कोई भी आपकी या मेरी जिम्मेदारी नहीं है। आपकी, मेरी और हरेक की जिम्मेदारी केवल एक है और वह है : ठीक सोचना और अपनी परिस्थितियों को—अपने आपको, अपने पड़ोसी और प्रिय-जन को, अपने समाज और अपने संसार को—ठीक ठीक समझने का प्रयत्न करना। ठीक सोचने और समझने के लिए यह आवश्यक होगा कि आप अपनी मुसीबतों और मजबूरियों से बचने की बेतहाशा भाग-दौड़ को बन्द कर दें। आप अपनी हरेक परिस्थिति, हर मजबूरी, हर मुसीबत और हरेक कठिन-साध्य इच्छा-आकांक्षा के सामने एक मोटा सा, भारी सा प्रश्न-चिह्न खड़ा कर दें : मैं इस परिस्थिति से क्यों बचना चाहता हूँ। मैं इस रास्ते को क्यों अपनाना चाहता हूँ। मैं इस चीज़ को क्यों प्राप्त करना चाहता हूँ— आप अपने आप से पूछें। हरेक उलझन, परेशानी पैदा करने वाली और झंझट से प्राप्त होने वाली वस्तु के बारे में आप यह प्रश्न उठायें। तब आप देखेंगे कि आपने और दुनियाँ के सभी लोगों ने चीज़ों की कितनी ग़लत क़ीमतें लगा रखी हैं। जब हम ठीक तरीके से सोचने लगेंगे तब हमारे पैर ठीक रास्तों पर और हमारे हाथ ठीक कामों में अपने आप जा पड़ेंगे। ठीक कर्म ठीक विचार का एक अनिवार्य अंग है। जब तक हम ग़लत सोचते हैं, हमारे काम ग़लत हुए बिना नहीं रह सकते; जब हम ठीक सोचना प्रारम्भ कर देंगे, हम ठीक काम किए बिना नहीं रह सकेंगे। तब हम जो कुछ करेंगे वही हमारा कर्त्तव्य, हमारी जिम्मेदारी होगा। हम देखेंगे कि भरपूर सुखी और सजीव रहना ही हमारी स्वाभाविक सदा सुलभ दशा है; और अपने चारों ओर उस सुख और सजीवता की किरणें दूसरों के लिए बिखेरते-बरसाते चलना हमारा कर्त्तव्य है। ठीक सोचना, परिस्थितियों को ठीक-ठीक समझना, स्वयं सुखी होना और दूसरों का अपने सुख और समझदारी में हिस्सा लगाना, ये ही अपने और समाज के प्रति हमारी जिम्मेदारियाँ हैं। कोई भी ऐसा काम जिसके करने में हमें मेहनत, मशक्कत, मजबूरी या बेमज़गी; रूखा कड़वापन मालूम पड़े, हमारा कर्त्तव्य या जिम्मेदारी नहीं है। कर्त्तव्य और जिम्मेदारी की विशेष पहचान यही है कि उसके करने में हमें पूरी आसानी और गहरा आनन्द मिलता हो।

हमारी परिस्थितियाँ भली या बुरी कैसी भी हों; हम अमीर हों या ग़रीब, तन्दुरुस्त हों या बीमार, समाज में नामवर हों या गुमनाम, बड़े विद्वान हों या मामूली पढ़े लिखे, हम समाज के शिक्षित और सफेदपोश वर्ग के, इसलिए ऊपरी वर्ग के व्यक्ति हैं। हमारी गिनती भारतीय समाज के बहुत थोड़े से ऊपरी—कठिनाई से दश प्रतिशत लोगों में है; और हमारे समाज का बहुत बड़ा भाग कम से कम नब्बे प्रतिशत—अशिक्षित और अल्प-शिक्षित जन-समाज हमारे नीचे है। अगर हम

अपनी शक्तियों, सम्भावनाओं और जिम्मेदारियों की ओर से आँखें बन्द किये सोते रहेंगे तो यह सारा समाज कैसे जागेगा और जियेगा ? और हमें ही जगाने और जीवन की गति देने के लिए दूसरा कौन आयेगा ? क्या अशिक्षित वर्ग के लोग, जो और भी गहरी नींद में सोये हुए हैं, हमें जगायेंगे ? हमारी और हमारे समाज की इस समय सबसे अधिक व्यापक समस्या आत्म-निर्माण और समाज के नव निर्माण की है। बिना इस नव-निर्माण के राजनैतिक स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है। हममें से—शिक्षित और सफेदपोश वर्ग के लोगों में से—हरेक की जिम्मेदारी है कि वह स्वयं जागे और जियें तथा दूसरों को जागने और जीने में सहायता दे। हममें से हरेक की जिम्मेदारी समाज का नेतृत्व और निर्माण करने की है, क्योंकि हम शिक्षित हैं और साफ़ कपड़े की कदर जानते हैं और ठीक सोचने-समझने की समाई रखते हैं। हममें से हरेक वास्तव में समाज का नेता और निर्माता है और ऐसा होने के यथेष्ट साधन हमारे भीतर मौज़ूद हैं। समाज के नेता और निर्माता होने के हमारे मार्ग में केवल एक बात बाधक हो सकती है और वह यही कि हम स्वयं ही अपना और अपने समाज का नेतृत्व और निर्माण करने से इन्कार कर दें। अपने और समाज के नए निर्माण के लिए हम चाहें तो आज से, अभी से अपने भीतर एक शक्तिशाली परिवर्त्तन प्रारम्भ कर सकते हैं और अपनी मीठी और महान जिम्मेदारियों को अपने हाथों में आया हुआ देख सकते हैं। हममें से हरेक के सामने एक उज्ज्वल और महान भविष्य है। उसे प्रयत्न और परिश्रम के साथ खोजने और पकड़ने का कोई प्रश्न नहीं है—प्रश्न है केवल उसे स्वीकार या अस्वीकार करने का। अगर हम उसे स्वीकार करते हैं—जागने और पूरे जीवन के साथ जीने का इरादा करते हैं, ठीक सोचने और अपनी परिस्थितियों को समझने का निश्चय करते हैं, अपने सुख और समझदारी में दूसरों का भी ठीक तरीके से हिस्सा बँटाने का निर्णय करते हैं तो हम उसी क्षण से अपने भीतर एक महान परिवर्त्तन उभरता हुआ देखेंगे और अपनी परिस्थितियों को और अपने साथी समाज को भी तेज़ी के साथ बदलने लगेंगे। तभी हमारा, समाज के एक एक व्यक्ति का और इस प्रकार समूचे समाज का नया निर्माण हो सकेगा।

ऊपर के शब्दों में मैंने अपने सहवर्गी, सभी शिक्षित जनों से दो सिफ़ारिशें की हैं। पहली यह कि वे अपनी मुसीबतों या मजबूरियों से बचने या भागने की दौड़-धूप रोक कर उन्हें करीब से देखने-समझने का प्रयत्न करें। अगर वे निर्धन हैं तो धन कमाने के लिए रात-दिन एक करना छोड़ दें। यदि उनके हृदय में किसी 'पाप' या 'वासना' की प्रबलता है तो पूजा-पाठ और सत्संग-साधना के द्वारा अपने मन को रगड़ कर महात्मा बन जाने का उतावलापन छोड़ दें। वे निर्धनता के कष्टों को, वासना की कसकों को ज़रा सहकर देखें तो कि आखिर वे हैं क्या। ऐसा करके ही वे उस निर्धनता और उस वासना को भी ठीक ठीक समझ लेंगे, और अपनी ढकी हुई कमज़ोरियों और उनके भीतर छिपी हुई अपनी शक्तियों को देख सकेंगे। दूसरी सिफारिश मैंने यह की है कि हम सभी, जो कि समूचे भारतीय समाज के शिक्षित और सफेदपोश वर्ग के—उसके ऊपरी दश प्रतिशत समाज के व्यक्ति हैं और सोचने-समझने की समाई रखते हैं, इस बात का अनुभव करें कि स्वयं जागने और शेष बहु-संख्यक, नब्बे प्रतिशत समाज को जगाने की जिम्मेदारी हमारी ही है। हम ही समाज के नेता

और निर्माता हैं। हम अभी अपने आप को कितना ही कमज़ोर अयोग्य और घिरा हुआ क्यों न देखते हों, हममें समाज का नेतृत्व करने और उसका निर्माण करने की समाई है, क्योंकि हम सोच सकते हैं। मेरी यह दूसरी सिफारिश यही है कि हम अपनी इस स्थिति से—नेता और निर्माता होने की स्थिति से—बिना सोचे समझे इनकार न कर दें। राजनैतिक नेता और धार्मिक व्याख्यान देने वाले और बड़ी बड़ी पुस्तकें लिखने वाले ही समाज के सम्पूर्ण नेता नहीं हैं, वे अपने अपने सीमित क्षेत्र के कार्यकर्त्ता हैं। समाज के निर्माण के लिए जितने नेताओं की आवश्यकता है उसके मुकाबले इनकी गिनती मुट्ठी भर भी नहीं है। जब हम समाज के बीच अपनी ठीक परिस्थिति को एक बार पहचान लेंगे तब देखेंगे कि हम उसके लिए बहुत बड़े कार्य कर सकते हैं। तब हम देखेंगे कि अभी तक हमने अपनी समाई के बहुत छोटे-छोटे काम ही समाज के सामने रखे हैं, जबकि उनसे कहीं बड़े और अच्छे काम हम कर सकते थे। अपनी हैसियत को स्वीकार करते ही हम समाज के सामने अपना अच्छे से अच्छा काम, अच्छे से अच्छे, अधिक से अधिक प्रभावशाली तरीके से रखने के लिए सहज ही आगे बढ़ेंगे। अपनी रोटी और सुख के लिए हम जो कुछ करते हैं वह सभी समाज के उपयोग का काम है, लेकिन अभी हम उसे अपने लिए करते हैं और तब समाज के—दूसरों के—लिए करेंगे। हममें से कुछ लोगों को अपना कार्य-क्षेत्र, अपना पेशा बदलना भी पड़ सकता है। हममें से जिन्हें अपने वर्त्तमान काम में रस नहीं मिलता और उसे वह विवश होकर पैसा कमाने के लिए ही करते है उनके लिए उस काम को एकदम छोड़ कर किसी दूसरे रुचिकर काम में हाथ लगाना अधिक उपयुक्त हो सकता है। ठीक देखें तो धैर्य और साहस के साथ यह परिवर्तन करना ही चाहिए और आर्थिक सुरक्षा से उलट-फेर और पिछले पेशे में बिताये हुए इतने या उतने वर्षों की चिन्ता न करनी चाहिये। हममें से बहुत से लोग अपना पेशा बदल कर अच्छे लेखक, चिकित्सक, व्यापारी या कारीगर बन सकते हैं। जितना पैसा हम अपने लिए आवश्यक समझते हैं उससे बहुत कम में ही कुछ दिनों काफी सुख के साथ गुज़र कर सकते हैं और अपने समय और शक्ति को अपनी प्रकृति के अनुकूल ठीक काम के लिए स्वतन्त्र कर सकते हैं।

रामायण-काल के कुछ रीति-रिवाज

डॉ० शान्तिकुमार नानूराम व्यास

रामराज्य में सामाजिक रीति-रिवाज 'लौकिक समय', 'लोकवृत्त' या 'लोकाचार' कहलाते थे। बालि के आक्षेपों का उत्तर देते हुए राम ने उसे यह उलाहना दिया था कि लौकिक सदाचार का स्वयं तुमको ज्ञान नहीं है फिर अज्ञानवश तुम मेरी निन्दा क्यों कर रहे हो ! राम सामाजिक प्रथाओं और परम्पराओं के पूर्ण ज्ञाता थे (लौकिके समयाचारे विशारद:)। इस प्रकार की प्रथाओं को देश के स्वीकृत कानूनों के समान महत्ता प्राप्त थी। राम के अनुसार लोकवृत्त का उल्लघन करने वाला दंड का भागी होता (४।१८।२१)।

लोकापवाद का भय

समाज की निन्दा अथवा लोकदृष्टि से च्युत जाने का भय व्यक्ति विशेष को लौकिक प्रथाओं का पालन करने के लिए बाध्य करता था। लोकोपवाद की आशंका से ही राजा लोग मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर पाते थे। राम को वन भेजने में दशरथ को सब से बड़ा भय यही था कि इससे संसार में मेरी महान् अपकीर्ति होगी, लोग मेरी पापाचारी के समान अवज्ञा करेंगे तथा स्त्री को प्रसन्न करने के लिए पुत्र का अहित करने के कारण अन्य राजा भी मेरी भर्त्सना करेंगे। सुमंत्र ने कैकेयी को यह चेतावनी दी थी कि यदि तुम राम को वन में भेजने का दुराग्रह करोगी तो देश में तुम्हारी बड़ी बुराई होगी—'परिवादो हि ते देवि महाँल्लोके चरिष्यति।' (२।३५।३३)

रामायण में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जब कि लोकनिन्दा के भय से स्पष्टत: अन्याय-पूर्ण प्रतीत होने वाले कार्य भी किए गए हैं। राम सीता को पूर्णतया सच्चरित्र मानते थे, किन्तु लोकदृष्टि से उनकी शुद्धि-परीक्षा आवश्यक थी (६।११८।१४)। उत्तरकाण्ड में राम ने सीता का लोकापवाद के कारण ही परित्याग किया था (लोकापवादो बलवान्येन त्यक्ता हि मैथिलि)। लोकनिन्दा के भय से राम अपने भाइयों और प्राणों को भी त्यागने के लिए प्रस्तुत थे। (७।४५।१५।।

परम्पराओं का पालन

पूर्व काल से चली आनेवाली परम्पराओं और रूढ़ियों का पालन वांछनीय माना जाता था। राजा का यह कर्तव्य था कि वह देश की चिरकालीन परम्पराओं और रूढ़ियों का पालन करे तथा अपनी व्यक्तिगत भावनाओं एवं हठों का अनुसरण न करे (४।१७।३२), किसी कार्य-विशेष के

संचालन में प्राचीन काल के महापुरुषों द्वारा स्थापित रीति-नीति ही प्रमाणभूत होती थी। बालि-वध का औचित्य सिद्ध करने के लिए राम ने अपने पूर्वज महाराज मान्धाता का उदाहरण दिया था जिन्होंने वाली जैसे एक व्यभिचारी तपस्वी का वध किया था (४।१८।३३)। लोकहित की दृष्टि से ताटका-वध के लिए राम को प्रेरित करने में विश्वामित्र ने दो पूर्वकालीन उदाहरण प्रस्तुत किए थे—एक तो विष्णु द्वारा भृगु-पत्नी का वध और दूसरा इन्द्र द्वारा विरोचन-पुत्री मंथरा का वध। दशरथ से सत्यप्रतिज्ञ बनने का आग्रह करने के लिए कैकेयी ने सागर, शिवि और अलर्क के उदाहरण दिए थे।

तत्कालीन राजनीति में यह परम्परा स्थापित थी कि कर्तव्य-पालन में लगे हुए दूत का वध नहीं किया जा सकता (दूता न वध्या समयेषु राजन् सर्वेषु सर्वत्र वदन्ति सन्तः)। राजाओं में यह मर्यादा स्वीकृत थी कि वे प्रजाजनों से कोई दान या उपहार ग्रहण नहीं कर सकते थे (प्रतिग्रहो हि विप्रेन्द्र क्षत्रियाणां सुगर्हितः)। वे केवल दान देने के अधिकारी थे।

अभिनन्दन-प्रथा

आजकल की भाँति उन दिनों भी उपयुक्त अवसरों पर अभिनन्दन करने की प्रथा प्रचलित थी। जनस्थान में जब राम ने १४,००० राक्षस-सेना के साथ खर-दूषण को मृत्यु के घाट उतार दिया तब देवों, ऋषियों और चारणों ने मिलकर राम को उनके अनुपम साहस एवं वीर्य पर बधाई दी थी। राम के राज्याभिषेक के बाद उनके दरबार में अनेक मुनि राक्षसों के वध के उपलक्ष्य में उनका 'प्रतिनन्दन' करने के लिए आए थे। सफलतापूर्वक सीतान्वेषण करके जब हनुमान लंका से लौटे तब अंगद ने उनके इस महान् आश्चर्यकारी कृत्य पर उनकी स्वामिभक्ति, उनके अद्भुत पराक्रम एवं धैर्य पर उनका साधुवाद किया था। रावण का वध होने पर अंगद आदि वानरों ने राम का अभिनन्दन किया था—'समेत्य हृष्टा विजयेन राघवं रणेऽभिरामं विधिनाभ्यपूजयन्।'

अद्भुत एवं विस्मयोत्पादक कार्यों के सम्पादन पर दर्शकगण 'साधु-साधु' कह कर कर्ता में हर्ष और उल्लास का संचार करते थे। जब कार्तवीर्य अर्जुन ने रावण को बन्दी बना लिया तब सिद्धों, चारणों और देवों ने प्रसन्न हो 'अच्छा किया, अच्छा किया' का घोष किया था। शरणागत विभीषण के प्रति महात्मा राम की उदारता से विस्मयान्वित हो वानरों ने साधु-साधु के नारे लगाए थे—'प्रचुक्रुशुर्महात्मानं साधु साध्विति चाब्रुवन्।' जब सुग्रीव ने अपने मृत भाई वाली के पुत्र अंगद को अपना युवराज बनाया तब इस अप्रत्याशित सौजन्य से वानर बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने वानर-राज का जयघोष किया। लंका-युद्ध के वर्णन में राक्षसों को मारने पर विजेता वानरों को साधुवाद मिलने के अनेक उदारण मिलते हैं।

उपहार-प्रदान

उत्सवों के अवसर पर आगत अभ्यागतों को बहुमूल्य वस्तुओं का उपहार दिया जाता था।

अश्वमेध-यज्ञ की समाप्ति पर राम ने प्रमुख वानरों, राक्षसों तथा राजाओं को प्रीति-उपहार प्रदान कर उन्हें विदा किया था। शुभ-संवाद लाने वालों को स्वेच्छा से पारितोषिक दिया जाता था। जब राम के मित्रों ने राम के सद्यः यौवराज्याभिषेक की शुभ-सूचना कौशल्या को दी तब राम-माता ने हर्ष-विभोर हो उन्हें सुवर्ण, गौएँ, तथा विविध प्रकार के रत्न प्रदान किए थे। जब मंथरा ने उक्त सवाद कैकेई को सुनाया तब कैकेई ने भी प्रसन्न होकर उस कुबड़ी को एक सुन्दर आभूषण प्रदान किया। राजागण सेवकों के प्रति अपना हर्ष कुछ-न-कुछ पुरस्कार देकर ही प्रकट करते थे। जब विद्युज्जिह्व ने माया-सीता की रचना करके रावण को दिखाई तब राक्षसराज ने संतुष्ट होकर उसे पुरस्कारस्वरूप एक आभरण दिया। युद्ध में विजय-प्राप्ति के बाद सैनिकों को धन और रत्नों का उपहार दिया जाता था। सेवकों को दान, मान और मधुर वचनों से प्रसन्न रखा जाता था।

राजाओं को संवाद प्रेषित करते समय उपहार भेजने की प्रथा भी प्रचलित थी। भरत को बुलाने के लिए जो दूत केकय देश भेजे गये थे वे राजकुमार भरत तथा उनके मामा युधाजित् के लिए विविध उपहार ले गये थे। विभीषण ने रावण से प्रार्थना की कि आप राम को सीता धन, रत्न, सुन्दर आभूषण, दिव्य वस्त्र तथा चित्र-विचित्र मणियों के साथ लौटा दीजिये। इस उपहार-प्रथा में आदान-प्रदान का नियम सदैव ही बरता जाता था। अश्वमेध-यज्ञ में आने वाले राजा जहाँ राम को भेंट करने के लिए मणियों का उपहार लाए थे, वहाँ उन्हें भी विदा होते समय राम की ओर से प्रीति-उपहार मिला था। सुग्रीव के साथ राम-लक्ष्मण की मित्रता स्थापित होने पर हनुमान् ने लक्ष्मण की मनोरंजनार्थ चन्दनवृक्ष की एक पुष्पित शाखा भेंट की थी। शत्रुओं को भी समझौता होने पर उपहार दिया जाता था। रावण को मुक्त करके कार्तवीर्य अर्जुन ने उसका आभूषणों, मालाओं तथा वस्त्रों से सत्कार किया था।

अग्नि की साक्षिता

मित्रता की मर्यादा अग्नि की साक्षिता में स्थापित की जाती थी। राम और सुग्रीव अग्नि को साक्षी बनाकर मित्र बने थे। निवातकवचों के साथ रावण ने अपनी मित्रता अग्नि के समक्ष स्थापित की थी। इसी प्रकार उसने वाली और कार्तवीर्य अर्जुन से भी मित्रता की थी। जिस प्रकार अग्नि के समक्ष सम्पन्न किया गया वैवाहिक बन्धन अविच्छेद्य होता था, वैसा ही अग्नि की साक्षिता में की गई मित्रता अटूट मानी जाती थी। अग्नि के सामने ली गई शपथ का महत्व दुगुना हो जाता था। अग्नि में प्रवेश करने से पहले सीता ने उसके समक्ष अपने पातिव्रत्य की शपथ ली थी।

अपने कथन की सत्यता प्रमाणित करने के लिए शपथ खाने का रिवाज सर्वत्र प्रचलित था। रामायण में शायद ही कोई पात्र ऐसा हो जिसने शपथ न खाई हो। लोग प्रायः ऐसी वस्तुओं की शपथ लिया करते थे। जो उन्हें अत्यधिक प्रिय थी। दशरथ ने कैकयी से कहा था कि जिनको

दो घड़ी के लिये भी न देखने पर मैं जीवित नहीं रह सकता उन राम की शपथ खाकर मैं कहता हूँ कि तुम जो कहोगी उसे मैं पूर्ण करूँगा। कैकयी ने भरत और स्वयं अपनी शपथ खायी थी। राम का वन अनुगमन करने के लिए लक्ष्मण ने सत्य की, अपने धनुष की, अपने दान तथा इष्ट कर्म की शपथ ली थी। इन्द्रजित पर प्राणघातक बाण छोड़ने से पहले लक्ष्मण ने राम के नाम, यश और शौर्य का आवाहन किया था। राम ने पिता का वचन पूरा करने के लिए कैकयी के सामने अपने सत्य और सत्कर्मों की शपथ ली थी। माता पिता प्रायः अपने पुत्रों की, पतिव्रता नारियाँ अपने सदाचार की, राजा अपने दान और सुशासन की, ऋषि-मुनि अपनी चिर-तपस्या की, तपस्वी अपने अग्निहोत्र की तथा सैनिक अपने शस्त्रों का शपथ खाया करते थे। हनुमान ने पर्वतों को तथा अपने चखे हुए फल-मूलों की शपथ खाई थी।

पैरों की शपथ खाने का विचित्र रिवाज भी रामायण-काल में मिलता है। उत्तरकाण्ड में राम अपने भाइयों से कहते हैं कि मैंने सीता का परित्याग कर देने का निश्चय कर लिया है; तुम्हें मेरे पैरों की शपथ है जो इसका किसी प्रकार विरोध किया। इस प्रकार की शपथों के केवल दो-तीन उदाहरण रामायण में मिलते हैं। जब कोई ज्येष्ठ व्यक्ति अपने से कनिष्ठ व्यक्ति को किसी कार्य का आदेश देता है और उसे यह संदेह होता है कि आदेश का भली-भाँति पालन न किया जाएगा तब वह उसे अपने पैरों की शपथ दिलाता है। जब खर-दूषण ने अपनी विशाल राक्षसी सेना के साथ राम-लक्ष्मण-सीता पर आक्रमण किया तब राम ने लक्ष्मण को आज्ञा दी की तुम सीता को लेकर गुफा में चले जाओ और धनुष बाण से सज्जित हो सावधानी से इनकी रक्षा करना; मैं तुम्हें अपनी पैरों की शपथ दिलाता हूँ:

प्रतिकूलितुमिच्छामि न हि वाक्यमिदं त्वया।
शापितो मम पादाभ्यां गम्यतां वत्स मा चिरम्॥

इसी प्रकार बाली सुग्रीव को अपने पैरों की शपथ दिला कर गुफा में मायावी से लड़ने गया था—'शापयित्वा च मां पद्भ्यां प्रविवेश बिलं तत।' इसी प्रकार पैरों की शपथ दिलाने का यह अर्थ है कि ज्येष्ठ पुरुष के पैर कनिष्ठ व्यक्ति के लिए आदरणीय होते हैं; अतः उनकी शपथ दिलाए जाने पर कनिष्ठ व्यक्ति के लिए ज्येष्ठ पुरुष का आदर्श न मानना असम्भव सा हो जाता है। ऐसा शपथ केवल कनिष्ठ व्यक्ति को दिलाई जा सकती थी।

अनशन द्वारा प्राणत्याग

रामायण-काल में अनशन या अन्य किसी प्रकार से प्राणत्याग कर देने की प्रथा बहुत प्रचलित थी। इसे 'प्रायोपवेशन' कहा जाता था। अपने ध्येय की पूर्ति न होने पर दुःखातिरेक के कारण ऐसा किया जाता था। अंगद के वानर दल ने सीतान्वेषण में हताश होकर मरणान्त उपवास करने का निश्चय किया था। वे सब मरने की इच्छा से आचमन करके समुद्र के किनारे दक्षिणाग्र कुश

बिछाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गए। अनशन करके प्राण त्याग देने का बड़ा माहात्म्य था। दशरथ के बाण से मरे हुए श्रवणकुमार को उसके पिता ने यही वरदान दिया कि बेटा, तुम्हें वही गति प्राप्त हो जो उपवास आदि के द्वारा देह त्याग करने वाले पुण्यात्मा प्राप्त करते हैं। राम के वन जाते समय कौशल्या ने उनसे कहा कि यदि तुम मुझे छोड़कर वन चले जाओगे तो मैं उपवास करके प्राण त्याग दूँगी। बाली की मृत्यु पर तारा ने भी उसके शव के पास बैठ कर मरणपर्यन्त उपवास करने का आग्रह किया था।

महर्षि शरभंग और तपस्विनी शबरी ने अग्नि में प्रवेश कर अपने प्राणों की आहुति दे दी थी। जब वन में राम मारिच-मृग के पीछे गये हुए थे और सीता के कहने पर लक्ष्मण उनके सहायतार्थ नहीं गये तब दुःख के मारे सीता ने कहा—'तुम निश्चय समझो, मैं राम के बिना तुम्हारे सामने प्राण-त्याग दूँगी—मैं या तो गोदावरी में कूद पड़ूँगी, फाँसी लगा लूँगी, विष खा लूँगी, आग में जल मरूँगी या पर्वत पर से कूद पड़ूँगी।' आत्मघात के प्रायः ये ही प्रचलित साधन रहे होंगे। जब राम ने लक्ष्मण का परित्याग कर दिया तब लक्ष्मण ने सरयू के किनारे जाकर आचमन किया और हाथ जोड़ कर सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके प्राण त्याग दिए। अपने प्रियजनों के वियोग से दुःखी राम ने भी सरयू में जाकर अपने प्राणों का विसर्जन कर दिया। ऐसा करते समय अयोध्या के अनेक नागरिकों ने उनका अनुसरण किया।

हड़ताल

विरोध या शोक स्वरूप नगर में हड़ताल करने का रिवाज आज की भाँति उस युग में भी प्रचलित था। कैकेयी के दुराग्रह से जब राम को वन जाना पड़ा तब अयोध्या में विरोधस्वरूप भीषण हड़ताल हुई थी। नगर के प्रत्येक घर का बाहरी चबूतरा और भीतरी भाग सूना दिखाई पड़ रहा था। बाजार-हाट बन्द हो गए। बड़ी-बड़ी सड़कों पर भी अधिक आदमी आते-जाते नहीं दिखाई देते थे। जो नगरी पूर्णिमा के उमड़ते हुए समुद्र की भाँति हर्षोल्लास से परिपूर्ण रहती थी वह चन्द्रहीन आकाश और जलहीन समुद्र की भाँति आनन्दशून्य दिखाई दे रही थी।

दशरथ की मृत्यु होने पर अयोध्या में शोकस्वरूप हड़ताल हुई थी। नक्षत्रहीना रात्रि और पतिविहीना नारी की भाति अयोध्यापुरी भी महामना महाराज दशरथ के बिना श्रीहीन जान पड़ती थी। नगर के सभी मनुष्य आँसू बहा रहे थे। समस्त कुलाँगनाएँ हाहाकार कर रही थीं। नगर की सड़कों और चौराहों पर आँसू बहाते हुए लोगों की भीड़ दिखाई पड़ती थीं।

धरना

भारत में सत्याग्रह आन्दोलनों के दिनों में विदेशी कपड़ों या शराब की दूकानों पर जो 'धरना' दिया जाता था उसकी झाँकी रामायण-काल में भी मिलती है। इसे 'प्रत्युपवेश' कहा जाता

था। इसके अनुसारवादी अपनी न्याय एवं धर्मसंगत मांगों को स्वीकार कराने के लिए प्रतिवादी के निवासस्थान पर कुश के आसन पर अन्न-जल का त्याग करके बैठ जाता था। उत्तरकांड में एक ब्राह्मण अपने असमय में मरे हुए बालक को लेकर राम के दरबार में उपस्थित होता है और कहता है—'यदि आप मौत के पंजे में पड़े हुए इस बालक को जीवित नहीं करेंगे तो मैं अनाथ की तरह अपनी स्त्री के साथ राजद्वार पर प्राण दे दूँगा।'—राजद्वारि मरिष्यामि पत्न्या सार्द्धमनाथवत्।

जब भरत के बारंबार अनुनय-विनय करने पर भी राम चित्रकूट से अयोध्या लौट चलने को तैयार न हुए तब भरत कुश की चटाई बिछाकर जमीन पर बैठ गए और बोले—'जब तक आर्य मुझ पर प्रसन्न नहीं होंगे तब तक मैं यहीं आपके सामने धरना दूँगा, बिना खाए-पीए कुटी के आगे पड़ा रहूँगा।' इस पर राम ने कहा, 'तात भरत, मैं तुम्हारी क्या बुराई करता हूँ जो मेरे आगे धरना दे रहे हो! ब्राह्मण एक करवट से सोकर, धरना देकर मनुष्य को अन्याय से रोक सकता है, परन्तु राजतिलक ग्रहण करने वाले क्षत्रियों के लिए इस प्रकार धरना देने का विधान नहीं है। अतः इस कठोर व्रत का परित्याग करके उठो और शीघ्र ही अयोध्यापुरी लौट जाओ।' इससे ज्ञात होता है कि सत्याग्रह करने का अधिकार ब्राह्मणों-जैसे निःशस्त्र वर्ग के लिए था, शस्त्रधारी क्षत्रियों के लिए वह वर्जित था।

अन्य प्रथाएँ

वाहन पर चढ़ने से पूर्व उसका सत्कार-पूजन करने की प्रथा प्रचलित थी। सीता के साथ अयोध्या चलने को उत्सुक वानर-स्त्रियों ने पुष्पक विमान पर सवार होने से पहले उसकी प्रदक्षिणा की थी। लंका-युद्ध में राम के उपयोग के लिए इंद्र ने जो रथ भेजा था, उसकी राम ने परिक्रमा एवं वंदना की थी। उत्तरकांड में राम पुष्पक-विमान की लाजों, सुगन्धित पुष्पों और धूप से पूजा करते हुए चित्रित किए गए हैं।

रामायण-काल में तीन की संख्या का विशेष महत्व माना जाता था। विशिष्ट धार्मिक क्रियाओं को फलीभूत करने के लिए उनकी तीन बार पुनरावृत्ति की जाती थी। अगस्त्य ने राम से कहा था कि रावण पर विजय पाने के लिए आदित्यहृदयस्तोत्र का तीन बार जप करो। पाणिग्रहण के समय वर-वधू अग्नि की तीन बार परिक्रमा करके अविच्छेद्य वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते थे। जनक ने राम को सीता समर्पित कर देने का अपना निश्चय तीन बार प्रकट किया था। कैकेयी ने राम को वन भेजने का अपना आग्रह तीन बार दोहराया था।

किसी उल्लेखनीय घटना पर पुष्प वृष्टि करना हर्षाभिव्यक्ति का एक प्रचलित साधन था। रावण का वध हो जाने पर राम पर पुष्पों की इतनी वर्षा की गई कि उनका सारा रथ ही ढँक गया। अहिल्या उद्धार के समय भी प्रचुर पुष्प वर्षा की गई थी।

अरणियों को रगड़ कर आग पैदा की जाती थीं। सड़कें दीप-वृक्षों से प्रकाशित की जाती थीं। अँधेरे में जाते समय उल्काओं या मशालों का प्रयोग किया जाता था। समारोहों पर घर का अलंकरण

किया जाता था जो 'कौतुकमंगल' कहलाता था। समय की सूचना प्रति याम [तीन घंटे] पर दुन्दुभि बजाकर दी जाती थी [सुवर्ण कोणाभिहतः प्राणदद्याम दुन्दुभिः] ।

रामायण के समय में 'तृणान्तराभिभाषण' नामक एक और सामाजिक प्रथा की सूचना मिलती है, जिसके अनुसार वक्ता एक तिनका बीच में रख कर श्रोता को सम्बोधित करता था। लंका में सीता ने तिनके की ओट लेकर रावण से बातचीत की थी। एक पतिव्रता नारी के नाते सीता का रावण-जैसे कामातुर पर-पुरुष से बोलना उचित नहीं था। किन्तु जब रावण का दुराग्रह तीव्रतर होने लगा तब उन्हें बोलने को विवश होना पड़ा और ऐसा करते समय उन्होंने तृण की ओट ले ली—'तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता !' इस उपचार का भाव यह है कि वक्ता श्रोता को प्रत्यक्ष सम्बोधित नहीं कर रहा है, अपितु तिनके को माध्यम बनाकर बोल रहा है और श्रोता केवल परोक्ष रूप से सुन रहा है। इस प्रकार तिनका भी एक व्यक्ति-सा बन जाता है, जबकि वास्तविक श्रोता तीसरा व्यक्ति हो जाता है। उस औपचारिकता के व्यवहार से सीता का रावण के प्रति हीनता का भाव प्रकट होता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में :

पुरातन इराक़ की राजधानियाँ

अमृत पंड्या

मानव इतिहास की आदि नागरिक सभ्यताएँ

इतिहास कहता है कि नागरिक सभ्यता का उदय सर्व प्रथम पश्चिम एशिया में फ़ुरात और दजला की घाटी (वर्त्तमान इराक़) में ईस्वी सन् पूर्व (ई० पू०) चौथी सहस्राब्दि के पूर्वार्ध में हुआ । इस सभ्यता को पुराविद् सुमेरीयन सभ्यता (Sumerian Civilization) कहते हैं । इसके दो तीन सदी पश्चात् नागरिक सभ्यता मिश्र (Egypt) में आरम्भ होती है । हमारे देश का इतिहास ई० पू० १५०० के करीब से शुरू होता है, जबकि चरवाहे आर्य भारत में आये । नागरिक जीवन का आरम्भ यहाँ मौर्यकाल (ई० पू० ३२३—१८४ के क़रीब) से कुछ सदी पूर्व हुआ । १६२१ में जब सिन्धु घाटी के मोहेंजोदरो और हड़प्पा नामक स्थानों में खुदाइयाँ हुईं, तब इस से एक ऐसी भारतीय नागरिक सभ्यता प्रकाश में आई, जो सुमेरीय नागरिक सभ्यता से कुछ ही सदी बाद की थी और तत्कालीन सुमेर और मिश्र की नागरिक सभ्यताओं से कई बातों में उत्कृष्ट थी और पता लगा कि भारत में नागरिक सभ्यता का आरम्भ आर्यों के आगमन से पूर्व हो चुका था । इस भारतीय सभ्यता को पहले पुरातत्ववेत्ता सिन्धु-सभ्यता (Indus Civilization) कहते थे; परन्तु यह नाम कहकर अब इसे हड़प्पा सभ्यता (Harappa Culture) कहा जाता है ।

भारत और पुरातन इराक़

भारत और इराक़ क़रीब-क़रीब नज़दीक होने से यह स्वाभाविक है कि सुमेरीया और हड़प्पा सभ्यताओं के बीच निकट का सम्बन्ध रहा हो । पुरातत्व द्वारा यह बात सिद्ध हो चुकी है । ये दोनों सभ्यताएँ इतनी समान प्रतीत होती हैं कि पुरातत्ववेत्ता दोनों का उद्गम किसी एक ही सभ्यता को मानते हैं । यह तो हुई इतिहासपूर्वकाल (Protohistoric Period) की बात । हड़प्पा सभ्यता को भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व की आर्येतर सभ्यता माना गया है । कहते हैं कि आर्य लोग भारत में ई० पू० १५ वीं सदी के करीब आये, परन्तु इस प्रश्न का पूरा हल होना

अभी बाकी है।* सम्भव है कि ये लोग यहाँ इस से पहले भी आ चुके हों और शायद हड़प्पा सभ्यता इन भारतीय आर्यों की एक सभ्यता रही हो, तो आश्चर्य नहीं।

प्राचीन इराक़ की जातियाँ और राज्य

फ़रात (Euphrates) और दजला (Tigris) की घाटी में आदिकाल में जंगली-से लोग बसते थे, जिनको सेमाइट (Semites) कहा जाता है। ई० पु० ४००० के क़रीब शायद उत्तर की ओर के ईरानी उच्च प्रदेशों पर से कृषि का ज्ञान लेकर एक जाति आई, जो उपर्युक्त नदियों के मुख के निकट के प्रदेश (वर्त्तमान दक्षिणी इराक़) में आ बसे और इस प्रदेश को वे

---

*केवल भाषा-विज्ञान के आधार पर ये सिद्धान्त उपस्थित किये गये हैं, जिनको अब विद्वान लोग शंका से परे स्वयंसिद्ध मान बैठे हैं। परन्तु भारत का प्राचीन आर्य-साहित्य इन सिद्धान्तों के विपरीत उत्तर भारत में आर्य-सभ्यता का अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से होने का विवरण बताता है। पुरातत्व की कुछ अद्यतन खोजें इस अभिप्राय की ओर ही ढलती-सी प्रतीत होती हैं। ई० पू० १४वीं सदी में पश्चिम एशिया में वैदिक-देव, वरुण, इन्द्र, नासत्य इत्यादि को पूजने वाले राज्यकर्त्ता मौजूद थे। मोहेंजोदरो और हड़प्पा में जिस चित्र-लिपि की मुद्राएँ मिली हैं, उस लिपि के परीक्षक डा० लैंग्डन, सिडनी स्मिथ, प्रभृति ने सर जानमार्शल के हड़प्पा सभ्यता के ग्रन्थ में ही अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त करते हुए कहा है कि आर्य-सभ्यता भारत में, हम समझते हैं, उस से अधिक प्राचीन प्रतीत होती है (S. Langdon and C.F. Gadd on the Indus script in 'Mahenjodaro and the Indus Civilization' (Edited by Sir John Marshall, Vol. II, pp. 414 and 432)

हाल ही में पश्चिम भारत से मध्य भारत होते हुए उत्तर प्रान्त के मेरठ ज़िले में गंगा के प्रदेश तक इतिहास पूर्वकाल की ऐसी सभ्यता के बहुसंख्यक अवशेष प्राप्त हुए हैं, जो हड़प्पा सभ्यता काल के पूर्व से आरम्भ होकर हड़प्पा सभ्यता के विनाश के बाद तक इन प्रदेशों में जारी रही है और वह इतनी बलवान प्रतीत होती है कि उसने हड़प्पा-सभ्यता का प्रवेश इन प्रदेशों में नहीं होने दिया। हड़प्पा सभ्यता से वह स्वतन्त्र प्रतीत होती है और मार्के की बात तो यह है कि जिन-जिन प्राचीन स्थानों का वर्णन प्राचीन आर्य साहित्य में मिलता है, वहाँ और कोई नहीं, केवल इसी सभ्यता के अवशेष प्राप्त होते हैं। इस सभ्यता के जिस नगर के अवशेष प्राप्त हुए हैं, उसको प्राचीन आर्य-साहित्य में माहिष्मती कहा गया है और इसके स्थापक राजाओं के रचे हुए मन्त्र ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। इन खोजों से कुछ ऐसा निर्देश मिलता है कि पाश्चात्य विद्वान भारतीय आर्य-सभ्यता और उसके काल के विषय में जो कुछ समझते और बताते आये हैं, वे वास्तविकता से कुछ दूर हैं। हमको इस विषय में अधिक खोज करने की आवश्यकता है। कुछ भी हो, परन्तु एक बात निश्चित है कि भारतीय आर्यों के प्राचीन साहित्य में इन लोगों के पुरातन इराक़वासियों के साथ सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध (Cultural and Commercial Connection) की बातें कहीं-कहीं पर मिलती हैं।

'शुमिर' कहने लगे। इन 'शुमिरवासी' (Sumerians—इनके वास्तविक नाम का पता नहीं) लोगों ने मानव-जाति के सबसे पहले नगर बसाये और देश के आदिवासी सेमाइटों को सभ्य बनाया और इसके परिणामस्वरूप मध्य और उत्तरी इराक़ में सेमाइटों की सल्तनत कायम हुई, जिनको क्रमशः अक्कद और असीरिया कहा जाता है। ई० पू० २५०० के पश्चात् ये आदिवासी सेमाइट सुमेरीयनों द्वारा सभ्य और सुशिक्षित बनकर ऐसे प्रबल बन गए कि अक्कद के लोगों ने सुमेरीय राज्य का नाश कर दिया और कुछ समय पश्चात् बाबेलु (बाद में ग्रीसवासियों ने इसको बेबीलोन (Babylon) नाम दिया।) नगर के एक सेमाइट शासक ने मध्य और दक्षिण इराक़ पर आधिपत्य स्थापित कर एक नया राज्य स्थापित किया, जिसको ग्रीसवासी बेबीलोनिया (Babylonia) कहने लगे थे। परन्तु उत्तर इराक़ के सेमाइट जो अश्शुर (Ashshur) कहलाते थे,वे इस नये राज्य से स्वतन्त्र रहे। इन अश्शुरों को ग्रीस वासी असीरीयन (Assyrians) कहते थे और इनके देश को असीरिया (Assyria)। असीरिया के राजाओं की वंशावली ई० पू० २५ वीं सदी से प्राप्त होती है और आरम्भ के अश्शुर राजाओं के नाम भाषा शास्त्र के आधार पर आर्य जाति के प्रतीत होते हैं। ई० पू० १८वीं सदी में बेबीलोनिया पर उत्तर के उच्च प्रदेशों की ओर से आर्य जाति के सरदारों के नेतृत्व में काश्शी नामक जाति के लोग आये और वहाँ इन आर्य सरदारों का राज्य कायम हुआ। ई० पू० १४वीं सदी में उत्तर के अश्शुर लोग (Assyrians) जो कि स्वभाव से अत्यन्त निर्दय और रक्तपिपासु थे, खूब प्रबल हुए और इन्होंने सारे बेबीलोनिया पर अपना राज्य स्थापित कर अन्य देशों पर अपना साम्राज्य जमाना शुरू किया। इसके पश्चात् ई० पू० ७वीं सदी में फिर बेबीलोनवासी एक सदी के लिये प्रबल बने और ई० पू० ५वीं सदी के मध्य काल में ईरानके राजाओं ने असीरिया और बेबीलोनिया—इन दोनों को समाप्त कर दिया।

ई० पू०	इराक़
३१०३—२०६४	सुमेरियन राज्यवंश
२०६४—१७४६	बेबीलोनियन राज्यवंश।
१७४६—११६६	'काश्शी' आर्यों का राज्य।
११६६—६११	बेबीलोन का इसिन और अन्य राज्यवंश।
६११—६१२	असीरियन राजाओं का सारे इराक़ पर आधिपत्य (इससे पूर्व वे केवल उत्तर इराक़ के राजा थे)
६१२—५३६	पुनः बेबीलोन का राज्य।
५३६—३३०	ईरान के सायरस द्वितीय द्वारा इराक़ पर आधिपत्य।

भारत

पश्चिमोत्तर भारत में हड़प्पा-सभ्यता का काल ई० पू० ३००० से १७०० गंगा-घाटी और राजपूताने से लेकर कन्याकुमारी तक के भारत का इतिहास अज्ञात।

उत्तर भारत में ई० पू० १५वीं सदी के करीब आर्यों का आगमन।

अज्ञात

बुद्ध और महावीर का काल।

शिशुनाग और नन्दवंश।

प्राचीन भारतीय आर्य-साहित्य में पुरातन इराक़ से सम्बन्ध के प्रमाण

भारत के प्राचीन आर्य-साहित्य में इन पुरातन इराक़वासी जातियों के साथ के निकट सम्पर्क के सूचक ये तीन प्रमाण अब तक उपलब्ध हुए हैं :

(१) अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर अक्कदीय (Akkadian) भाषा और देवों के नाम आते हैं, यह बात लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने भली-भांति प्रतिपादित की है।

(२) शतपथ ब्राह्मण में जल-प्रलय की जो कथा मिलती है, वह सुमेरियन और बेबीलोनियन जल-प्रलय की कथा से क़रीब-क़रीब मिलती आती है। महाभारत तथा अनेक पुराणों में यह कथा मिलती है।

(३) बौद्धजातक कथाओं के 'बावेरू जातक' में लिखा हुआ है कि भरूकच्छ (गुजरात में नर्मदा मुख पर वर्त्तमान भरूच या भड़ोच) के व्यापारी और मल्लाह व्यापार के लिए बावेरू जाते-आते थे। बावेरू यह बेबीलोन का वास्तविक नाम (बावेलु) था। यह नगर बेबीलोनिया की राजधानी था।

इनके अतिरिक्त और भी थोड़े से प्रमाण उपलब्ध हैं, परन्तु वे संदिग्ध हैं। स्पष्ट केवल उपर्युक्त तीन ही हैं। प्रस्तुत लेख में हम यह बतायेंगे कि हमारे प्राचीन संस्कृत-साहित्य में इराक़ की दो और पुरातन राजधानियों का उल्लेख और भौगोलिक वर्णन मिलता है। ये राजधानियाँ थीं— सुसा और निनेवा। इराक़ की पूर्वी सीमा पर ज़ैग्रोस नामक पर्वतश्रेणी की तलहटी में और दजला (टाइग्रिस) से मिलने वाली छोटी-सी केरखा नदी के तट पर सुसा नामक प्राचीन नगर था। यह इस समय भी एक छोटे-से कस्बे के रूप में विद्यमान है। एशिया के सबसे प्राचीन नगरों में सुसा की गिनती होती है। सुमेरियनों के सजातीय एलामाइट (Elamites) लोगों की यह राजधानी थी। बादमें ईरान के आरवीमीनीयन राजवंश ने इसको राजधानी बनाया। निनेवा उत्तर इराक़ में असीरियन लोगों की राजधानी थी। सुसा की भाँति यह भी प्रागैतिहासिक नगर था। इन दोनों राजधानियों के प्राचीन भारतीय वर्णन के साथ-साथ हम कुछ ऐसी नई ऐतिहासिक बातें जानेंगे, जो अब तक हमारी कल्पना के परे थीं; जैसे हमारे वेद, पुराणादि साहित्य में जिन लोगों को असुर कहा गया है और आरम्भ-काल में जिनके साथ हमारा आनुवंशिक सम्बन्ध था, वे और कोई नहीं, परन्तु असीरियन लोग थे। श्रीकृष्ण ने अपनी राजधानी द्वारावती (द्वारका) से असीरिया पर आक्रमण किया था। हमारे वैदिक देव वरुण वास्तव में दक्षिण इराक़ के एक सुमेरियन देव थे, इत्यादि।

मेरु पर्वत का वर्णन

क़रीब-क़रीब प्रत्येक प्राचीन पुराण में एक खण्ड भूगोल सम्बन्धी होता है । इस खण्ड में पृथ्वी के पर्वत, नदी, खण्ड-देश इत्यादि का वर्णन होता है । पुराणों में मेरु पर्वत को बहुत महत्त्व दिया गया है और पर्वतों का वर्णन इससे प्रारम्भ होकर उन्हें इसकी भिन्न-भिन्न शाखाएँ बनाया गया है । वायुपुराण को पुराणों में प्राचीन और प्रमाणभूत माना जाता है । इसमें मेरु का वर्णन इस प्रकार दिया हुआ है :

'जम्बूद्वीप के मध्यभाग में महामेरु पर्वत के चारों ओर 'इलावृत' नामक खण्ड है । यह पर्वत राजा की भाँति श्वेतवर्ण (बरफ़ के कारण) से सुशोभित है । मेरु पर्वत के पूर्व में भद्राश्व नामक देश है । पश्चिम में केतुमाल, उत्तर में कुरुदेश, और दक्षिण में भरत-खण्ड है—मेरुके चारों दिशाओं में चार बड़े पाद [पाये अर्थात् पर्वतश्रेणी] हैं, जिनके आधार पर यह सप्त द्वीपमय पृथ्वी टिकी हुई होने से यह [पर्वत] अचल है । [ये पाद हैं] पूर्व में मन्दर; दक्षिण में गन्ध मादन, कैलाश और हिमवत् ; पश्चिम में मानसोत्तर और उत्तर में सुपार्श्व । मेरु पर्वत के ये पाद पूर्व और पश्चिम में समुद्र तक फैले हुए हैं'

(वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, अध्याय ३४)

उपर्युक्त वर्णनमें 'भरत-खण्ड' को मेरु के दक्षिण में कहा गया है । 'भरत-खण्ड' यह वर्त्तमान भारत ही है—यह बात इसमें बहने वाली नदियों के पुराण-वर्णित नामों से सिद्ध हो जाती है । पुराणों में 'भरत-खण्ड' को 'हिमवत्' पर्वत के दक्षिण में स्थित कहा गया है और 'हिमवत्' को मेरु की दक्षिण ओर जाने वाली शाखा बताया है । अत: ज्ञात होता है कि मेरु पर्वत भरत-खण्ड और हिमवत् के उत्तर में था और इसमें से चारों दिशाओं में चार पर्वतश्रेणियाँ निकलती थीं, जिनमें से पूर्व और पश्चिम की ओर की पर्वतश्रेणियाँ समुद्र तक चली जाती थीं ।

मेरु पामीर था

अब यदि हम एशिया के पार्वत्य नक्शे को देखें, तो पता चल जायगा कि मेरु पर्वत वास्तव में पामीर रहा होगा । पामीर और उसकी शाखाओं का वर्णन करते हुए भूगोलविद् सी० मोरीसन ने कहा है :

'नक्शा देखने से हमें ज्ञात होता है कि एशिया महाद्वीप का सर्वोच्च भाग भारत के उत्तर में स्थित है । हम जानते हैं कि हिमालय दुनिया का उच्चतम पर्वत है, परन्तु एशिया के सर्वोच्च प्रदेश का केन्द्र नहीं है । यह तो वास्तव में उस केन्द्र की केवल एक शाखा है । यह केन्द्र तो पामीर की पार्वत्यग्रन्थि (Knot) है, जिसमें से अन्य पर्वतश्रेणियाँ भिन्न-भिन्न दिशाओं में फूटती हैं; उत्तर में थियेन-शान, दक्षिण में कराकोरम और हिमालय, पूर्व में कुएन-लुन और पश्चिमी पर्वतश्रेणी हिन्दुकुश रूप में आगे जाकर ऍलबर्स और टॉरस बन जाती हैं ।' (Our World, पृ० २४५)

मेरु पर्वत की पूर्व और पश्चिम (मानसोत्तर) शाखाएँ दोनों ओर तक जाती हुई बताई हैं और इसी प्रकार पामीर की इन दोनों दिशाओं में जाने वाली पर्वत शाखाएँ समुद्र तक विस्तीर्ण हैं। हमको अब कुछ शंका न रहनी चाहिए कि मेरु पर्वत यह वास्तव में मध्य एशिया का पामीर ही था।

वरुण की राजधानी सुषा (सुसा) नगरी

मेरु पर्वत की पश्चिम शाखा को, जो समुद्र तक जाती थी, उसको पुराणों में मानसोत्तर कहा गया है और यह पामीर से पश्चिम की ओर समुद्र तक जाने वाली हिन्दुकुश—ज़ॅग्रोस शाखा होनी चाहिए। मेरु पर्वत से निकलने वाली प्रत्येक शाखा या पर्वत श्रेणी के ऊपर या उसके सिर के निकट चारों दिशाओं के दिग्पालों की भिन्न-भिन्न राजधानियाँ थीं। इनके विषय में मत्स्य-पुराण कहता है :

'मेरु पर्वत के पूर्व में मानस पर्वत के शिखर पर पवित्र और सुवर्णमयी 'वस्त्वेकसारा' नामक महेन्द्र (इन्द्र) की नगरी स्थित है। मेरु पर्वत के दक्षिण में मानस पर्वत के पृष्ठ भाग में 'संयमन' नामक नगर में यम का निवास है। मेरु पर्वत के उत्तर में मानस पर्वत पर चन्द्र की 'विभावरी' नगरी है। मेरु पर्वत के पश्चिम में मानसोत्तर पर्वत के सिरे पर 'सुषा' नामक वरुण की पुरी स्थित है।' (मत्स्यपुराण, अध्याय १२४)

यदि हम एशिया के नक्शे को देखें, तो वास्तव में पामीर से निकलकर पश्चिम की ओर जाने वाली हिन्दुकुश-ज़ॅग्रोस पर्वतश्रेणी के सिरे पर समुद्र (ईरान की खाड़ी) के करीब ही 'सुसा' नामक नगरी का नाम हमको दिखाई देगा। ईरान की खाड़ी पर बसरा से कुछ अन्तर पर बन्दर शापुर स्थित है। यहाँ से तेहरान को जो रेलवे लाइन जाती है, उस पर बन्दर शापुर से १४० मील उत्तर की ओर ज़ॅग्रोस पर्वत के एक सिरे के नीचे केरखा नदी के किनारे 'सुसा' नामक क़स्बे का स्टेशन है। इस समय ईरान की खाड़ी में फ़ुरात और दजला नदियाँ इस तेजी से बहाई हुई मिट्टी डाल रही हैं कि जिससे इस खाड़ी का सागर-तीर दक्षिण की ओर प्रत्येक ३० वर्ष में एक मील के हिसाब से बढ़ता चला जा रहा है। इससे ज्ञात होता है कि अब से क़रीब ४२०० वर्ष पूर्व यानी ई० पू० २२५० तक सुसा नगरी सागर के किनारे थी।

सुसा के विषय में अंगरेज़ी विश्वकोष के १४ वें संस्करण में इस प्रकार लिखा हुआ है :

'सुसा—बाईबिल वर्णित शुशान, बहुत प्राचीन नगर है। सेमाइट और ईरानी—इन दो जातियों के निवास प्रदेशों की सीमा पर स्थित होने से दोनों देशों पर राज्य करने वाले राजाओं के लिए बतौर राजधानी के यह नगर बहुत अनुकूल पड़ता था। इस खुदाई में मानवजाति की प्राचीनतम नागरिक संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए हैं। ग्रीक लेखकों ने लिखा है कि इस नगरी की

परिधि १५ से २० मील की थी। बाद में ईरान के सम्राट डेरीयस (दारायश) प्रथम ने इसे अपनी राजधानी बनाया...'

पुराणों का सुषा वास्तवमें यही सुसा था; इसके लिए हम एक और प्रमाण देते हैं। मत्स्यपुराण में सुसा के अक्षांश का भी वर्णन है :

'धर्म की व्यवस्था और प्रजा की रक्षा के लिए मानस पर्वत के पृष्ठ भाग पर चार लोकपाल नियुक्त हैं। दक्षिण अयन में सूर्य आग्नेय दिशा में उदय होकर ज्योतिष चक्र को साथ लिये धनुष से छूटे हुए बाण की भाँति, आकाश में निरन्तर गति करता है, (इस समय) जब सूर्य इन्द्र की 'अमरावती' नगरी के मध्य भाग में पहुँचता है, तब वह यम की 'संयमनपुरी' की ओर पूर्व दिशा के भाग में (आग्नेय) उदित हुआ दिखाई देता है। (और) चन्द्र की 'विभावरी' नगरी की ओर पश्चिम भाग (वायव्य, में जब अस्त होता है, तब वह वरुण की 'सुषा' नामक पुरी में उदय हुआ दृष्टिगत होता है। जब 'विभावरी' नगरी में मध्य रात्रि होती है, तब सूर्य 'अमरावती' में अस्त होता हुआ दीख पड़ता है, और 'सुषा' पुरी में जब मध्याह्न का सूर्य होता है, तब चन्द्रपुरी (विभावरी) में सूर्योदय होता है। जब यमपुरी (संयमनपुरी) में आधी रात होती है, तब पूर्व की ओर इन्द्रपुरी (अमरावती) में सूर्य उदय होकर पश्चिम में वरुण की नगरी 'सुषा' में वह अस्त होता है।'

(मत्स्यपुराण, अध्याय १२४)

वैदिक वरुण और उनकी असुर जाति

अपने प्राचीन साहित्य में वरुण को 'जल', पश्चिम दिशा, 'समुद्र' और 'पश्चिम समुद्र' (अरब सागर) का अधिपति कहा गया है। 'वरुण प्राचीनतम वैदिक देवों में से एक हैं। उसको सर्वव्यापी आकाश का मानव रूप कहा गया है और स्वर्ग तथा पृथ्वी का निर्माता और संरक्षक बताया गया है। वेदों के कुछ अवतरणों द्वारा ज्ञात होता है कि वह 'जल' का भी देव था। पुराणों के अनुसार वह समुद्र, नदियाँ, जल, पश्चिम दिशा, इत्यादि का देव है। उसका वाहन मकर है, संज्ञा मत्स्य है और शस्त्र नागपाश है ...'

('Varuna', in the Classical Dictionary of Hindu Mythology and Religion, by J. Dowson, London, 1928, pp. 336-338).

सुषा के इस स्थान-संशोधन से हमको पता लग जाता है कि वरुण देव की राजधानी सुषा थी और वरुण भारत के नहीं अपितु दक्षिण इराक के निवासी थे। वरुण को ऋग्वेद में कई स्थानों पर 'असुर' कहा गया है, इससे यह बात अधिक स्पष्ट होती है; जैसे :

इमामूष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्य प्रवोचम्

(५, ८५, ५)।

(मित्रावरुणा) द्यां वर्ष यथो असुरस्य मायया ।
(ऋग्वेद ५, ६३, ३) ।
वरुण...असुर प्रचेता राजन्नेनाँसि शिश्रथः कृतानि
(ऋग्वेद १, २४, १४) ।

ऐसे बहुत से उदहारण ऋग्वेद में से दिये जा सकते हैं ।

असुर उत्तरी इराक़ के असीरियन थे

इस लेख के प्रारम्भ में हम देख चुके हैं कि उत्तर इराक़ (असीरिया) के प्रचीन निवासी अश्शुर कहलाते थे। पुराने बाइबिल (Old Testament) में इनको अस्सुर जाति कहा गया है, तब क्या हमारे प्राचीन साहित्य में वर्णित 'असुर' वे असीरियन लोग थे ? 'असुरों' के विषय में खूब छानबीन हुई है और सर्व प्रथम १८६६ में चैंड्विक नामक विद्वान ने यह मत प्रतिपादित किया कि भारतीय साहित्य के असुर यह असीरियन लोग थे (Hommel, Proc, Biblical Archæology. 1899, P. 132.) । इसके अतिरिक्त नीचे के निबन्धों में भी इस विषय की चर्चा हुई है ।

(1) Early Zoroastrianism by J. H. Moulton, p. 32.

(2) 'Were the Asuras Assyrians?' by H. Skold, Journal of Royal Asiatic Society, 1924, p. 265.

प्रो० वेल्वल्कर का भी यही मत है कि 'असुर' लोग असीरियन थे, नहीं कि बाद के इरानी 'अहुर' । उत्तर इराक़ में प्राचीन असीरिया की राजधानी 'निनेवा' की खुदाई में सुप्रसिद्ध अश्शुर (असीरियन) राजा असुर-बानी पाल का मृत्तिका-फलकों पर कुरेदकर लिखी हुई असीरियन और बेबीलोनियन लिपियों में लिखित हज़ारों पुस्तकों का एक बृहत् पुस्तकालय प्राप्त हुआ है और इसमें पारसी देव 'अहुर मज्द' का नाम 'अस्सर-मज़श' लिखा हुआ है । इससे पता चलता है कि ईरान में 'स' का 'उच्चारण' 'ह' होना यह बाद की घटना है ।

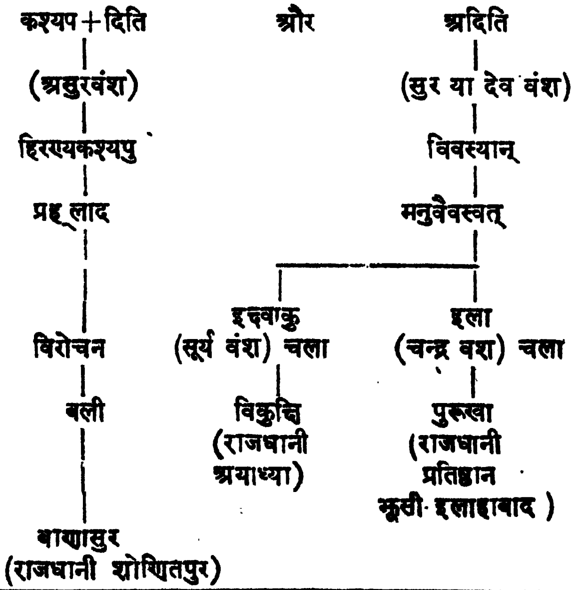
शोणितपुर की शोध में हम लोग जा कर देखेंगे कि वास्तव में हमारे साहित्य के 'असुर' ये 'असीरियन' लोग ही थे । असीरियन और आर्यों का प्राचीन सम्बन्ध असीरियन के इतिहास द्वारा भी ज्ञात होता है, यथा :

'At an early period, perhaps a thousand years before Thathumes III battled with the Mitannians (B. C. 1412) in northern Syria, an early wave of one of the peoples of Aryan speech may have occupied the Assyrian cities. Mr. Jones points out in this connection that the names of Ushpia, Kikia, and Adasi, who were early rulers of Assyria appear to be of Aryan origin.'
(D. A. Mackenzie' Myths of Babylonia and Assyria p.278)

ई० पू० २७०० से एशिया माइनर में आर्यों के होने के प्रमाण उपलब्ध हो चुके, इस प्रदेश की प्राचीन प्रजा जिसको हिटाईट (Hettite) कहा जाता है और जिसका वास्तवकि नाम खत्तीया था (मिश्र में इनको खेता और बेबीलोनिया में खत्ती कहते थे ; बाइबल में इनको हिटाइट कहा गया है, इसीलिए पाश्चात्य विद्वान् इस जाति को इस नाम से पुकारते हैं।) वे आर्य भाषा-भाषी थे—यह बात तो अब खूब प्रसिद्ध हो चुकी है। ई० पू० १८वीं सदी में बेबीलोनिया को काश्शी नामक आर्य जाति ने अपने अधिकृत किया, यह सर्व विदित बात है। ई० पू० १४वीं सदी में फिलिस्तीन में और असीरिया के निकट आर्य राजाओं के छोटे-छोटे राज्य थे, यह बात मिश्र के तल-अल-अमरना के लेखों द्वारा ज्ञात हो चुकी है। यह लोग वैदिक देव इन्द्र, वरुण, मित्र, इत्यादि के उपासक थे—यह भी हम जानते हैं। इस प्रकार असीरियन और आर्यों के कुछ समुदाय एक ही प्रदेश में रहते थे, यह बात पश्चिम एशिया का प्रचीन इतिहास हमें बताता है।*

असुरों से हमारा सम्बन्ध

हमारे प्राचीन साहित्य के अनुसार तो हम भारतीय आर्य और असुर एक ही वंश की दो शाखाएँ हैं। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा का पौत्र मरीचि था। उसका पुत्र कश्यप हुआ। कश्यप के दिति और अदिति नामक दो पत्नियाँ थीं। इनमें से दिति से असुर वंश और अदिति से सुर वंश का इस प्रकार आरम्भ हुआ :



*विशेष विवरण के लिए देखिये, 'The Aryans', by V. Gordon Childe, 1926, Chapter II.

शतपथ ब्राह्मण १४, ४, १, १, के अनुसार असुर ज्येष्ठ और देव कनिष्ठ थे (कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः) काठक संहिता, ३१, ८ में लिखा है कि जब देव बड़े हुए तो उन्होंने असुरों से कुछ भूमि-राज्य मांगा। असुरों ने यह बात स्वीकार न की। दोनों में १२ बार घोर युद्ध हुए, जो देवासुर संग्राम कहलाते हैं और जो मत्स्यपुराण (२४, ३७) के अनुसार तीन सौ वर्ष तक जारी रहे। वायुपुराण, अध्याय ६१, के अनुसार चन्द्र वंश के मूलपुरुष पुरूरवा का मूल स्थान असुर-देश में था, परन्तु माता इला की कृपा से उसे प्रतिष्ठान का राज्य मिला।

वैदिक वरुण दक्षिण इराक़ के एक सुमेरियन देव थे

यदि हमारे प्राचीनतम वैदिक देव वरुण इराक़ के निवासी असुर थे, तो क्या इराक़ के पुरातन इतिहास में उनका पता लगता है? मेरा उत्तर है कि 'हां'। दक्षिण इराक़-वासी सुमेरियन जाति के 'जल', 'समुद्र', 'बुद्धि', 'सभ्यता', इत्यादि देव 'एआ' का जो वर्णन सुमेर के साहित्य में मिलता है, उसकी हम यदि ऋग्वेद और पुराणों में वर्णित वरुण से तुलना करें, तो दोनों देव हमको एक ही प्रतीत होंगे।

सुसा के पश्चात् हमारे प्राचीन साहित्य में असीरिया (प्राचीन उत्तरी इराक़) की राजधानी निनेवा का विवरण मिलता है।

असुर राजधानी निनेवा

श्री कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध और उषा का वृतान्त सुप्रसिद्ध है। पुराणों में यह कथा मिलती है, परन्तु सबसे अधिक विस्तार-पूर्वक यह हरिवंश पुराण में वर्णित है। हरिवंश के १३ अध्याय इससे भरे हुए हैं। प्राचीनता की दृष्टि से हरिवंश खासा महत्व रखता है। सुप्रसिद्ध पुराविद डा० रमाप्रसाद चन्दा लिखते हैं:

'हरिवंश उसके वर्तमान स्वरूप में यद्यपि बहुत प्राचीन ग्रन्थ नहीं है; परन्तु व्याकरणाचार्य पाणिनि के समय में वह अपने मूलस्वरूप में विद्यमान था, इस बात के प्रमाण अष्टाध्यायी में प्राप्त होते हैं...पाणिनि कम-से-कम ई० पू० पाँचवी सदी में हुए थे और उस समय वैदिक-कालीन कथा-साहित्य वैदिक विद्यालयों में प्रचलित था। अतः हरिवंश में वर्णित यादवों के वृष्णि और अंधक कुल की कथाएँ वैदिक काल से प्रचलित रही होंगी और क़रीब-क़रीब उसी रूप में वे इस पुराण में प्राप्त होती हैं।'

[The Indo Aryan Races, Part I, p. 27]

वृष्णि और अन्धक कुल से सम्बन्धित अनिरुद्ध की कथा हरिवंश में किस रूप में मिलती है, यह ज़रा देखें। श्री कृष्ण आवर्त्त-सुराष्ट्र [गुजरात सौराष्ट्र] के शासक यादव गणराज्य के नेता थे। उनकी राजधानी सौराष्ट्र में द्वारिका थी।

हरिवंशवर्णित उषा-अनिरुद्ध की कथा

हरिवंश के वर्णन अनुसार उषा का पिता बाणासुर असुर जाति का राजा था। इसका दूसरा नाम असुर बाण लिखा हुआ मिलता है। इसकी राजधानी का नाम शोणितपुर था, जिसका दूसरा नाम हरिवंश में रुधिरपुर भी लिखा हुआ है।

संक्षिप्त में कथा (हरिवंश,विष्णुपर्व, अध्याय ११६ से १२८) इस प्रकार है—एक समय शंकर अपने पुत्र कार्तिकेय को खिला रहे थे। यह देख कर असुर बाण (बाणासुर) की इच्छा हुई कि मैं शिव का पुत्र बनूँ और उनकी तपस्या करने लगा। शिव प्रसन्न हुए और उसे इच्छित वरदान देते हुए पार्वती से बोले कि उमा, बाणासुर को अपना कार्तिकेय से छोटा पुत्र बनाओ। रुधिरपुर, जहाँ अग्नि में कार्तिकेय उत्पन्न हुआ, वहाँ उसकी राजधानी होगी, जो शोणितपुर कहलायगी... बाणासुर के उषा नामक पुत्री थी। उसने स्वप्न में एक ऐसा राजकुमार देखा, जिस पर वह मोहित हो गई। उषा की सखी थी अप्सरा चित्रलेखा, जो चित्रकला में निपुण थी। उषा को विकल देख कर उसने सब देश-प्रदेशों के राजकुमारों के चित्र बना-बना कर दिखाये और इनमें से जिस राजकुमार पर उषा मोहित हुई, वह द्वारावती*नगरी के स्वामी कृष्ण का पौत्र (उनके पुत्र प्रद्युम्न का पुत्र) अनिरुद्ध था। अप्सरा चित्रलेखा द्वारावती गई। रात को सोते हुए अनिरुद्ध का हरण कर उसे शोणितपुर, उषा के पास ले आई। उषा-अनिरुद्ध का गांधर्व विवाह हुआ बाणासुर को पता चलते ही उसने अनिरुद्ध को कैद में डाल दिया। इस ओर अनिरुद्ध के रात को एकाएक खो जाने से द्वारावती में हाहाकार मच गया। श्रीकृष्ण ने चारों दिशाओं में दूत भेजने की तैयारी की, इतने में वहाँ नारदजी आ पहुँचे और किस प्रकार अनिरुद्ध को हर कर चित्रलेखा शोणितपुर ले गई और वहाँ किस प्रकार बाणासुर ने उसे बन्दी बना रखा है, वर्णन किये। यह सुनते ही श्रीकृष्ण ने शोणितपुर पर आक्रमण करने के लिए सैन्य को तैयार किया। शोणितपुर कैसे जाया जाय, इस विषय में नारद बोले, 'हे माधव, गरुड़के वाहन बिना शोणितपुर पहुँचना कठिन है, क्योंकि शोणितपुर यहाँ [द्वारावती] से ग्यारह हज़ार योजन दूर है।' यह सुन श्रीकृष्ण बल्देव, प्रद्युम्न और नारद को लेकर गरुड़ पर बैठ कर शोणितपुर को चले। शोणितपुर निकट आते ही सब के अंग की कान्ति म्लान होने लगी। बल्देव ने इसका कारण पूछा। श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि प्रतीत होता है कि बाणासुर का शोणितपुर अब निकट आया है और उसने नगर के रक्षण के लिए चारों ओर जो अग्नि को रखा है, उसकी ज्वालाओं से अपना वर्ण म्लान हो रहा है। इस पर गरुड़ ने आकाश गंगा में डुबकी लगा कर पानी प्राप्त किया और इससे अग्नि को बुझाया। आगे चल कर श्रीकृष्ण

---

* द्वारावती का अर्थ होता है 'द्वारोंवाली नगरी'। गुजराती में द्वारका अर्थ होता है बन्दरगाह। बेबीलोन, जिसका वास्तविक नाम 'बाबेलु' था, इसका अर्थ भी 'द्वारोंवाली नगरी' होता है। द्वारावती बड़ा बन्दरगाह था और यादव सामूहिक व्यापार करके खूब धनाढ्य हुए थे—यह बात महाभारत और हरिवंश द्वारा ज्ञात होती है।

ने कल्माष, कुसुम, दहन, घोषण और तपन इन पाँच जातवेदसो (अग्नि) को पराजित किया। शोणितपुर पहुँचने पर श्रीकृष्ण और वाणासुर के बीच ससैन्य युद्ध हुआ, जिसमें बहुत मुश्किल के बाद श्रीकृष्ण ने वाणासुर को पराजित किया। अनिरुद्ध को कारावास से छुड़ाकर उषा के साथ उसका विवाह धूमधाम से किया। शोणितपुर से द्वारावती वापस जाते वक्त वाणासुर के मन्त्री कुभांड ने कहा कि हे महाबाहु श्रीकृष्ण, वाणासुर की अमृत समान दूध देने वाली गायें वरुण के पास हैं और उनका दूध पीने से मनुष्य अत्यन्त बलवान और दुर्जय बनता है। शोणितपुर से प्रस्थान कर द्वारावती आते समय मार्ग में वरुण की राजधानी आई, जिसके निकट सागर-तट पर श्रीकृष्ण ने गायों को चरते देखा, अतः उनको पकड़ने के लिए उनका पीछा किया गया। गाय दौड़ कर वरुण के राजमहल में घुस गई। इस पर गरुड़ ने वरुण के नगर में प्रवेश किया और वरुण के सैन्य को श्रीकृष्ण और उनके साथियों ने समुद्र में भगा दिया। अतः वरुण स्वयं श्रीकृष्ण से युद्ध करने बाहर निकले। उनके पीत वर्ण के छत्र में से पानी बह रहा था—ऐसे ये जल के स्वामी थे। अन्त को वरुण परास्त हुए। फिर श्रीकृष्ण द्वारावती आये। वाणासुर और वरुण की श्रीकृष्ण द्वारा पराजय और उषा—अनिरुद्ध के विवाह के समाचार जान कर सारे नगर और यादवों को अपार हर्ष हुआ। उषा के साथ कई असुर कन्याएँ आई थीं, जिनका विवाह योग्य यादव वरों के साथ किया गया।

वाणासुर का शोणितपुर निनेवा था

उपर्युक्त कथा से ज्ञात होता है कि शोणितपुर द्वारावती से बहुत अधिक (ग्यारह हजार योजन) दूर था। वह द्वारावती से पश्चिम दिशा में था, क्योंकि पश्चिम के दिक्पाल वरुण का नगर मार्ग में आता था। शोणितपुर द्वारावती से पश्चिम दिशा में था, इसका एक और प्रमाण यह है कि मार्ग में (वरुण की राजधानी निकट) समुद्र आता था। वरुण की राजधानी सुसा थी—यह हम भली—भाँति देख चुके हैं। शोणितपुर से द्वारावती वापस आते समय मार्ग में यह नगर आया था। अतः शोणितपुर सुसा की दिशा में उससे आगे रहा होना चाहिए। परन्तु शोणितपुर नाम नक्शे में हमें कहीं नहीं मिलता। हमें भूलना नहीं चाहिए कि 'शोणितपुर' का अन्य नाम हरिवंश में 'रुधिरपुर' भी दिया हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि असुर जाति की इस राजधानी का यह नाम नहीं था, परन्तु उसका जो कुछ वास्तविक नाम रहा होगा, उसका यह शोणितपुर या रुधिरपुर नाम संस्कृतानुवाद प्रतीत होता है। सुसा के परे पश्चिमोत्तर में अश्शुर (अस्सुर) जाति का देश था, जिसकी राजधानी का नाम था निनेवा। निनेवा बहुत बड़ा नगर था, इसके अवशेषों की खुदाई हो चुकी है। निनेवा के आस पास पेट्रोलियम (खनिज तेल) के कुएँ बड़ी संख्या में हैं। प्राचीन काल में इन कुओं में से अग्नि की ज्वाला निकला करती थी। अब इन कुओं को बाँध लिया गया है और खनिज तेल को शुद्ध करने के लिए यहाँ यन्त्र लगाये गये। श्रीकृष्ण जब शोणितपुर के निकट आये और उनकी तथा उनके साथियों के शरीर की कान्ति जिन ज्वालाओं से म्लान होने लगी, वे ज्वालाएँ शायद इन खनिज तेल के कुदरती सोतों की रही हों, तो आश्चर्य नहीं। परन्तु निनेवा और शोणित (रुधिर) पुर के नाम का मेल तो बैठता नहीं है। इसका उत्तर हमको हिब्रु (पुराना)

बाइबल (Bible, Old Testament) द्वारा मिल जाता है। अस्सुर लोग बाद में बड़े अत्याचारी हो गये थे और उन्होंने यहूदियों पर बहुत जुल्म किये। उस समय अस्सुर जाति या असीरिया का राजा था असुर-बानी-पाल। इससे बढ़ कर प्रतापी अन्य राजा वहाँ नहीं हुआ। इसने अपना साम्राज्य सारे पश्चिम एशिया पर स्थापित कर लिया था। यह बहुत बड़ा विद्याव्यसनी भी था। निनेवा की खुदाई में इसका हज़ारों ग्रन्थों का पुस्तकालय प्राप्त हुआ है। यहूदियों पर अत्याचार करने के कारण उनके एक पैगम्बर नाहुम ने निनेवा को 'रुधिर नगर' या 'खूनी शहर' का नाम दिया था, क्योंकि वहाँ असीरियन लोग अपने युद्ध-बन्दियों पर घातक अत्याचार करते थे। 'The Israeltish prophet Nahum described Nineveh as 'The Bloody City' ' The City of Bloods' (Standard History of the World vol. I, Assyrian Civilization. p. 222) नाहुम ने निनेवा को 'रुधिर नगर' कहकर अनेक शाप दिये हैं जिनका वर्णन पुराने बाइबल (The Bible, Old Testament, Nahum, chapters II and III) में दिया गया है। इस प्रकार हमारे प्राचीन साहित्य में अस्सुर राजधानी निनेवा का नाम शोणित या रुधिरपुर क्यों दिया है, इस बात का रहस्योद्घाटन हो जाता है।

इस प्रकार हम अपने प्राचीन साहित्य में असीरिया की राजधानी को खोज निकालने में समर्थ होते हैं। शोणितपुर को हमारे साहित्य में असुर जाति और उसके राजाओं की राजधानी कहा गया है और केवल भौगोलिक वर्णनों के आधार पर शोणितपुर को खोजते खोजते हम अनायास ही अस्सुर जाति के देश असीरिया में और वहाँ के 'असुर' पदवीधारी राजाओं के बीच आ पहुँचते हैं और वहीं हम निनेवा के रूप में शोणितपुर को पाते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हमारे प्राचीन साहित्य के असुर वास्तव में असीरियन लोग ही थे, न कि बाद के समय के पारसियों के पूर्वज 'अहुर'।

अस्सुर या अशुर

असीरियन भाषा के अनुसार 'अस्सुर' या 'अशुर' शब्द का अर्थ होता है, 'पवित्र', 'शुभ-कर्ता' और 'दयालु' ('Ashur the National God of Assyria', in the Myths of Babylonia and Assyria, by D. A. Mackenzie, p. 326) हमारे यहाँ प्रारम्भ में 'असुर' शब्द का अर्थ होता था, 'बुद्धिमान्', 'प्राणवान्' और 'बलवान' (V. K. Rajwade, 'Asura' Prosc. first Oriental Conference, Poona, 1922. p. 1) ई० पू० १४वीं सदी के पश्चात् ज्योंही अस्सुरों या असुरों को पश्चिम एशिया में साम्राज्य विस्तार ने का मौका मिला, त्योंही स्वभावतः वे निर्दय और अत्याचारी होते गये और 'असुर' शब्द का अर्थ भी उनके दुष्कार्यों के साथ बदल ने लगा और यहाँ तक कि बाद में किसी भी निर्दय, अत्याचारी, बर्बर और असभ्य को असुर कहा जाने लगा। चुटिया नागपुर प्रदेश में एक वन्य जाति है और उसका नाम भी बर्बरता के कारण असुर पड़ गया है। यही बात 'यवन', 'म्लेच्छ', इत्यादि शब्दों के विषय में हुई और बाद में हम वास्तविक असुरों, यवनों इत्यादि को भूल कर किन्हीं और लोगों को इन नामों से सम्बोधन करने लगे।

बाणासुर और असीरियन राजवंशावली

अब एक प्रश्न और हल करना है। वह यह कि जब असुर बाण या बाणासुर असीरियनों* का राजा सिद्ध होता है, तब उसका नाम असीरियन राजवंशावली में मिलना चाहिए। वास्तव में यह नाम मिलता है। असीरिया की वंशावली के विषय में यह याद रखना चाहिए कि वह सम्पूर्ण प्राप्त नहीं होती है। वहाँ लेखन–कार्य ईंटों पर होने से ईंटें टूटी हुई मिलने से बेबीलोनियन और असीरियन साहित्य का कोई लेख या पुस्तक सम्पूर्ण नहीं मिला। असीरियन राजवंशावली ई० पू० २५ वीं सदी के करीब प्राप्त होती है। आरम्भिक राजाओं के नाम भाषा-शास्त्र के आधार पर आर्य प्रतीत होते हैं (Kings of Assyria can be traced back to 2400 B. C. the two earliest, Ushpia and Kikia, being possibly Mitanni Aryans', The New Illustrated World History, 1947, P. 14) इसके पश्चत् १५ वीं सदी ई० पू० तक के काल में तीन राजाओं के नाम मिलते है; वे थे बेल-सुमौली, इर्ब-बुल और अशुर-इद्दीन-अरवी। इसके पश्चात् ई० पू० १४४० से ई० पू० १०७० के करीब तक १६ राजाओं के नाम मिलते हैं, जिनमें से कुछ के नाम थे अशुर-बेल-निसीसु, बुजुर-अशुर, अशुर-उपल्लित, बेल-उलुश, बेल-लुश, बेल-कुदुर-उशुर, अशुर-दयन-प्रथम, अशुर-रिस्-इलिम, तिग्लथ-पिलेसर-प्रथम, अशुर-बिलकला इत्यादि। इसके पश्चात् करीब १५० वर्ष तक किसी राजा का नाम प्राप्त नहीं होता। ई० पू० ६३० से ई० पू० ६२५ तक के १७ राजाओं की वंशावली सम्पूर्ण प्राप्त होती है, इनमें प्रसिद्ध थे अशुर-मजुर, अशुर-इज़िर-पाल, शलमनेसर द्वितीय, तृतीय और चथुर्त, अशुरदमन-द्वितीय और तृतीय, अशुर-बानी-पाल, अशुर एमिद इलिन इत्यादि। ध्यान देने योग्य बात यह है कि अधिकाँश असीरियन राजा अशुर उपाधिकारी होते थे। इनमें जो प्रतापी हुए उनमें से अशुर-बानी-पाल का नाम हमारे 'असुर-बाण' नाम से बहुत कुछ समानता रखता। 'अशुर-बानी-पाल' नाम में 'पाल' यह उपाधि थी, अतः शेष नाम 'अशुर-बानी ही रह जाता है। अब इसमें और 'अशुर-बाण' में खास कोई अन्तर नहीं रह जाता।

परन्तु एक मुश्किल उपस्थित होती है। वह यह कि इस अशुर-बानी का राजकाल ई० पू० ६६८ से ६२६ तक का था। श्रीकृष्ण का समय यह तो कभी नहीं हो सकता और न ई० पू० ३१०२ हो सकता है जैसा कि हमारे ज्योतिषि मानते है। इतिहासकारों ने श्रीकृष्ण और महाभारत का काल निर्णय करने में बहुत श्रम किया है। पुराणों में महाभारत और उसके पश्चात् के नन्दवंश तक के जिन राजाओं के राजकाल दिये गये हैं, उनके आधार पर के० पी० जायसवाल के मतानुसार महाभारत युद्ध ई० पू० १४२४ में, प्रधान और शामशास्त्री के अनुसार क्रमशः १४५१ और १४१२ में हुआ था (Chronology of Ancient India, by S.N. Pradhan,

---

*हमें याद रहे कि यह नाम ग्रीक लोगों ने असुरों को दिया था। आज के इतिहास में इतर-यूरोपीय जातियों के लिए उनके वास्तविक नहीं परन्तु बाइबल, ग्रीक और रोमन साहित्य में प्रयुक्त नामों का उपयोग होता है। यह प्रथा अब मिटनी चाहिए।

p. 248)। असीरिया की वंशावली में एक ही नाम के अनेक (चार तक) राजा हुए हैं। अतः श्री कृष्ण का समकालीन असुर-बानी-पाल या बाणासुर उपर्युक्त ई० पू० सातवीं सदी के असुर-बानी-पाल के पूर्व का रहा होना चाहिए।

श्रीकृष्ण के जीवन की एक अज्ञात और गौरवमयी घटना इस प्रकार प्रकाश में आती है और साथ-ही-साथ यह भी ज्ञात होता है कि भारत के प्राचीन आर्य, जिनको आधुनिक विद्वान हड़प्पा सभ्यता का विध्वंस कर उत्तर भारत में आ बसने वाले अर्ध जंगली चरवाहे कहते हैं, वे पश्चिम एशिया के महान् सभ्यता-केन्द्रों से अपरिचित नहीं थे और उन देशों से कुछ सम्बन्ध रखते थे। पुराणों में सभी बातें ऊलजलूल नहीं हैं और उसके ऐतिहासिक और भौगोलिक वृत्तान्त कुछ तथ्य अवश्य रखते हैं।

भारतीय कला का अनुशीलन

वासुदेवशरण अग्रवाल

१. कला से रस का दोहन

कला श्री वा सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करने का साधन है। प्रत्येक कलात्मक रचना में सौन्दर्य वा श्री का निवास रहता है। जिस सृष्टि में श्री नहीं वह रसहीन होती है। जहाँ रस नहीं, वहाँ प्राण भी नहीं रहता। जिस जगह रस, प्राण और श्री तीनों एकत्र रहते हैं वहीं कला रहती है।

कहा जाता है कि आनन्द के अनुभव के लिये विश्वकर्त्ता ने सृष्टि की रचना की। वह स्वयं रस से तृप्त है, कहीं से किसी प्रकार रस से न्यून नहीं है—रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः। (अथर्व १०।८।४४)

एक अखंड रस सृष्टि में सर्वत्र ओत-प्रोत है। उसके मधुर सरोवर शत-सहस्र-संख्या में चारों ओर भरे हुए हैं। उनसे रसानुभव के लिये प्राण सदा उत्सुक रहता है। प्राण को रस अत्यन्त प्रिय है। रस की दुर्धर्ष धाराएँ जब प्रकट होती हैं, प्राण तृप्त होता है।

रस के अनुभव के अनेक स्रोत हैं। रूप की शोभा, चरित्र, ज्ञान आदि रस-ग्रहण के अनेक स्तन हैं। कला और साहित्य भी रसानुभव का एक अत्यन्त प्रिय द्वार है। जिस युग को कला की क्षीरधात्री प्राप्त होती है वह युग रस से धन्य हो जाता है। कला के अंक में पोषित समाज को सृष्टि-सम्बन्धी श्री, प्राण और रस का अपूर्व अनुभव प्राप्त होता है।

२. कला का भू-मापन

मानस के अभ्यन्तर को भावों से और बाह्य लोक को मूर्त रूपों से भरना—यही कलात्मक सृष्टि है। कल्पना के लोक में नए-नए भावों की सृष्टि करना राष्ट्रीय चिन्तन का उत्थान-पक्ष है। उसी जगत् में पुराणकारों ने बहुमुखी गाथाओं के भव्य प्रासाद खड़े किये। साहित्यकारों ने नवीन आदर्श और चरित्र के रूपक बाँधे और इतिहास में भी साहित्य का सत्य मूर्तिमान हुआ। पुराण और साहित्य जब कल्पना के प्रदेश में भावों के नए ठाठ बनाते हैं और वे कल्पनाएँ इतिहास का सत्य बनती हैं, तभी तीनों का वरदान पाकर कला समाज के जीवन को अनेक मूर्त रूपों से भर देती है। स्थापत्य, शिल्प, चित्र, नाट्य, संगीत इनके अनेक रूप—सुधर्मा सभा में देवों की तरह—प्रत्यक्ष दर्शन देने लगते हैं, और उनके समवाय से कला का भवन जगमगाने लगता है।

शिल्पी और चित्रकार, साहित्य, पुराण और इतिहास की प्रेरणाओं को अपने ढंग से ढाल कर प्रस्तुत करने का आयोजन और प्रयत्न करते हैं। अमूर्त भाव किस प्रकार सफलता से व्यक्त किये जा सकते हैं ? इस प्रश्न से कभी कभी शिल्पी को दीर्घ काल तक जूझना पड़ता है, तब कहीं जाकर कला की परिभाषाओं के वे सूत्र उसके हाथ आते हैं जिनके द्वारा कलाकार की भाषा राष्ट्र के गूढ़ चिन्तन को व्यक्त करने के योग्य बनती है। शिल्प की भाषा बड़ी अर्थवती होती है। यह सृष्टि देवशिल्प है। इसके शिल्पी को बोलकर कुछ भी कहना नहीं पड़ता, फिर भी उसकी शिल्प-लिपि के अक्षर सभी देश और काल में अपने अभिप्राय को व्यक्त करने में समर्थ होते हैं। मानुषी शिल्प से भी अभिप्राय-प्रकाशन का यह कार्य सिद्ध होता है। कला की लिपि का आविष्कार कलाविदों की उत्कृष्ट साधना का परिणाम होता है।

कला की उत्पत्ति-स्थिति-प्रचार के लिये तीन यत्न आवश्यक हैं।

(१) अमूर्त्त भावों की सृष्टि अर्थात् कल्पना की तूलिका से शून्य भित्ति पर नए नए रंग भरना।

(२) अमूर्त्त भावों को मूर्त्त रूप प्रदान करना।

(३) लोक में कला की अभिज्ञता और रसानुभव की क्षमता की उत्पत्ति और प्रचार करना।

३. कला का मूर्त्त रूप

उदयाचल से उठकर सूर्य जब अपना दूसरा पैर उठाता है तब उसका पूरा तेज आकाश को छा लेता है। कला का वैभव भी उसके दूसरे चरण अर्थात् भावों को मूर्त रूप देने में ही है। शिल्पी पहले अनगढ़ शिलाखंडों की धैर्य के साथ आराधना करता है, उसकी उस निष्ठा से वे पाषाण मानों द्रवित होकर श्री और सौन्दर्य के रूप में परिणत हो जाते हैं। उनमें कलाकार की भावना प्राण का संचार कर देती है। शिल्प के वे प्रतीक रसिकों और कलाविदों के लिए रस के अनुपम स्रोत बन जाते हैं। जो रसज्ञ हैं,सहृदय हैं। उनके हृदय में ही कला रस-संचार का द्वार खोलती है और वे कला की वाणी के अर्थ को प्राप्त करते हैं। कला के आचार्य उसके बाह्य रूप को समझ सकते हैं, पर रसज्ञ के लिये कला की वाणी अपने अंतरंग रूप को प्रकट कर देती है।

भारतीय कला ने अपने अर्थों को व्यक्त करने के लिये अनेक मनोहर सूत्रों का निर्माण किया। त्रिमूर्ति के पीछे दार्शनिक चिन्तन का कितना रहस्यमय संकेत है ? प्रणव से लेकर त्रैगुण्य तक के विराट् भावों की अभिव्यक्ति के लिये कला ने 'त्रिमूर्ति' यह छोटा सा इंगित बनाया और वह सबके लिये संतोषप्रद हुआ। त्रिमूर्ति की प्रतिमा मानों भारतीय दर्शन की प्रतिमा है। तत्त्वज्ञान के आँगन में खड़े होकर जब हम 'एकैव मूर्तिर्विभिदे त्रिधा सा' का उच्चारण करते हैं, तब कला में विरचित त्रिमूर्ति की प्रतिमा उस अनुभव को प्रत्यक्ष दिखाकर हमें अपूर्व संतोष प्रदान करती है। घारापुरी के

कैलाश मन्दिर में स्थापित त्रिमूर्ति की प्रतिमा भारतीय दर्शन की अमर प्रतिमा की भाँति हमारे सामुद्रिक देहली-द्वार पर प्रतिष्ठित है। दर्शन ही हमारे राष्ट्र की आत्मा है। अतएव इस भव्य त्रिमूर्ति के रूप में मानों राष्ट्र की अधिष्ठात्री देवी स्वयं होकर रत्नाकर प्रवेशद्वार पर स्वागत करती है।

इसी प्रकार शिव का ताण्डव भी कला का मँजा हुआ सूत्र है। दुर्धर्ष सृजन-शक्ति के स्पन्दन को एक केन्द्र पर लाकर उसकी कल्याणी कल्पना शिव का ताण्डव नृत्य है। जिस कलाकार ने सबसे पहले इस गम्भीर दार्शनिक भाव को कला की लिपि में व्यक्त किया उसकी ध्यान-शक्ति धन्य है।

शेषशायी विष्णु भारतीय कला की तीसरी अर्थपूर्ण परिभाषा है। सहस्रशीर्षा पुरुष अनन्त है, उसके एक अंश से यह जगत् स्थित कहा जाता है। विष्णु उसका वह रूप है जो इस विश्व में व्याप्त हो गया है। इससे बचा हुआ जो शतकोटि अनन्त ब्रह्म है वही सहस्रशीर्षा पुरुष है, उसका ही नाम शेष है, क्योंकि विश्व के बाद जो शेष रहता है वह वही है। विश्व में व्याप्त विष्णु सदा उस अनन्त शेष के आधार से स्थित रहता है, इस दार्शनिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिये कलाकारों ने 'शेषशायी विष्णु' की प्रतिमा का निर्माण किया। विश्व की साम्यावस्था शेष शैय्या पर सोते हुए विष्णु का रूप है; वही विष्णु की योग निद्रा है। सृष्टि के लिये जो बहिर्मुख प्रेरणा है वही विष्णु की नाभि से बृंहणात्मक तत्त्व या ब्रह्मा का विकास है। ब्रह्मा के सम्मुख रज और तम रूपी मधु-कैटभ नामक दानवों का द्वन्द्व, गुण-वैषम्य की प्रचंड अवस्था है। लक्ष्मी के द्वारा विष्णु के चरण संवाहन का सौम्य दृश्य सृष्टि के साथ 'श्री' का संयोग है। इस प्रकार के अर्थशाली भावों का एक ही प्रतिमा के द्वारा प्रदर्शन कला में अभूतपूर्व है। शेषशायी विष्णु के कलामय सूत्र के पीछे अर्थों का जैसे पूरा महाभाष्य छिपा हुआ है। जिस स्वर्ण-युग में इन भावों का लोगों को ज्ञान था एवं दर्शन, साहित्य और कला का आपस में रोचनात्मक सम्बन्ध था, उस युग के शिल्पियों ने देवगढ़ के मन्दिर की रथिका में शेषशायी विष्णु के इस स्वरूप का अंकन किया,१ और उसी युग के महाकवि ने निम्नलिखित श्लोक में उसका साहित्यिक वर्णन किया :

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते।।२

भारतीय संस्कृति का जो साधना पक्ष है तप उसका प्राण है। तप का तात्पर्य है तत्त्व के साक्षात् दर्शन करने का सच्चा प्रयत्न। जो कही-सुनी बात हो उसका स्वयं अनुभव करना तप है। तप हमारी संस्कृति का मेरुदंड है। तप की शक्ति के बिना भारतीय संस्कृति में जो कुछ ज्ञान है वह फीका रह जाता है। तप से ही यहाँ का चिन्तन सशक्त और रसमय बना है।

१—देवगढ़ के मंदिर की दीवारों के बाहरी ओर तीन शिलापट्ट हैं। उत्तर की ओर गजेन्द्र-मोक्ष, पूर्व की ओर शेषशायी विष्णु और दक्षिण की ओर नर-नारायण की, बदरीवन में तपश्चर्या अंकित है। संस्कृत में इन्हें 'रथिकायुक्त बिम्ब' (स्कल्प्चर्स इन टेम्पुल निचेज़) कहते हैं मन्दिर का प्रवेश-द्वार पश्चिम दिशा की ओर है।

२—रघुवंश १३।६

तपःप्रधान जीवन का कलात्मक अंकन संस्कृति के अर्थों को प्रकाशित करने के लिये आवश्यक था। शिव, बुद्ध, तीर्थंकर, नर-नारायण, पार्वती, भगीरथ, अर्जुन आदि के जीवन में तप का ही सौन्दर्य है। लक्ष्य तक पहुँचने के लिये तप की साधना उनके स्वरूप का आकर्षण है। तप के उदात्त भाव को सफलता से अंकित करके भारतीय कला ने एक बड़े विस्तृत क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिया था।

मोहंजोदरो की योगस्थ मूर्ति इस भाव का सबसे प्राचीन अंकन है। इस एक मूर्ति से सिन्धु की सभ्यता को समझने में जितनी सहायता मिली है उतनी अन्य से नहीं। बुद्ध की तप-मूर्ति भारतीय संस्कृति के साथ साथ देश-विदेश में फैली और भारतीय धर्म की सबसे अधिक प्रभावशालिनी भाषा बनी। पद्मासन, ध्यान,मुद्रा, नासाग्र दृष्टि, ऊर्ध्व मेरुदंड इन अक्षरों के द्वारा निर्मित उस की लिपि को कोरिया से सिंहल तक और जापान से बाह्लीक तक सर्वत्र लोगों ने समझा। तप की परिभाषा और अर्थ एक ही रहते हैं, चाहे वह बुद्ध के जीवन में हो या शिव के जीवन में। जहाँ तप का आरम्भ होता है वहाँ मतभेद समाप्त हो जाता है। अतएव ब्राह्मण, जैन-बौद्ध, आर्य धर्म के तीनों स्कन्धों ने तप के कलामय चित्रण की प्राप्ति से अपने आपको धन्य माना। कवियों ने साहित्य के द्वारा उसी अर्थ का समर्थन किया। कुमारसम्भव में शिव की समाधि और पार्वती की तपश्चर्या का वर्णन कालिदास ने किया है वह उस युग की कला से अनुप्राणित है और कला के इष्ट अर्थों की व्याख्या करता है।

इसी प्रकार, कमलों के वन में विराजमान देवी पद्मा-श्री, जिसे दिशाओं के अधिपति दिग्गज आवर्जित घटों से अभिषेक कराते हैं, सर्वभूतधात्री पृथ्वी को मंगल विधायिनी उर्वरा शक्ति का प्रतीक है। उसके कारण त्रिलोकी अवन्ध्य होती है और जगती-तल पर जीवन का अविच्छिन्न प्रवाह चला करता है। पृथ्वी के जलाशयों में जो पद्मवन फूलते हैं, उनकी श्री जब तक आकाश से मेघों से प्रतिवर्ष संयुक्त होती है तभी तक प्रजापति का चलाया हुआ चक्र सकुशल रहता है। इस विराट यज्ञ-चक्र के गम्भीर भाव को व्यक्त करने वाली पद्मा-श्री को कलात्मक वाणी को पाकर हमारा समाज संतुष्ट हुआ। साँची और भारहुत के तोरणों पर चिन्हों के द्वारा ही कला के जीवन के अर्थों को अभिव्यक्त करने का विधान किया गया था। उनमें पद्मा-श्री अथवा श्री के अनेक चित्रणों का मंडन है। कला के ये अभिप्राय एक बार जन्म लेकर देश और काल के साथ फूलते-फलते रहते हैं। इनके आयुष्मान् जीवन अथवा विकास का अध्ययन भारतीय कला के इतिहास का रोचक पक्ष है। ऐसे ही और भी अनेक परिभाषा-सूत्र भारतीय कला में हैं। कमल के पुष्प और पत्रों से लहलहाता हुआ पूर्ण घट जीवन के जल को धारण करने वाले मानवी शरीर का प्रतिरूपक ही है। जीवन-रूपी जल ही इस घट की शोभा है। जब तक उसमें जीवन या प्राण भरा रहता है तभी तक घट मांगलिक या पूज्य समझा जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्राण की एक संज्ञा अर्क है, क्योंकि वही इस शरीर को अर्चनीय बनाता है। वस्तुतः मानव-शरीर-रूपी घट से अधिक मंगलात्मक इस विश्व में और कुछ नहीं है।

जीवन के स्वस्तिभाव का द्योतक स्वस्तिक चिह्न है यह विश्व स्वस्तिक का ही प्रकाश है।

स्वस्तिक के विपर्यास या उलटने से विश्व का विघटन हो जाता है। वैदिक परिभाषा में देश और काल रूपी दो महान यज्ञ हैं। उनके बल इस विश्व में परस्पर टकराते हैं और अन्त में एक साथ मिल कर सृष्टि-प्रक्रिया के लिए परिभ्रमण करते हैं। जहाँ वे मिलते हैं वहीं स्वस्तिक का धारण-बिन्दु है। स्वस्तिक मानो हमारे ऋग्वेदीय ब्रह्म-विज्ञान का चिह्न है। स्वस्तिक का बिन्दु 'आभु' तत्त्व है जो अमूर्त ब्रह्म या सत् तत्त्व है। उसकी भुजाएँ 'अभ्व' या असत् हैं जो नाम रूपात्मक हैं। इन्हीं की समष्टि की संज्ञा सदसत् है। सदसद्वाद ही वैदिक ब्रह्म-विज्ञान का उत्कृष्टतम रूप था।

प्राचीन त्रिक का प्रतीक त्रिरत्न और जैन दर्शनों में भी मान्य हुआ। धर्म की अप्रतिहत शक्ति का सूचक धर्मचक्र था भारतीय कला में भेदभाव के बिना सर्वत्र पूज्य माना गया। ऋग्वेदीय विष्णु, जिसके त्रिविक्रम से यह सब परिच्छिन्न है, धर्मों का धारण करने वाला कहा गया है—

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन् ॥ [1]

विष्णु जिन धर्मों की टेक है वे अखंड धर्म सर्वत्र व्यापक और सबके ऊपर हैं। वे सबके गोप्ता और अनभिभवनीय हैं। इन धर्मों का चक्र कभी रुकता नहीं; ये सृष्टि की अडिग नींव हैं।

चक्र के उपमान द्वारा अनेक दार्शनिक भावों को वैदिक मनीषियों ने व्यक्त किया। धर्मचक्र के अक्षबिन्दु पर वह बल आश्रित है जो सृष्टि-प्रक्रिया में व्याप्त है। बुद्ध भगवान् ने भी अपनी समाधि में धर्म और कर्म के द्वन्द्व को मानव जीवन की पहेली का हल समझा और इन दो तत्त्वों को प्रकट करने के लिए धर्मचक्र का आश्रय लिया। चक्र का केन्द्र धर्म का बिन्दु है। उसकी परिधि कर्मों का जाल है।

इस प्रकार अनेक देवप्रतिमाओं और चिह्नों के द्वारा भारतीय कला ने अपनी परिभाषा का विकास किया। अनेक प्रकार के सौम्य और रौद्र भावों की अभिव्यक्ति के लिए शान्त और क्षुब्ध रूपों का आश्रय लिया गया। बुद्ध का जन्म, कृष्ण-यशोदा, त्रिशला-महावीर, शिव-पार्वती की—विवाह के अनन्तर—कल्याण भाव से सम्पन्न मूर्ति—ये सब रूप जीवन के सौम्य पक्ष की व्याख्या करते हैं। बाहरी भेद होते हुए भी इनका मौलिक भाव एक है। मनुष्य समाज ने अपने पारिवारिक कल्याण की छाया को इन सुभग रूपों में देखने का प्रयत्न किया।

देवों का रुद्र रूप भी जीवन का कठोर सत्य है। अमृत के साथ मृत्यु भी मनुष्य के साथ मैत्री करना चाहती है। उसी की सत्ता को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए अनेक प्रकार की संहार-मूर्तियों का निर्माण हुआ। गजासुर, त्रिपुरासुर, अन्धकासुर, तारकासुर, महिषासुर, इन असुरों का, और इनके अन्य एक-सौ एक बन्धुओं का संहार सत्य की ही महती विजय को प्राख्यात करता है। कलाकार शिल्पी उसी अनुशासन को मानकर चले हैं और उन्होंने कल्पना को तरंगित करके विविध

१—ऋ० १।२२।१८

रौद्र रूपों की सृष्टि की है। जीवन के सत्य के साथ कला का मेल कराने के लिए उन्होंने सौम्य और कठोर दोनों ही भावों को अपनाना ठीक समझा। अविद्या और अंधकार की सृष्टि तथा विद्या की सृष्टि, दोनों को ही प्रजापति से निर्मित माना गया है।

४. अलंकरण

भारतीय कला में सौंदर्य-विधान के लिए अनेक अलंकरणों का प्रयोग हुआ है। देवों के मूर्त रूप कला के शरीर हैं, तो भाँति-भाँति के अभिप्राय-अलंकरण उस शरीर के बाह्य मंडन हैं। इस सजावट के बिना कला सम्भ्रान्त नहीं बनती। पत्र और पुष्प के संभारों से कला का शरीर श्रीसम्पन्न बनाना आवश्यक है। लताओं और वृक्ष-वनस्पतियों ने कला के स्वरूप को अनेक प्रकार से सँवारने में सहायता दी है। पत्रलता या पत्रावली[१] के अनबन भाँति के कटावों ने गुप्त कला को शोभा प्रदान की। दिगम्बर शिलापट्टों को परिधान पहनाने के लिए कलाकार के पास पत्रलताओं का अचूक साधन था जिसका उपयोग उसने अनेक प्रकार से किया है। अशोक-वृक्षों पर पड़े हुए झूले या उनके नीचे अशोक-दोहद के दृश्य वनस्पति-जगत् के साथ मानवी परिचय और सौहार्द भाव के उदाहरण हैं। जीवन में जैसा प्रकृति का सान्निध्य था उसी की छाया कला में पाई जाती है। आम, बरगद, खजूर, कदली, कदम्ब, अशोक, पीपल, उदुम्बर के महावृक्ष जिस प्रकार प्रकृति में हमारे जीवन के साथ घुले-मिले हैं वैसे ही कला में भी उन्होंने प्रवेश पाया। पुष्पों और वृक्षों के साथ शाल-भंजिका आदि अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ प्राचीन नारी-जीवन का अभिराम विनोद था। फुल्ल शाल-वृक्ष को देखकर कौन उसका सख्य प्राप्त करना न चाहेगा ! भारतीय आकाश के नीचे बसने वाले मनुष्यों ने तरंगित हृदय से वृक्ष और लताओं के साथ अपना परिचय बढ़ाया। पाणिनि ने 'प्राचां क्रीडायाम्' सूत्र में प्रकृति के उत्संग में मनाए जाने वाले इन्हीं विनोदों का उल्लेख किया है। इन क्रीड़ाओं का उल्लेख वात्स्यायन के काम-सूत्र में भी हुआ है। कला में क्रीड़ाओं का सुन्दर चित्रण जब हमें मिलता है तब हम जीवन और कला को एक दूसरे के साथ तन्मय देखते हैं। भगवान् बुद्ध के जन्म के समय उनकी माता मायादेवी वसंत की मंजरी से बौरे हुए आम की शाखा झुकाए हुए जिस मुद्रा में खड़ी थी वह मुद्रा भारतीय साहित्य में शाल-भंजिका नाम से प्रख्यात हुई। हिमालय की कुसुमित बनराजियों में फूलों से लदे हुए शाल-वृक्षों के नीचे उन क्रीड़ाओं का अध्याय शुरू हुआ था जबकि सम्भ्रान्त और स्वस्थ नर-नारी विद्ध शाल वृक्षों के वार्षिक पुष्पमंगल से परिचित होने के लिए हिमालय के प्रदेशों की यात्रा करते थे। सुयामुन पर्वत की पुत्री यमुना के पितृगृह से गौरीशंकर शिखर की दुहिता अरुणा और ताम्रा नदियों की द्रोणी तक के भूप्रदेश की भौगोलिक विजय और नामकरण उसी युग के स्मारक हैं जिस युग में फुल्ल शाल-वृक्षों का वार्षिक निमंत्रण स्वीकार करके शाल-भंजिका क्रीड़ा के के लोभी हम वहाँ पहुँचते थे। शालभंजिका अशोक पुष्पप्रचायिका, उद्दालकपुष्पभंजिका, वीरण-

---

१—पत्रावली, पत्रलता, पत्राँगुलि, पल्लवभँगरचना आदि शब्द गुप्त-काल की परिभाषा में पत्रों की कटावदार बेलों के लिए प्रयुक्त हुए हैं, [अँग्रेजी, 'फोलिएटेड स्क्रोल']।

पुष्पप्रचायिका, अशोकोत्तंसिका, तालभंजिका, सहकारभंजिका, दमनभंजिका, बिसखादिका, अभ्यूषखादिका इक्षुभंजिका, उदकक्ष्वेडिका आदि अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ उस समय प्रचलित थीं जिनको कलाकारों ने यथा संभव अपने अलंकरणों में स्वीकार किया। जातकों में इन्हें 'उय्यानक्रीड़ा' और संस्कृत-साहित्य-उद्यान-सलिल-क्रीड़ा' कहा गया है। प्रबन्ध काव्य की परिभाषा में दंडी ने 'उद्यान-सलिल-क्रीड़ाओं' का सविशेष वर्णन भी काव्य का आवश्यक अंग कहा है। उद्यानों में पुष्पोच्चयन, पद्मिनी के वनों में उदकताड़न और लतागृहों में गात्र-मंडन आदि के अनेक वर्णन संस्कृत काव्यों में उपलब्ध होते हैं।[१] कला की सामग्री से साहित्य का और साहित्य के आधार से कला की सामग्री का अध्ययन ही कला और साहित्य दोनों के परस्परोपयोगी हो सकता है।

हमारे नीलाम्बर की गोद जिन दिव्य पक्षियों से भरी हुई है और महाकान्तारों में निर्द्वन्द विचरते हुए जो पशु वनस्थली की शोभा बढ़ाते हैं, उनका भी कला में स्वागत किया गया। जिन पद्मसरों में करिणियों के साथ करि-यूथप क्रीड़ा नहीं करते उनको कलाकार कुंठित भाव से देखते हैं। शुक-सारिकाओं की क्रीड़ा और भवन मयूरों का नर्तन, साहित्य और कला दोनों में समान भाव से अपनाया गया। प्रकृति से विरहित होकर प्राचीन भारतीय कला मानो जीवन के लिए छटपटाने लगती है। मनुष्य के आवाहन से जब कला नगरों में प्रवेश करती है तब भी वह अपनी प्राणरक्षा के लिए प्रकृति को साथ लेकर आती है। सांची, मथुरा और अजन्ता में शुंग, कुषाण और गुप्त युगों की भारतीय कला प्रकृति को साथ लेकर ही जीवित और मनुष्य को जीवन का संदेश देती रही।

५. कला में लोक-संपुंजन

भारतीय कला के उदार चित्रपट पर लोक के सर्वांगीण जीवन का प्रतिबिम्ब पड़ा है। बाणभट्ट के शब्दों में हम अपनी कला की इस विशेषता को 'त्रिलोकी-संपुंजन' कह सकते हैं। हमारी कला जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत करती है। कादम्बरी में जो उस समय की चित्र-भित्तियों को 'दर्शित-विश्वरूपा' कहा गया है वह यथार्थ ही है।[२] उन भित्तिचित्रों के रूप वैभव का उससे अच्छा वर्णन नहीं किया जा सकता। लोक का सम्पूर्ण परिचय भारतीय कला को समझने की कुञ्जी है। अथवा यों कहा जा सकता है कि कला की सहायता से हम लोक के विश्वरूपी जीवन को समझने का साधन प्राप्त करते हैं।

लोक के महान् नायक कला प्रधान पुरुष होते हैं। तप और समाधि के द्वारा मनुष्य देवों से बराबरी की टक्कर लेते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि देवत्व की प्राप्ति मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। प्राचीन यज्ञ-विधि का आरम्भ करते हुए यह प्रतिज्ञा की जाती थी :

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि। सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः।

१—विशेष देखिए, मत्स्यपुराण, अध्याय, १२०।

२—'दर्शितविश्वरूपेव चित्रभित्तिभिः' (उज्जयिनी वर्णन में)।

'अब मैं अनृत से सत्यभाव को प्राप्त होता हूँ, क्योंकि सत्य देवों का रूप है, अनृत मनुष्य का।' कला भी देवों की श्रेष्ठता का प्रदर्शन करती हुई मानवी आदर्श को बारबार नव चैतन्य प्रदान करती है। देवता भी मनुष्यों की तरह संगीत-नृत्य में रुचि रखते हैं, उनके जीवन की गति-विधि में संगीत और नृत्य से रस ग्रहण करने के लिए उतना ही स्थान है जितना मनुष्यों के जीवन में। लोक के आदर्श से दूर पड़े हुए देव कला के लिए मान्य नहीं।

देवों के जीवन में देवियों को बराबरी का भाग मिला है। नारी की कमनीय मूर्ति के बिना कला ही नहीं, विश्व का समस्त विधान अविकसित रहता। नारी का लावण्य कला का ललाम भाव है। वह रस बनकर कला में ओतप्रोत हुआ है और अपने अस्तित्व से कला को दर्शनीय बनाता है। स्त्री-चित्रण के बिना कला केवल दर्शन अनुगामिनी बनकर रह जाती। भारतीय कला में जितने देव हैं उतनी ही बहुसंख्यक देवियाँ हैं। देवताओं के साथ उनके अनेक पार्श्वचर-वाहन आयुध-पुरुष आदि परिग्रह को भी कला में स्थान प्राप्त हुआ, जैसे कि उज्जयिनी के वर्णन में बाणभट्ट ने लिखा है।* यक्ष, नाग, किन्नर, सुपर्ण, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, अप्सरा आदि अनेक देवयोनियों की कल्पना की रूप-समृद्धि के लिए आवश्यक थी। ज्ञान अथवा कर्म के क्षेत्र में जो चक्रवर्ती तल के धरातल तक ऊँचा उठ चुके हैं, उन महात्मा या राजाओं का अंकन कला का अत्यन्त प्रिय विषय है। महापुरुषों के जीवन का चित्रण भारतीय कला का अपना स्वरूप ही है। उनकी इस विशेषता की छाप संसार की अन्य कला-शैलियों पर भी पड़ी है। भगवान् बुद्ध जैसे लोकोत्तर महापुरुषों को भारतीय कला ने अपने मध्य-बिन्दु पर स्थापित करके स्वयं अपने लिए भी सर्वमान्य और स्थायी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। महापुरुष केन्द्र में स्थित होकर कला को जीवन के महान् उद्देश्य के साथ मिलाये रखता है। वह अपनी उपस्थिति से कला की भाषा में ऊँची अर्थवत्ता का संचार करता है। महापुरुष का जीवन सत् और असत् के द्वन्द्व की मानवोपयोगी व्याख्या है जिसे जो चाहे स्पष्ट देख सकता है।

भारतीय समाजशास्त्र की परिभाषा में लोकोत्तर पुरुष के अतिरिक्त राजा का व्यक्तित्व भी देवत्व के अंश से युक्त माना गया है। राजकीय वैभव को पाने से कला में चमत्कार-उत्पन्न होता है। चक्रवर्ती के जिस ऐश्वर्य की कल्पना जग्गय्यपेट के शिल्पी ने चक्रवर्ती के चित्रण में की है वह सब संसार कला के रूप को बढ़ाता है। राज्य-सिंहासन, राजलक्ष्मी के चिन्ह छत्र और चामर, चतुरंग, बलकाय के साथ राजा की उत्सव यात्रा, संगीत और नृत्य से अलंकृत राजकीय प्रसादों के आस्थान-मंडप, ये सब भारतीय कला में चित्रण के प्रिय विषय हैं। राजाओं के अन्तःपुर और राजकुलों में परिचर्या करने वाले अनेक पार्श्वचर, अनुचर और प्रतिहारी भी अंकित मिलते हैं। काव्यों में वामन, कुब्ज, किरात, षण्ढ, वर्षवर आदि नामों से अन्तःपुर के विविध कर्मकर जनों का वर्णन मिलता है। सभ्यता के निर्माण में परिचारक और परिचारिकाओं का भी भाग रहता है। पाणिनि, जातक और अर्थशास्त्र में स्नापक, उत्सादक संवाहक, छत्रधार, शृंगारधार, मणिपाली आदि अनेक भृत्यों के

*—सुरासुरगन्धर्वविद्याधराध्यासिताभिः चित्रशालाभिः।

नाम पाए जाते हैं। उत्तरकालीन साहित्य, विशेषतः नाटक और कादम्बरी-सदृश कथा-ग्रंथों, मे यह सामग्री और भी अधिक है। इस सम्बन्ध में कला और साहित्य का सम्मिलित अध्ययन रोचक हो सकता है।

राजकीय वर्ग के अतिरिक्त जो साधारण प्राकृत जन थे उनका भी विविध कथा प्रसंगों के अनुरोध से भारतीय कला में पर्याप्त चित्रण पाया जाता है। अपने बैल और छकड़ों पर बहुमूल्य भांड लादकर सुदीर्घ व्यापार-मार्गों की यात्रा करने वाले सार्थवाह, व्यापारी, सामुद्रिक पोतों पर द्वीपान्तर की यात्रा करनेवाले साहसी नाविक और यात्री, पुत्र, पौत्र और समृद्ध परिवार के साथ देवार्चन में निरत गृहस्थ-जन और उनकी पुरंध्री स्त्रियाँ, नृत्य और संगीत में मग्न पौर जानपद जन इनका बहुत प्रकार से कला में अंकन प्राप्त होता है। उससे भारतीय सामाजिक इतिहास की मूल्यवान् सामग्री मिलती है।

लोक-सम्पुन्जन मानो समग्रता का भाव भरने के लिए मनुष्य के साथ प्राकृतिक जगत् के वृक्ष-वनस्पति, पुष्प-लता एवं अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों को भी कला में स्वच्छन्द स्थान मिलता है। कलाकार की दृष्टि मनुष्य को अन्य प्राणी जगत् के साथ अन्तरंग सम्बन्ध में ही बँधा हुआ देखती है पत्र और पुष्पों से तो भारतीय कला के अनेक अलंकरण और अभिप्रायों की सृष्टि हुई है। अकेले कमल के ही अनन्त प्रकार देखे जाते हैं। श्रीयुत स्मिथ के कथनानुसार पत्र और पुष्प के बहुविध चित्रण में जो सफलता भारतीय कलाकार को मिली है, वह संसार की और किसी कला-शैली में नहीं पाई जाती। कल्पसूत्र के एक वाक्य में पशु और वनस्पति जगत् के इस चित्रण का सुन्दर वर्णन किया गया है। राज-प्रसाद के एक बहुमूल्य परदे पर तरह तरह की भक्ति[1] (अभिप्राय या डिज़ाईन के लिये संस्कृत शब्द) जैसे ईहामृग, वृषभ, तुरग-नर, मकर, विहंग, व्याल, किन्नर, रुरु, मृग, शरभ, चमर, कुन्जर, वनलता, पद्मलताओं के चित्रण का उल्लेख है।

भारतीय कला की उपकरण-सामग्री में नाना प्रकार के आभूषण और नेपथ्य का भी प्रमुख स्थान है। इस सामग्री के द्वारा लोक की संस्कृति वास्तविक रूप से कला में प्रतिबिम्बित हुई है। बन्दनवार की तरह सन्तानमालाओं से सज्जित मुकुट, मकर-मुखों से निर्मित मकरिका-आभूषण, कंठ में स्थूल मुक्ता कलाप से निर्मित एकावली माला जिसके मध्य में इंद्रनील होता था, कानों में तार्टक चक्र अथवा नागेन्द्र भाँति के मुक्ताफल जटित कुन्डल, कन्धे पर उपवीती ढंग से रखा हुआ विरली संज्ञक उत्तरीय, मेखला-स्थान में बंधा हुआ नेत्र-सूत्र—यह गुप्त-कालीन लोक संस्कृति का परिचायक नेपथ्य था, जो उस काल की कला में सुव्यक्त उपलब्ध होता है इसी प्रकार प्रत्येक युग की कला अपनी व्यक्त विशेषताएँ रखती है। साँची की कला में प्रकारवक्र कुण्डल जो सामने देखने में चौकोर, ठोस और भारी हैं, तत्कालीन स्त्री और पुरुषों के कानों में दिखाई देते हैं। कुषाण-कला में पान के पत्ते की आकृतिवाले मुकुट औ भुजाओं में पहने हुए नाचते हुए मोर की आकृति से अलंकृत मायूर केयूर

१—भक्तिच्छेदैरिव विरचितां—मेघदूत।

उस युग की विशेषतायें हैं। कला के सर्वांगीण निरूपण के लिये विविध दृष्टिकोणों से इस सम्पूर्ण सामग्री का भली प्रकार अध्ययन होना आवश्यक है।

६. कला और साहित्य

भारतवर्ष में साहित्य ने कला के रूप को समृद्ध किया है, और कला ने साहित्य की व्याख्या की है। इनका पारस्परिक संबंध हमारी संस्कृति का एक अत्यन्त विशिष्ट और रमणीय पक्ष है। इस पक्ष के उत्तरोत्तर उद्घाटन और व्याख्यान से हमें कला और साहित्य दोनों को परखने की एक नई एवं समग्र आँख प्राप्त होगी और दोनों में रस-प्रतीति का एक नया मार्ग उपलब्ध होगा। साहित्य में जो विषय पारिभाषिक शब्दों से उल्लिखित होने पर भी पूरी तरह स्पष्ट नहीं है, वह कला के मूर्त उदाहरण से स्पष्ट प्रतीत होगा। कला के उदाहरण में जो अर्थ मूक रूप से उपस्थित है, वह साहित्य की भाषा और शब्दावली से सजीव होकर अपना परिचय देगा। जिस प्रसंग में कला और साहित्य इस प्रकार मिल जाते हैं, वहाँ का रसानुभव कैसा विचित्र होता है, इसे केवल अनुभव या दृष्टांत से जाना जा सकता है। कादम्बरी के राजकुल-वर्णन प्रसंग में शुकनास जन्म के समय अन्तःपुर के विनोदों का वर्णन करते हुए लिखा है कि बूढे कंचुकियों के गले में पड़े हुए उत्तरीय को पकड़ कर उनको खींचती हुई स्त्रियाँ मनोविनोद करती थी।[१] मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन एक स्तंभ पर राजकुल के प्रसाधन मंडन-मधुपान नृत्य संगीत-प्रधान जीवन के चित्रण से उकेरे हुए[२] एक स्तंभ-फलक पर उपर कहे हुए उत्तरीयाकर्षण विनोद का भी चित्रण पाया जाता है। जमुना की तलहटी से मिले हुए एक अन्य पार्थिव फलक पर जो गुप्तकालीन माथुर-शिल्प का एक बहुत उत्कृष्ट उदाहरण है, इस दृश्य का अपूर्व सुन्दर अंकन उपलब्ध हुआ है। कला और साहित्य के इस प्रकार एक दूसरे से उपकृत होने पर तत्कालीन संस्कृति का रूप खड़ा हो जाता है।

यह कहना अत्युक्ति न होगी कि भारतीय कला एक प्रकार से साहित्य की ही मार्मिक व्याख्या है। यदि हम कथावस्तु, मनोभाव-चित्रण, नाट्य और अभिनय के करण और मुद्राएँ, आभूषण और वस्त्र, उपकरण और अलंकरण इनके विषय और परिभाषिक शब्दों का संग्रह करने के लिए कला की दृष्टि से प्राचीन वाङ्गय का मन्थन करें तो हमें बहुत विलक्षण सामग्री प्राप्त हो सकती है। इस सामग्री की सहायता से जब हम कला को समझने का प्रयत्न करेंगे तो कला में एक नई अर्थवत्ता और रस

१—उत्तरीयांशुकग्रीवाबद्धावकृष्टविडंबितजरत्कंचुकीकदंबकेन अंतःपुरिकाजनेन।

२—उकेरना (धातु) और उकेरी (संज्ञा) दोनों शब्द संस्कृत 'उत्कीर्ण' से है, जो जौंसार बावर के लाखामंडल गाँव में मुझे अभी तक जीवित अवस्था में प्राप्त हुए। इस प्रदेश में कला से सम्बन्धित अनेक और भी प्राचीन शब्द जीवित हैं और साथ ही प्राचीन अलंकरण के, जिसे वहाँ सज कहते हैं, बहुत से प्रकार लकड़ी की नक्काशी में अभी तक पाए जाते हैं। पहाड़ के सुदूर अभ्यंतर होने से यह कला अभी तक जीवित है।

की उपलब्धि होगी। कला की आँख से साहित्य और साहित्य की आँख से कला को देखना हमारे वर्तमान सांस्कृतिक युग की एक बड़ी आवश्यकता है। महाभारत और रामायण, कालिदास और बाणभट्ट, तिलकमञ्जरी और यशस्तिलक चम्पू—इस साहित्य में कला की प्रभूत सामग्री वर्तमान है और यतः कला के प्रति स्वागत और सौहार्द का भाव भारतीय साहित्य की प्राचीन विशेषता थी अतः प्रायः संस्कृत साहित्य के सभी लेखकों ने जान बूझकर अपने वर्णनों को कला और संस्कृति के पारिभाषिक शब्दों से विभूषित किया है। उनकी शब्दावली बड़ी समृद्ध है। भिन्न भिन्न प्रकार की स्त्री-मूर्तियों और गुड़ियों के लिये कितने ही पारिभाषिक शब्द पाए जाते हैं। शालभंजिका शब्द प्राचीन काल से ही मिलता है। अश्वघोष और बाणभट्ट दोनों ने इसका सुन्दर प्रयोग किया है।

इसी को कुछ लेखकों ने 'स्तंभप्रतिमा' और कालीदास ने स्तम्भों की 'योषित्प्रतियातना'* कहा है। मिट्टी की बनी हुई स्त्री-मूर्तियां के लिये हर्षचरित में 'अंजलि-कारिका' कहा है, जिसका अर्थ शंकर ने मृण्मय प्रतिमा किया है। कादम्बरी में मिट्टी के खिलौनों को 'मृदंग' (मृत+अंग) भी कहा गया है, जिसका अर्थ टीकाओं में मृत्पुत्रिका किया है। इसके अतिरिक्त कनकपुत्रिका, पत्रभंग-पुत्रिका (हर्षचरित), कर्पूरपुत्रिका (कादंबरी), चन्दनपंक-प्रतियातना, यंत्रपुत्रिका, मणिपुत्रिका चित्रपुत्रिका, चित्रपटपुत्रिका (तिलकमंजरी), लेख्यपुत्रिका (उदयसुंदरीकथा), क्रीडापुत्रिका, (उदय०) पांचालिका, दन्तपांचालिका (हाथीदाँत की गुड़िया, मालतीमाधव), दुहितृका (तिलक-मंजरी) बाउल्लिआ (देशीनाममाला)—जिससे हिन्दी 'बोली', निकली है—ये शब्द सूचित करते हैं कि कला की शब्दावली कैसी भरी पुरी थी, और साहित्य में किस प्रकार स्वाभाविक रीति से उसका व्यवहार हुआ है। किसी भी प्रकार की स्त्री-मूर्ति या पुतली के लिये पुत्रिका शब्द रूढ़ हो गया था, यहाँ तक कि कान के पास बालों के पुतलीदार कटाव के लिए कर्णपुत्रिका शब्द प्रयुक्त हुआ, जिससे कनौती निकला है।

हिन्दी के साथ भी ललित कलाओं का सम्बन्ध पर्याप्त घनिष्ठ रहा है, कारण कि रीति-युग की एक विशेष परिपाटी के अनुसार साहित्य की अभिव्यक्ति के साधन नायक-नायिका एवं राग-रागिनियों को चित्रात्मक रूप देने का प्रयत्न भारतीय चित्रकला में किया गया। हमारे प्रतिभाशाली कवियों ने लोक की रहन-सहन, वेष-भूषा, आभूषण-परिच्छद, संगीत वाद्य, अस्त्र-शस्त्र आदि उपकरणों का अपने ग्रंथों में यथास्थान बड़े सुन्दर ढंग से सन्निवेश किया है। साहित्य में इस सामग्री का वर्णन और कला में इसका चित्रण देखा जाता है। कला के स्वरूप को सांगोपांग जानने के लिए साहित्य से इन भावों और शब्दों का दोहन हिन्दी साहित्य का अत्यन्त आवश्यक कार्य है। कला के मार्मिक ज्ञान के बिना साहित्यिक अध्ययन अधूरा और साहित्य की सूक्ष्म जानकारी के बिना कला की समीक्षा संकुचित रह जाती है, क्योंकि कला और साहित्य दोनों का समान भाव से योजक रस-तत्त्व एक ही है। जिस लोक-जीवन की उमंग ने साहित्य और कला को एक साथ ही जन्म दिया, उसके समग्र रूप का परिचय साहित्य और कला के साथ-साथ अध्ययन पर ही निर्भर है। कला और साहित्य के

---

*रघु०, १६।१७

इस विषय सम्बन्ध के निदर्शन में यहाँ हिन्दी के दो प्रमुख कवियों के उदाहरण दिए जाते हैं, जो सोलहवीं शताब्दी की समकालिन स्थापत्य कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। जायसी ने सिंहलद्वीपकमें गढ़-वर्णन करते हुए लिखा है :

पौरिहि पौर सिंह गढ़ि काढ़े। डरपहिं लोग देख तहँ ठाढ़े॥
बहु बिधान वै नाहर गढ़े। जनु गाजहिं चाहहिं सिर चढ़े॥
टारहिं पूँछ पसारहिं जीहा। कुंजर डरहिं कि गुन्जरि लीहा॥
कनकसिला गढ़ि सीढ़ी लाईं। जगमगाहिं गढ़ ऊपर ताईं॥

नवौ खंड नव पौरी, औ तहं बज्र केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़े, सत सौं उतरे पार॥ १७॥*

इसके कुछ पारिभाषिक शब्द इस प्रकार हैं—पौरी (डोर वे); नाहर या सिंह; गढ़ि काढ़े (काव्ड इन रिलीफ़); पसारहिं जीहा (विद प्रोट्रूडिंग टंग्स); बहु विधान (वेरियस डिज़ाइंस); गढ़ना (कार्विंग); खंड (स्टोरी)। जीभ पसारे हुए नाहर हमारी कला का एक पुराना अभिप्राय (मोटिव) था।

इसी प्रकार रामचरितमानस में धनुष-यज्ञ के बाद विवाह की तैयारी के समय जनकपुर में वितान-निर्माण का वर्णन समकालीन वास्तु-कला की पारिभाषिक शब्दावली द्वारा प्रस्तुत किया गया है :

बहुरि महाजन सकल बोलाए। आई सबन्हि सादर सिरु नाए॥
हाट बाट मन्दिर सुरबासा। नगर सँवारहु चारिहु पासा॥
हरषि चले निज निज गृह आए। पुनि परिचारक बोलि पठाए॥
रचहु बिचित्र बितान बनाई। सिर धरि बचन चले सचुपाई॥
पठए बोलि गुनी तिन्ह नाना। जे बितान बिधि कुशल सुजाना॥
बिधिहि बन्दि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनक-कदलि के खंभा॥

हरित मनिन्ह के पत्र फल, पदुमराग के फूल।
रचना पेखि बिचित्र अति, मन बिरंचि कर भूल॥२८७॥

बेनु हरित-मनि-मय सब कीन्हें। सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हें॥
कनक कलित अहि बेलि बनाई। लखि नहिं परै सपरन सुहाई॥
तेहि के रचि पचि बन्ध बनाए। बिच बिच मुकुता दाम सुहाए॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥
किए भृंग बहु रंग बिरंगा। गुंजहिं कूजहिं पवन प्रसंगा॥

---

*पद्मावत, सिंहलद्वीप-खण्ड।

सुर प्रतिमा खंभन्हि गढ़ि काढ़ीं। मंगल द्रव्य लए सब ठाढ़ीं॥
चौकें भाँति अनेक पुराईं। सिंधुर-मनि-मय सहज सुहाईं॥

सौरभ पल्लव सुभग सुठि, किए नील मनि कोरि।
हेम बौरू मरकत घवरि, लसति पाटमय डोरि ॥२८८॥

हीरा, पन्ना, लाल, पिरोजा आदि रत्नों की पच्चीकारी के द्वारा बेलों के भाँति भाँति के बंधों का निर्माण तुलसीदास की समकालीन वास्तुकला की एक विशेषता थी। कवि ने उसका एक सुंदर रूप हमारे सामने खड़ा किया है। चीरि, कोरि, पचि—ये शब्द उत्कीर्ण करने की विविध शैलियों को सूचित करते हैं। पच्चीकारी का काम तो उस युग में सर्वत्र होने लगा था। खंभों पर देव-प्रतिमाओं का गढ़कर काढ़ना* (कार्विंग इन रिलीफ़) प्राचीन भारतीय शिल्प की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पत्तेदार अहिबेल या नागबेल भी प्रायः तत्कालीन खंभों और फलकों पर पाई जाती है। चौक शब्द पत्थरों की रचना में भाँति भाँति की आकृतियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। दक्षिणी घरों में रंगोली (रंगवल्ली) बनाने में जो आकृतियाँ या चित्र बनाए जाते हैं, उन्हीं के लिये उत्तर में चौक पूरना शब्द व्यवहृत होता है।

७. कला और वर्तमान लोक-जीवन

जिस प्रकार साहित्य, धर्म और विज्ञान का लोक के व्यापक जीवन में प्रवेश आवश्यक है, उसी प्रकार जीवन के संस्कार और समाज की स्थिति के लिये कला भी अनिवार्य आवश्यकता है। यदि कला कुछ सौंदर्य-प्रेमियों के विलास या कुतूहल-तृप्ति का साधन-मात्र है, तो लोक की बड़ी हानि समझनी चाहिए। वस्तुतः कला जीवन के सूक्ष्म और सुन्दर पट का वितान है, जिसके आश्रय में समग्र लोक अपनी उत्सवानुगामी और संस्कारक प्रवृत्तियों की तृप्ति करता हुआ उच्च मन की शांति और समन्वय का अनुभव कर सकता है। वस्तुतः मनुष्य अपने अंतिम कल्याण के लिये यह चाहता है कि जितना स्थूल-जड़ जगत् उसके चारों ओर घेरा हुआ है, उसको सुन्दर रूप में वह ढाल ले। स्थूल के ऊपर जो मानस और आध्यात्म जगत् है, उसको चरित्र और ज्ञान के द्वारा हम आकर्षक और सौन्दर्ययुक्त बनाते हैं। इस द्विविध सौंदर्य के बीच में ही जीवन पूरी तरह से रहने योग्य बनता है। जिस समय जीवन के चरित्र और मनोभाव हमारे चारों ओर विकसित होकर अपनी लहरियों से वातावरण को भर देते हैं, और उनकी तरंगें हमारे अन्तर्जगत् को आह्लादित और प्रेरित करती हैं, उस समय यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि स्थूल पार्थिव वस्तुओं के जो अनगढ़ रूप हमें घेरे हुए हैं, वे भी कला के प्रभाव से द्रवित हो जायँ और उनमें से रूप-सौंदर्य और श्री के सोते फूट निकलें। कला का प्रत्येक उदाहरण जगमगाते दीपक की तरह अपने चारों ओर प्रकाश की किरणें भेजता रहता है। वह वायु में निरन्तर सूक्ष्म तरंगें उत्पन्न करके मनुष्य के मन को स्थूल से सूक्ष्म की

‡मानस, बालकाण्ड।

*अंग्रेजी के रिलीफ़ कार्विंग के लिये 'कढ़ी हुई उकेरी', कढ़ी हुई प्रतिमा' हिन्दी के उपयुक्त शब्द हैं।

ओर प्रेरित करता है। समाज जिस प्रकार की मानस-संस्कृति को अपने चरित्र, बल और व्रतों की साधना से अपने लिये बनाता है, उसी के अनुरूप कला का निर्माण करना भी समाज-स्थिति के के लिए आवश्यक है। गुप्तकाल के सम्भ्रान्त नागरिकों ने 'अनुत्तर-ज्ञानावाप्ति' या अनुत्तरा बोधि का आदर्श अपने सामने रक्खा और प्रशांत आर्य जीवन के प्राप्ति की लिये सांसारिक वैभव का उपयोग उन्होंने अपना कर्तव्य समझा। सप्त समुद्रों की यात्रा से स्वर्ण का संचय करने वाले अर्थपति गृहस्थ उस धन से धर्म और कला का संवर्धन करते थे। उसी के अनुरूप उनकी कला भी सुन्दरतम श्री और रूप को संयत भाव से प्रकट करने के लिये विकसित हुई।

कला और जीवन का सम्बन्ध केवल कहने की बात नहीं है, बल्कि मनुष्य कला के द्वारा अपने जीवन के ध्येय को साक्षात् देखने के लिये सच्चा और सशक्त प्रयत्न करता है। जब इस प्रकार का प्रयत्न पूरे समाज को छा लेता है तभी मानों संस्कृति के पूरे विकास का चक्र पूरा होता है। स्थूल जगत् को विकसित मनोभाव और आदर्शों के अनुसार सुंदर रूप में परिणत कर लेना ही कला है, जिसका सम्बन्ध जीवन के हर एक ओर से है। मनुष्य का शरीर, उसके वस्त्र, केश-विन्यास, उसका शयनासन, घर के पात्र तथा अन्य सब वस्तुएँ, जिनका उसके दैनिक जीवन से सम्बन्ध है, मनुष्य के विकसित मन के संस्कार से प्रभावित होने की अपेक्षा रखती हैं। जब तक यह प्रभाव सच्चे रूप में प्रकट नहीं हो लेता, मनुष्य के मन का द्वंद्व जीवन की समस्या की तरह बना रहता है और मन को संतुलन नहीं मिलता। यदि वर्तमान लोक-जीवन अपने विकास और स्वाभाविक मार्ग को प्राप्त करना चाहता है, तो उसे अवश्य ही कला के प्रति अपने व्यवहार को शिथिल—कौतुक का विषय—न रखकर उसे जीवन के सत्य के रूप में बदलना पड़ेगा। यदि हम विज्ञान और साहित्य, धर्म और दर्शन के विकास को मानव-मन की उन्नति के लिये आवश्यक समझते हैं और उसके लिए लोक में अनेक प्रकार के प्रयत्न करते हैं, तो हमें कला के लिये भी—जो नृत्य, गीत, वाद्य, चित्र-शिल्प आदि के द्वारा जीवन की कर्मात्मक प्रवृत्ति को प्रकाश में लाती है—अवश्य विचारपूर्वक प्रयत्न और आयोजन करना चाहिए। ज्यों ज्यों लोक में कला का क्षेत्र विस्तृत होगा और कला के द्वारा रस-ग्रहण करने का मानस-चैतन्य हममें प्रवृद्ध होगा, त्यों त्यों हमारे मन में उन सूक्ष्म नियमों को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होगी, जिनसे जीवन एक सामान्य घटना न रहकर सर्जनात्मक शक्ति के नए वेग से संचालित होने लगता है।

नवीन भारतवर्ष में कला की भावना और उसके रस की अभिज्ञता का प्रचार आवश्यक धर्म है। राष्ट्रीय अभ्युत्थान की दृष्टि से भी कला की उन्नति आवश्यक है। उत्थान और विक्रम के मानसिक परमाणु ही कलात्मक वस्तुओं का रूप ग्रहण करके हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। महामल्लपुरम् के जिस शिल्पी ने गंगावतरण के लिए तपश्चर्या करते हुए भागीरथ की मूर्ति उत्कीर्ण की, उसने अपने युग की अनेक प्रेरणाओं को उस अवतरण के द्वारा प्रकट किया । भागीरथ का दृढ़ और उन्नत मेरुदंड, उस काल में ज्ञान और संस्कृति की गंगा के प्रवाह को स[म्भा]लने की जो लोक-शक्ति थी, उसका परिचय देता है। सौभाग्य से हमारी जनता का मन कला के प्रति अभी शुद्ध बना हुआ है। यद्यपि उसके संस्कार प्रसुप्त हैं, पर उनमें किसी प्रकार का विकार या रस के अनुभव करने की शक्ति का ह्रास नहीं देखा जाता। जिस समाज के मानस में रस ग्रहण करने के तन्तु जितने बलिष्ट होते

हैं, उनका जीवन भी उतना ही चिरस्थायी होता है। अपनी रस-ग्रहण-शक्ति के द्वारा हम मानो स्वयं मृत्यु के ठंडे संस्पर्श को चुनौती देते हैं। हमारे समाज में रस की अनुभूति के तंतु और स्रोत सहस्रों की संख्या में विकसित हुए, और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में फैले। जिस प्रकार सूर्य अपनी अगणित किरणों से सहस्रांशु कहलाता है, उसी प्रकार कला के द्वारा रस ग्रहण करने के लिए हमारे राष्ट्र का मन भूतकाल में सहस्र रश्मियों से विकसित हुआ। ठोस पहाड़ी चट्टानों को लोहे की निर्जीव टाँकियों से काटते हुए और जब पहाड़ी नील-बटों से भिन्न वर्णों के रंग तैयार करके इस देश के कुशल चित्रकार और शिल्पियों ने अपनी प्रतिभा और ध्यान की शक्ति से अजंता की महती चित्रशाला के रूप में रस ग्रहण करने का एक शाश्वत साधन उत्पन्न कर दिया। राष्ट्र के इस अद्भुत प्राणमय पराक्रम की ओर हम जितना ही देखते हैं, हमारा मन आश्चर्य से चकित हो जाता है। इस प्रकार राज-सिंहासनों की सजावट से लेकर घर में प्रयुक्त होने वाले छोटे छोटे पात्रों में कला के पूर्णतम सौन्दर्य को उत्पन्न किया गया। अपने पशु-पक्षी, हाथी और घोड़ों के लिए भी अनेक प्रकार के आभूषण और सुन्दर परिधानों की रचना करके हमने उनको भी अपने रस ग्रहण करने का एक साधन बनाया। काव्यों में सम्राट् के विशिष्ट हाथी और राजवल्लभ तुरंग को भी कवि ने अपने ध्यान के पूरे भागधेय से उपकृत किया है। हाथियों के गले में पड़ी हुई क्षुरप्र-मालाएँ, जिनका कौटिल्य ने वर्णन किया है, उनके ऊपर आच्छादित चित्रास्तरण और इन्द्रगोपा के समान लाल रंग के चटकीले पांडु-कंबलों के आवरण—ये इस बात के सूचक हैं कि समाज ने उनके द्वारा अपने रस-तंतु को कितना फैलाया था। गुप्त-कालीन कलाकारों के लिए जीवन के उपयोग में आने वाली कोई वस्तु ऐसी न थी कि जिससे वे कला का संचार न कर सकते।

अहिच्छत्रा से मिले हुए मिट्टी के छोटे छोटे प्याले और प्यालियाँ, जिन पर भाँति भाँति की रेखाओं और पत्र-पुष्पों की पंक्तियाँ अंकित हैं, अपने सौंदर्य और सुहावनी आकृति में अद्वितीय हैं। गंधार देश में काबुल से साठ मील उत्तर प्राचीन कशिपा नगरी से मिले हुए दान्त फलक कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ये हाथीदाँत की तख्तियाँ, रत्नपेटिकाओं के भाग हैं। उनको देखकर भान होता है कि शुंगकुषाण और गुप्तकाल के नागरिक स्थूल जगत् की प्रत्येक वस्तु में सुंदरता का संचार करके अपने जीवन में रसानुभव की किस अवस्था तक पहुँच सके थे। ये गजदंत फलक मथुरा के आसपास बनाकर किसी समय मध्यदेश से कशिपा ले जाए गए थे। इस प्रकार लोक में जितने अधिक मार्गों से रस का अनुभव किया जा सकता है उतना ही लोक का कल्याण है। हमारे समाज में कुछ तो प्राचीन परंपराओं के कारण और कुछ जीवन की पृष्ठभूमि में विद्यमान अध्यात्म निष्ठा के कारण विषाद को जीत कर आनन्द-मग्न और रस-तृप्त होने की अद्भुत क्षमता है। हम जो अभी तक पर्व और उत्सवों में अपने आनन्दोल्लास के द्वारा जीवन के विषाद-पक्ष को बिल्कुल भूल सकते हैं, यह हमारे अमर स्वास्थ्य का लक्षण है। जहाँ विषाद है, वहीं मृत्यु है; जहाँ आनन्द है वहीं जीवन है।

लोक की रसात्मक प्रवृत्ति को ज्ञान के द्वारा पुनः विकसित करना और कला के प्रति उदार एवं उदारात्मक भावना को जागृत करना वर्तमान की आवश्यकता है। कलाओं के बहुमुखी उत्थान से हम अपने विस्मृत आत्म-चैतन्य को शीघ्र ही फिर प्राप्त कर सकते हैं। विश्व के तांडव की शक्ति को अपने ही अंगों में हम पुनरुज्जीवित देख सकते हैं। वज्र के द्वारा दानवों का दलन करने वाली

वसिष्ठ इन्द्र की त्रिलोकरत्नी महिमा को अपने रंगमंच पर प्रत्यक्ष करके कितना आत्मकल्याण किया जा सकता है! प्राचीन वीणा-गाथिनों के स्वरों को अपने संगीतमय कंठ में फिर से भर कर हम अतीत के साथ तन्मय हो सकते हैं। अपने कुशल चित्रकारों के वर्णाढ्य चित्रपटों और भित्ति-चित्रों को फिर से साक्षात् देखकर हमारे समाज में आनन्दित जीवन के नए अध्यायों का पारायण हो सकता है। इस प्रकार नृत्य, गीत, नाट्य, चित्र-सबके द्वारा उत्थान की एक नई भावना जन-मानस में प्रकट हो सकती है।

लोक में कला के पुनरुत्थान के लिये यह भी आवश्यक है कि हम सहानुभूति की दृष्टि से लोक का सूक्ष्म अवलोकन करें। जो जो कला के भाव जहाँ बचे हैं, उनको पहचानें और उनकी रक्षा करें। इस दृष्टि से एक साधारण वस्तु भी, जो लोक की खान में सुरक्षित बच गई है, हमारे लिये अमूल्य निधि बन सकती है। एक छोटे से बर्तन के रूप में कभी कभी सहस्रों वर्षों की परम्परा सुरक्षित मिल जाती है। वैदिक युग में जिस प्रकार के चमू नामक पात्र मिलते थे, उसी परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए चम्मू नामक शुद्ध काँस्य के लोटे अभी तक झाँसी जनपद में तैयार होते रहे हैं। उनकी शोभन आकृति स्वयं एक कला की वस्तु है, जिसमें नेत्रों के लिए पर्याप्त आकर्षण है, और उस पर बने हुए खरबुजिया फाँकों के गलते—जिन्हें जानपदी की भाषा में चीमरी की भाँति (चीमरी—संस्कृत चिर्मटिका; भाँति—तरह या डिज़ाइन) कहा जाता है, बहुत ही सुन्दर प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के अनगिनत नमूने हम अपने यहाँ अब भी पा सकते हैं। यामुन-पर्वत (बन्दर-पूँछ) के पादमूल के निकट ही यमुना तट पर बसे हुए लाखामंडल गाँव में हमें प्राचीन काष्ठ-शिल्प की परंपरा अभी तक जीवित प्राप्त हुई; जिसमें कुषाण और गुप्त-कालीन चित्रात्मक अभिप्राय अपने पारिभाषिक नामों के साथ अब भी चालू हैं। देउल (देहली), मथेंडी (मस्तक-दंडिका, सिरदल), भदरकी (भद्रिका, अँग्रेजी फ्रीज़), चंदक, कंकण (किवाड़ का, पीतल में लगा हुआ कड़ा), पकौड़ा (आमलक), पोल छाँटना (कोर मारना, चैम्फ़रिंग) आदि परिभाषिक शब्द पुराने समय की परंपरा सूचित करते हैं। इस प्रकार कला की लोक-व्यापिनी सामग्री से भाँति-भाँति के नमूनों और शब्दों का संग्रह किया जा सकता है। जब तक कला की यह नींव पक्की नहीं बनाई जाती, तब तक केवल नवीन निर्माण कृतकार्य नहीं हो सकता। सर्वत्र नवनिर्माण प्राचीन निधि को साथ लेकर ही सफल हो सकता है।

अजंता ने नूतन चित्रकला को अनुप्राणित किया है। नवीन नृत्य और नाट्य के अभ्युत्थान में कथकलि, भरतनाट्य, मणिपुर आदि पद्धतियों से बहुत कुछ जीवन प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार कला के हर एक क्षेत्र में नवीन का प्राचीन के साथ सम्बन्ध स्थापित करने से संस्कृति के प्रवाह की जो दुर्धर्ष धारा इस देश में किसी समय थी, उसके साथ हमारा जीवन फिर से संयुक्त होकर भविष्य के पथ पर प्रगतिशील हो सकता है। प्राचीन और नवीन का यह समन्वय ही समाज के लिए श्रेयस्कर है।

प्रागैतिहासिक कला

शचीरानी गुर्टू

विश्व-कला युगों का प्रवाह लिये जब मानव के उत्थान-पतन, सफलता-असफलता, जातीय तत्त्व, भाषा, धर्म, संस्कृति-संपर्क का प्रभाव और उसके अन्तरंग-बहिरंग की मूल कल्पना प्रस्तुत करती है, तो जीवन के न जाने कितने अध्याय खुल कर खंड खंड में बिखरी रमणीय कला का उन्मीलन करते, साथ ही उसकी अनन्त विभूति का साक्षात्कार भी कराते हैं। विश्व-व्याप्त कला के इस विराट् रूप में मानवीय चेतना का इतना व्यापक प्रसार पाया जाता है कि उसमें जीवन का रम्य और आलोक ही नहीं, वरन् अशुभ और कुरूप भी छिपा है।

मानव-शिशु ने जब सर्वप्रथम आँखें खोली होंगी, तो सम्भव है विश्व-वैचित्र्य में वह बौखला गया हो, पर ज्यों-ज्यों उसका ज्ञान विकसित होता गया और प्राकृतिक रहस्यों में पैठने की उसकी क्षमता बढ़ती गई, अन्तर्दर्शन की गहरी मुद्रा में उसने टेढ़ी-तिरछी रेखाओं से चित्र आँके होंगे और अपनी भावनाओं को कला में साकार किया होगा। यही कारण है कि कला की पृष्ठभूमि में मानवीय आविष्कारों, अन्वेषणों और सार्वभौमिक संस्कृति के अगणित स्रोत विद्यमान हैं। वह अतीत युग के इतिहास की कुञ्जी है।

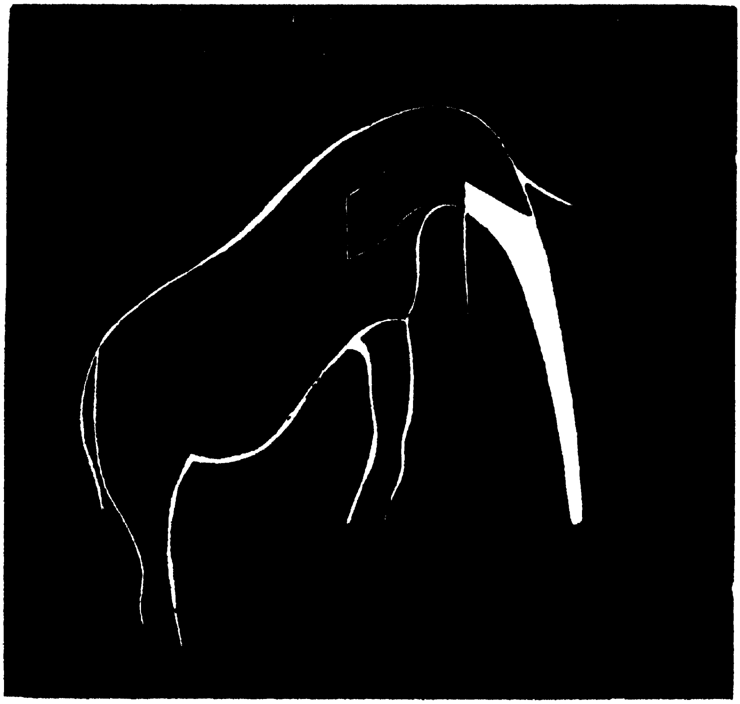
अनादि काल से अब तक मनुष्य अंधकार में टटोलता फिरा है। उसमें और परिस्थितियों में सदैव होड़-सी रही। अलग-अलग ढंग से अपनी बुद्धि और क्षमता के अनुरूप वह जीवन के सत्य की व्याख्या में प्रवृत्त हुआ, किन्तु कला उसकी मनगढ़ंत कल्पनाओं और धारणाओं से परे की चीज़ सिद्ध हुई। मन के चमकदार तुच्छ बन्धनों से ऊपर उसमें विश्वात्मा के अनन्त स्वरों का स्पन्दन भी सुन पड़ा।

सहस्राब्दियों से, लगभग २०,००० से १०,००० ई० पू० के अन्तर्गत प्रागैतिहासिक कला को दी हुई मानवीय परम्पराएँ आज तक जीवित और अखण्ड हैं। मानव-ढाँचों, खोपड़ियों और शिलालिपियों के आधार से प्राणि-जगत् का इतिहास इतनी दूर तक चला गया है कि वह लाखों—करोड़ों वर्षों में सिमटा पड़ा है, जो कि उसके चिह्न तक अब मिट गए हैं। पुरातनता की सहज व्याख्या आज असंभव-सी हो गई है। वैज्ञानिकों के मत से प्राचीन काल पैलीयोइस (लगभग नौ करोड़, अस्सी लाख वर्ष), मसोथोइस (लगभग नौ लाख वर्ष) और कैनोथोइस (लगभग तीन लाख वर्ष) युगों में विभक्त है। इन युगों के भी कई विभेद हैं। पूर्व पाषाण-युग (Upper Palaeolithic) युग के आरम्भिक ऑरिग्नेशियन [Aurignacian] काल के मनुष्यों की ठठरियों के परीक्षण करने से ज्ञात होता है कि उनका शारीरिक और बौद्धिक विकास आज की मानव-जाति से बहुत भिन्न न था; हाँ, मुँह और शरीर की बनावट में पर्याप्त अन्तर था। मध्य

पाषाण युग तक आते-आते क्रमशः अधिक समानता दृष्टिगत होती है और उत्तर पाषाण-युग में वे आज के मानव के काफ़ी निकट जान पड़ते हैं। पुराविदों और नृतत्वशास्त्रियों की खोज के फल-स्वरूप पूर्व पाषाण-युग एवं उत्तर पाषाण-युग के आवासियों के छोड़े हुए हथियारों के सूचक-चिह्न मिले हैं जिससे प्राचीन सामाजिक संगठनों और मिली-जुली सभ्यता के विभिन्न अंगों पर प्रकाश पड़ता है, यों सभी प्राचीन हथियार एकदेशीय और एक युग के नहीं कहे जा सकते।

कला कोई निरपेक्ष इकाई नहीं है, वह तो मानव-इतिहास और विश्व की सम्मिश्रित संस्कृति से जुड़ी है। उसके अभिव्यक्त मूल तत्व किसी एक की परिधि में नहीं सिमट सकते। वे जितने ही सर्वग्राही और व्यापक होंगे उतने ही ससीमता से मुक्त मानव-सत्ता की विकसित चेतना का दिग्दर्शन करा सकेंगे।

प्राचीन काल में पार्थिव प्रकृति को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयास किया गया। दृश्य जगत् और जीवन की मूल कल्पनाओं को अपने अज्ञान, अपूर्ण आवेगों और कामना की चाहों



(पत्थर पर चित्रित बुशमैन कला के एक हाथी का नमूना)

में न बाँध कर दिव्य शक्तियों में रूपान्तरित किया गया, जिससे तत्कालीन समस्त कलामय सृजनों की पृष्ठभूमि में अधिकतर धार्मिक भावना ही निहित दिखाई पड़ती है। प्राकृतिक परिवेश से आदिम मानव के मन में जो एक प्रकार की अनिर्दिष्ट जुगुप्सा संचित होती रही थी उससे वह असीम की ओर प्रेरित हुआ। बाहर के प्रतीयमान पार्थक्य को समझे बिना ही वह भीतर के गोपन

रहस्य पर आ टिका। उसके पास जो युक्ति-तर्क और आयातदृष्ट बौद्धिक संकल्प-शक्ति थी उससे वह अपने चारों ओर के सामूहिक जीवन के व्यापकतर मंगल-विधान की रक्षा में प्रवृत्त हुआ। उसे इस ऊपरी विभेद-वैभिन्न्य में एक ऐसी व्यवस्था और आन्तरिक ऐक्य का विधान करना था जो ना ना बाधा-विपत्ति, दुर्गति-सुगति और प्राकृतिक परिवर्त्तनों के बीच सामञ्जस्य पैदा कर सके। सत्य की उपलब्धि और कर्म के द्वारा चिरन्तन भाव को हृदयंगम करने के लिए वह अपनी सृजन-शक्ति और परिश्रम द्वारा प्रयास करता रहा। नग्न, वर्बर मानव ने आकाश-पृथ्वी, सूर्य-चन्द्र, ग्रह-उपग्रह, जल-प्रपात, बहती नदियाँ और सर्दी, गर्मी, बरसात को कौतूहल से देखा और उनके रहस्य में पैठने की चेष्टा की। ज्यों-ज्यों जंगली और अर्द्ध-जंगली अवस्था को पार करके वह सभ्य बना, उसकी समझ का दायरा फैलता गया। प्रकृति के कार्य-कलाप, जीवन-मृत्यु, ग्रीष्म के बाद वर्षा, फिर शीत, बसन्त, पतझड़ आदि ऋतु-परिवर्त्तन, रात और दिन का चक्र, इन सभी में उसने एक अमूर्त्त रहस्य-भावना और दार्शनिक अनित्यवाद की कल्पना की। उसने समझा—कोई ऐसी अदृश्य शक्ति अवश्य है जो समस्त सृष्टि का संचालन करती है, अतएव अगम्य और अगोचर को उसने धार्मिक पहलुओं से आँकने का प्रयत्न किया।

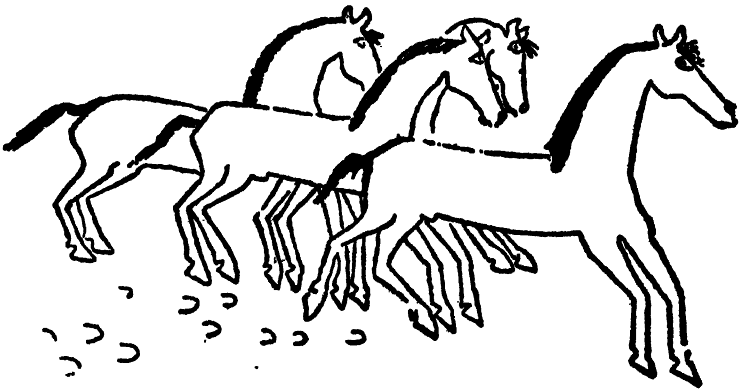
किन्तु आदियुगीन मानव के ज्ञान अथवा धर्म की व्याख्या आज से भिन्न थी। सभी विषय, सभी समस्याएँ और वे सभी प्रश्न, जो उसके लिए अबूझ पहेली थे, ईश्वरीय या सर्वज्ञीय रहस्य से घिरे थे। हज़ारों वर्ष पहले का मनुष्य कठिन से कठिन प्रश्नों को भी ईश्वरत्व की ओट में सहज ही हल कर लेता था। प्रत्येक समस्या का उसके पास एक निश्चित समाधान था और सभी स्थिर-अस्थिर व्यवस्थाओं में वह सर्वज्ञप्रणीत, सार्वभौम शक्ति का आभास पाता था। विश्व-रंगमंच पर प्रकृति-नटी का अभिनय, जिसे उसने अहर्निश जीवन के चक्राकार परिवर्त्तन के साथ देखा और समझने की कोशिश की, उसे अलौकिक और सर्वसाधारण की समझ से बाहर की चीज़ जान पड़ी। वह दिव्य शक्तियों के रूप में उनका चिंतन-मनन करता रहा। संसार के सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेदों में इन अदृश्य देवताओं की आराधना के प्रकरण हैं। फिर ज्यों-ज्यों इन विचित्रताओं में उसकी बुद्धि रमती गई, वह दैवी शक्तियों का भिन्न-भिन्न नामकरण करता गया और लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक, आत्मा-परमात्मा, ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, सविता, अदिति, मरुत, रुद्र, पर्जन्य, अग्नि, सोम, यम आदि न जाने कितने देवताओं की कल्पना कर डाली। पृथक्-पृथक् देवताओं में पृथक-पृथक् गुणों को आरोपित किया गया। कुछ देवता तामसी शक्ति और जादू के माध्यम बने।

मिस्र, क्रीट, सुमेर, सिन्धु, असीरिया, बेबिलोनिया, उत्तरी-पश्चिमी अमरीका, पश्चिमी अफ्रीका, लंका, मेलानेशिया, तिब्बत, खाल्डिया आदि की संस्कृतियों में धार्मिक भावनाओं का प्राधान्य है। उत्तरी अमेरिका में एक विशालकाय ईगल पक्षी चित्रित मिला है जो अपने भारी पंखों की फड़-फड़ाहट से तूफान और बिजली उत्पन्न करने वाला देव-पक्षी कहलाता था। बोर्निया जाति में 'बोली आतप' नामक एक दयालु देव प्रसिद्ध था जो लोगों की रोग-शोक, आधि-व्याधि से रक्षा करता था। कुछ देशों और जातियों में पूर्वजों और दिवंगत आत्माओं की पूजा प्रचलित थी। अपने और अपने परि-वार की सुरक्षा के लिए वे उनकी मूर्त्तियाँ बनाकर आराधना करते थे। कई बार स्मारक रूप में भी उनकी

स्थापना की जाती थी। पश्चिमी अफ्रीका, न्यूगीनिया, मेलानेशिया और दक्षिण-पूर्वी अमरीका में ऐसी कितनी ही पूर्वजों की कलात्मक मूर्त्तियाँ पाई गई हैं।

यूनानियों, चीनियों और अधिकांश भारतीयों में कला को प्रकृति से संश्लिष्ट किया गया और प्राकृतिक दृश्यों ने उन्हें प्रेरणा दी। प्रकृति ने अभिव्यक्त तत्त्व पर ही नहीं, अभिव्यक्ति के प्रकारों पर भी प्रभाव डाला। कुछ आदिम जातियाँ ऐसी भी थीं जो मनुष्य और पशु तक में भेद नहीं कर सकती थीं और चौपायों तक को अपना ही बन्धु-बान्धव और रिश्तेदार समझती थीं। जानवरों की शक्ति, चालाकी और फुर्ती से मन ही मन भयभीत होते हुए भी वे उनके प्रशंसक थे। प्रशंसा ने उनमें अनुसरण की प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी थी। भेड़िया, रीछ, वानर आदि प्राचीनतम जातियाँ पशुओं के सम्बन्ध-सूचक चिह्नों की एकरूपता के आधार पर संगठित हो गईं और उन्होंने अपना सामाजिक ढाँचा भी उसी ढंग का अख्तियार कर लिया।

ऑस्ट्रेलिया के आदिवासियों में कितने ही अलमस्त, मनचले तरुणों में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई होगी कि क्या हम भी काँगरू की भाँति दौड़ और कूद सकते हैं और फिर उनमें काँगरू के गुणों को आत्मसात् करने की भी प्रेरणा जगी होगी। शनैः शनैः उन्होंने काँगरू से अपना प्रच्छन्न सम्बन्ध



उत्तेजित जंगली घोड़ों की सरपट दौड़

[उत्तरी अमरीका में ओग्लाला जाति की भैंस की खाल पर बनी पेंटिंग]

मान लिया और काँगरू की हत्या करना, उसका माँस भक्षण करना उनके समुदाय में वर्जित हो गया। कुछ अन्य समुदायों ने भी इसी प्रकार दूसरे जानवरों के गुणों को आरोपित किया और उन्हीं के नाम पर अपनी जाति का नामकरण किया।

कला का प्रसार-क्रम

विश्व के प्रारम्भिक इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह सहज ही सिद्ध हो जाता है कि कला सर्वप्रथम एशिया में जन्मी और यहीं उसका विकास भी हुआ। यूरोप की अधिकांश आदिम जातियाँ जब बिल्कुल असभ्य एवं अर्द्ध-बर्बर थीं तब एशिया में कला तथा संस्कृति का प्रसार हो चुका था और बृहत्तर भारत ने इसमें सर्वाधिक योग दिया था। मिस्र, चीन, तिब्बत, ईरान, ईराक़, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया, मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, हिन्दचीन और हिन्देशिया तथा दक्षिण लंका आदि

देशों से भारत का निकट सम्पर्क था और परस्पर कला एवं संस्कृतियों का आदान-प्रदान होता रहता था। मिस्री और बाबुली सभ्यताएँ भारत की सीमाओं को पार कर चुकी थीं और भारतीय संस्कृति एवं कला ने एशिया के विशाल भू-खण्ड को स्पर्श किया था। अतएव मानव-सभ्यता का उद्‌गम-स्थल (The Cradle of Mankind) एशिया ही कहलाता है।

जावा में प्राचीनतम मानव-ढाँचे और खोपड़ियाँ मिली हैं जो विचित्र ढंग के मनुष्य के सर्व-प्रथम अवशेष कहे जा सकते हैं। चीन में पीपिंग के आसपास की गुफाओं में अनेक क़िस्म के पत्थरों से बने हथियार आदिम मानव की सृजनात्मक प्रतिभा का परिचय देते हैं। उत्तरी-पश्चिमी चीन में स्थित कांसू प्रान्त में काले और भूरे रंग से चित्रित बहुत से बर्तन उपलब्ध हुए हैं जो ईसा से सहस्रों वर्ष पूर्व हसिया और शांग राज्य-काल के हैं। होनान प्रान्त में भी तीन पाये वाले बड़े बड़े पीतल के कलश मिले हैं। इन पर चीनी भाषा एवं लिपि का आरम्भिक रूप खुदा हुआ है। चीन में ये कलश 'तिंग' कहे जाते थे।

चीन की कला के नमूने ये अनेक क़िस्म के सुन्दर बर्तन चीनी शैली का मार्मिक अंकन और विविध घटनाओं का कलात्मक चित्रण प्रस्तुत करते हैं। इनकी रूपरेखा और आकृति प्राचीन होते हुए भी आज की-सी सजीवता और ताज़गी लिए है। पात्रों पर खुदे हुए जानवरों और शिकारी मनुष्यों के चित्र, कहीं-कहीं पौराणिक आख्यानों के आधार पर राक्षस के जबड़ों में सशरीर मानव, बैल और घोड़े आदि के दृश्य बड़े ही भव्य बन पड़े हैं। ये बर्तन सुडौल, सुन्दर और चीन की प्राचीनतम संस्कृति के प्रतीक हैं। इन पर अंकित दृश्यों में आकर्षण है और ये युग-युगान्तर से इन सीधी-सादी प्रभावशाली कलाकृतियों पर अंकित चीनी भावनाओं और कथाओं की पुनरावृत्ति करते आ रहे हैं।

विशेष खुदाई न होने के कारण चीन की असंख्य कलाकृतियाँ पृथ्वी के गर्भ में ही छिपी पड़ी हैं। उनका कभी भी उद्‌घाटन हो सकता है। सड़क और रेल-निर्माण के समय अनेक प्रागैतिहासिक वस्तुएँ प्राप्त होती रही हैं। वे चीन के अतीत पर प्रकाश डालती हैं। उत्तरी चीन और मंचूरिया में स्वीडिश पुराविद् जे० जी० एण्डरसन ने इस दिशा में काफ़ी श्रम किया है और उत्तर-पश्चिम स्थित आरडो प्रदेश में पी० टैलहार्ड डी चार्डिन तथा पी० लिसेंट के उद्योग से बहुत-सी प्राचीन सामग्री और कुछ आरडो काँस्य-मूर्त्तियाँ प्रकाश में आई हैं जो इस समय यूरोप और अमेरिका के अजायबघरों को सुशोभित कर रही हैं।

जापान में भी इसी प्रकार अनेक किस्म के बर्तन और कलश मिले हैं, जिन पर बारीक नक्काशी का काम खुदा हुआ है। यहाँ जो अत्यन्त प्राचीन मूर्त्तियाँ पाई गई हैं वे पुरुषों की न होकर स्त्रियों की हैं और दक्षिण-पूर्वी यूरोप एवं पूर्वी भूमध्यसागर का मिट्टी की प्रतिमाओं से मिलती-जुलती हैं।

साइबेरिया और मध्य एशिया

साइबेरिया के विभिन्न भागों में ऐसी प्रचुर प्रस्तर-चित्रकारी उपलब्ध हुई है जिसे देख कर सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि यह प्रस्तर-युग के समानान्तर अथवा उससे भी पहले की होगी जबकि मनुष्य अपने टेढ़े-मेढ़े, भद्दे हथियारों से जंगली जानवरों का शिकार करके अपना पेट भरा

करता था। उसी पुराकालीन जीवन-पद्धति की द्योतक दो नग्न मानव-आकृतियाँ एबान्स्क में प्राप्त एक शिलाखण्ड पर अंकित मिली हैं, जिनमें से एक मनुष्य धनुष-बाण और दूसरा भाला लिए हुए खड़ा है। हाल ही में रूसी पुराविदों द्वारा पूर्वी साइबेरिया में याकुत्स्क और उत्तरी अफ़ग़ानिस्तान स्थित उज़बेकिस्तान में महत्त्वपूर्ण प्रागैतिहासिक सामग्री प्रकाश में आई है। याकुत्स्क में लेना घाटी के समीप ऐसे अस्सी शिला-खण्ड मिले हैं जो पूर्णतया चित्रकारी से ढके हैं। इनमें सबसे आकर्षक पूरे साइज़ का एक उद्दण्ड घोड़े का चित्र है। वह चमकीले लाल रंग में पेंट किया गया है और पश्चिमी यूरोप में पाई गई गुफाओं के चित्रित चित्रों के सदृश है। मार्खा नदी के पास एक ऐसी चट्टान भी पड़ी मिली है जिस पर तरह-तरह की ड्राइंग और प्राचीन तुर्की भाषा में कुछ लिखा हुआ है।

उज़बेकिस्तान में ज़रौतसाया पहाड़ियों के मध्य में चट्टानों पर खुदी चित्रकारी पर अकस्मात् एक शिकारी की नज़र पड़ी। जानवरों के पीछे धनुष-बाण और भाला लिये हुए सरपट दौड़ते शिकारियों के अधिकांश चित्र मध्य एशियाई प्रागैतिहातिक कला के नमूने तो हैं ही, आदिम मानव की सुगढ़ कल्पना और चिंतन-शक्ति को भी साकार करते हैं। चित्रों के नीचे कहीं-कहीं अरबी लिपि में कुछ लिखा हुआ है। इससे चित्रों का विवरण प्राप्त नहीं होता, केवल इतना ही जाना जा सकता है कि चित्रकारी पहले की है और लिखाई बाद की। उज़बेकिस्तान की पर्वत-कन्दरा में एक आदिम जाति के नवयुवक की अस्थियाँ भी प्राप्त हुई हैं जो आज के मानव-ढाँचे से भिन्न हैं।

साइबेरिया में हंगरी से लेकर दक्षिणी रूस, फ़ारस और उत्तरी चीन तक के विस्तृत भूभाग में धातु-युग के असंख्य सिदियन कला के नमूने विद्यमान हैं। इनमें सोना-चाँदी के आभूषण, ताँबे के उपयोग में आने वाले चित्रित बर्तन, भाले, टेढ़े-मेढ़े हथियार, छोटी तलवारें, कुल्हाड़िया, खण्डित गदाओं के शिरोभाग, जानवर व मनुष्यों के अस्थि-पिंजर और कुछ ऐसी चीज़ें भी सम्मिलित हैं जिनके विषय में कुछ भी पता नहीं चल सकता कि वे किस काम में आती थीं। सिदियन कला-शैली आदिम आवासियों की विचित्र कल्पना को मुखर करती हुई सहस्रों वर्ष पूर्व की लुप्त होती हुई कला-परम्परा को अक्षुण्ण रखती है।

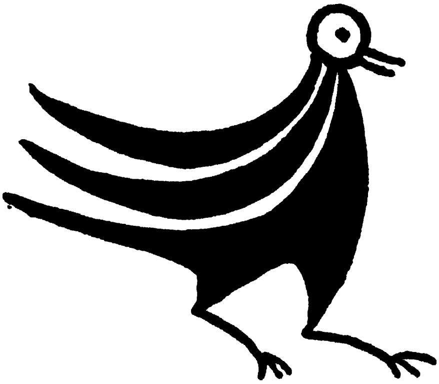
भारत

भारत की विन्ध्य-पहाड़ियों पर तो एक-डेढ़ लाख वर्ष पूर्व तक की मानव-अस्थियाँ प्राप्त हुई हैं जो इतिहासज्ञों और पुरातत्त्ववेत्ताओं के मत से प्राचीनतम मानव के अवशेष कहे जा सकते हैं, किन्तु इसमें कितना अनुमान है और कितना तथ्य—यह बताना कठिन है।

कला के व्यवस्थित क्रम को जानने के लिए हमें लाखों की उड़ान से सहस्रों पर उतरना होगा। ईसवी सन् १८६३ में रॉबर्ट ब्रूस फूट ने मद्रास के समीप पूर्व प्रस्तर-युग का एक शिला-खण्ड ढूँढ़ा था। सन् १८८० में आर्चिबाल्ड कार्लाइल और जे० कॉकबर्न की खोज और अध्यवसाय से मिर्ज़ापुर में ऐसी अनेक चित्रखुदी चट्टानें मिलीं जो बहुत ही प्राचीन हैं और जिन पर पंख की पोशाक पहने हुए मनुष्यों के चित्र अंकित हैं। तत्पश्चात् सिंघनपुर [मध्यप्रान्त] और जोगीमारा [सरगुजा रियासत] आदि स्थानों में भी चट्टानों पर चित्र देखे गये हैं। इन पर विभिन्न प्रकार के

रेंगते हुए कीड़े, मनुष्य, पशु,पक्षी और सूअर आदि की लाल-पीले रंग में रँगी हुई आकृतियाँ बनी हैं। आदमगढ़ में भी इसी प्रकार की पाषाण-चित्रकारी उपलब्ध हुई है। अभी तक पुरातत्ववेत्ता भारत के विभिन्न भागों में पाये जाने वाली इस प्रस्तर-कला का ठीक-ठीक विश्लेषण नहीं कर पाये हैं और न ही इसकी प्राचीनता और समय का ठीक अनुमान कर सके हैं। तामिलनाड, आन्ध्र, मध्य-प्रदेश, छोटा नागपुर, उड़ीसा, होशंगाबाद, पंजाब, उत्तरप्रदेश, नर्मदा-उपत्यका आदि स्थानों में प्रागैतिहासिक हथियार, वस्त्र और उपयोग में आने वाले भाँति-भाँति के बर्तन मिले हैं। ये सहस्राब्दियों से एक सी स्थिति में ज्यों के त्यों हैं और इन्हें भिन्न कालों का बताया जाता है।

एक पात्र पर चित्रित पक्षी



इन पुरातात्विक खोजों से भारतीय प्रागैतिहासिक कला के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा नहीं बन पाई थी। ऐसा तो सहसा तब हुआ जब सन् १९२४ में सर जॉन मार्शल और डॉक्टर अरनेस्ट मैके के उद्योग से सिंधु और रावी के तट पर हज़ारों वर्ष पहले की अत्यन्त समृद्ध आर्य-पूर्व सभ्यता के क्रीड़ा-केन्द्र मोहेन्जे-दड़ो और हड़प्पा का पता लगा। पृथ्वी के अंतस्थ में छिपे पड़े इन नगरों में पक्की ईंट के बने चौकोर मकान, स्नानागार, सभा-भवन, तालाब, सुन्दर ढंग से बनी हुई नालियाँ, बर्तन, ठप्पे, जवाहरात, आभूषण, मूर्त्तियाँ आदि महत्वपूर्ण वस्तुएँ प्रकाश में आई हैं। कुछ ऐसी मुद्राएँ भी निकली हैं जिनकी लिपि अभी तक नहीं पढ़ी जा सकी है। मुद्राओं पर भगवान शिव के वाहन नन्दी के चित्र अंकित हैं, संभव है उन दिनों शैव-मत का प्राधान्य रहा हो। नाग-पूजा के भी प्रतीकात्मक चिह्न मिले हैं और बर्तन एवं ठप्पों पर हाथी, बैल, गैंडा, घड़ियाल, भैंस, कुत्ता, कछुए आदि के चित्रों से उस समय के लोगों की पशुओं के प्रति कोमल भावना का बोध होता है। पार्वती, दुर्गा, काली आदि की प्रतिमाएँ भी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित मिली हैं। सिन्धु-उपत्यका की यह उपलब्ध सामग्री सुमेरियन वस्तुओं से टक्कर लेती है, अतएव दोनों में परस्पर सम्बन्ध-सूत्र का संधान किया जा रहा है।

मुद्राओं की चित्र-लिपि बलूचिस्तान में बाहुई नामक द्राविड़ भाषा और सुमेर एवं एलाम के चिह्नों के बहुत कुछ सदृश है। इतिहासकारों और भाषाविदों का मत है कि प्राचीन मिस्र, बेबीलोनिया, मेसोपोटामिया, एलाम और सुमेरिया की सभ्यताओं में घनिष्ठ सम्पर्क रहा है और यह भी संभावित है कि सुमेर-द्राविड़ लोग सामुद्रिक मार्गों से एक स्थान से दूसरे स्थानों में घूमते रहे हों

और कालान्तर में उनको सभ्यताओं में समानता के साथ-साथ कुछ विभेद-वैभिन्न्य भी आ गया हो। खुदाई में प्राप्त मनुष्य की ठठरियों से भी सम्मिश्रित जातीय तत्त्वों का बोध होता है जिसमें आर्येतर द्राविड़ और मंगोल लोगों की आकृतियों से अधिक समानता दीख पड़ती है।

मोहेन्जे-दड़ो में ऐसे चित्र भी मिले हैं जिन पर आर्य-सभ्यता की स्पष्ट छाप है। तिलक, यज्ञोपवीत, जूड़े के आकार में बँधे हुए केशों में कंघी खोंसे हुए मनुष्यों के चित्र आदि देख कर लगता है कि बाद में आर्य-सभ्यता का मिश्रण उसमें अवश्य हुआ होगा। जो हो, इन दोनों नगरों की वृहद् एवं सुगठित योजना, सुदृढ़ प्राचीर, स्नानागार और मध्य भाग में एक विशाल प्रांगण, प्रांगण में एक भव्य जलाशय, जिसके उत्तर और दक्षिण की ओर चढ़ने की सीढ़ियाँ, जल बाहर फेंकने के लिए गहरी और सुव्यवस्थित नालियाँ, जलाशय के चारों ओर चिकनी ईंटों का एक चौंतरा, पीतल, ताँबे, सोने, चाँदी और काँसे के आभूषण, सींग के कड़े और चूड़ियाँ, चक्राकार सिर वाले बालों के पिन, पच्चीकारी की हुई प्लास्टिक की बनी चीजें, मिट्टी और सेलखड़ी की मूर्त्तियाँ आदि के निर्माण-कौशल को देखने से सहज ही अनुमान होता है कि यहाँ प्राचीन काल में सहस्रों वर्ष तक धन-जन से समृद्ध सभ्यता पनपती रही होगी और सिन्धु-रावी जैसी महानदियों के तट पर स्थित होने के कारण किसी समय बाढ़ ने इन्हें ढक लिया होगा।

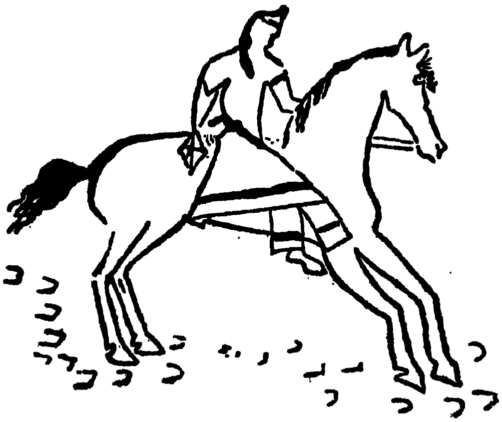
मोहेन्जे-दड़ो से लगभग अस्सी मील उत्तर की ओर प्रस्तर-खण्ड मिले हैं जिनकी कलामय सुन्दर चित्रकारी मोहेन्जे-दड़ो से भी हज़ारों वर्ष पूर्व की है। पुरातत्त्व की दृष्टि से इनका निर्माण-काल अज्ञात है और इनके निर्माता भी मोहेन्जे-दड़ो, हड़प्पा आदि नगरों में बसने वाली जातियों से भिन्न हैं। समय-समय पर की गयी खुदाइयों से यह सिद्ध हो चुका है कि प्रस्तर-युग की यह सभ्यता, जो अस्सी हज़ार वर्ग मील की परिधि में फैली हुई है, बहुत कुछ सादृश्य-सूत्र में बँधी है।

बृहत्तर भारत के इर्दगिर्द जावा, सुमात्रा, मलाया, स्याम, बाली, कम्बोडिया, हिन्देशिया, चम्पा, नेपाल, तिब्बत, ब्रह्मा, लंका और अफ़ग़ानिस्तान आदि पड़ोसी देशों की कला, धर्म, संस्कृति एवं भाषा में परस्पर आदान-प्रदान होता रहा है और वे बिल्कुल घुल-मिल-सी गई हैं। शतियों से नाता टूटने पर भी इन देशों की कला विशिष्ट तत्त्वों को समेटे भीतर ही भीतर पुष्ट होती रही और ऊपर से थोपी हुई न होकर क्रमश: अपनी ही कला-चेतना का अंग बन गई। भारत के अन्तर्गत उत्तर-पूर्वी, केन्द्रीय और दक्षिणी वर्गों में लगभग अढ़ाई करोड़ आदिवासी फैले हुए हैं। हिमालय की तराई और आसाम राज्य के आस-पास लेपचा, गारो, खासी, मिकिर, सिंगफू और नागाओं में कोन्यक, सेमा, अंगामी आदि जन-जातियाँ, केन्द्रीय वर्ग में विन्ध्याचल, सतपुड़ा, महादेव मेकल और अजन्ता की ढलानों, हैदराबाद, उत्तर-पश्चिम, नर्मदा और गोदावरी के पार्वत्य प्रदेशों के आदिवासी, उड़ीसा की कोंड, खड़िया, सिंहभूम और मानभूम, छोटा नागपुर की संथाल, उराँव और मुण्डा, केन्द्रीय पार्वत्य भूभागों की कोल, गोंड और भील, दक्षिणी वर्ग में कृष्णा नदी के इतस्ततः छितरी हुई नल्लामलाई पहाड़ियों की चेंचू, नीलगिरी की टोडा, ट्रावनकोर-कोचीन की कादार, काणीकर, माला और कुयवन, उत्तरी ध्रुव की एस्किमो आदि आदिम जातियाँ आज भी अपनी पूर्व स्थिति में ही बनी हुई हैं। राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था में इन जन-जातियों का कोई हाथ न

होने पर भी इतिहासज्ञ और पुरातत्ववेत्ताओं के प्रयास में इनकी प्रागैतिहासिक कला-थाती का संरक्षण किसी प्रकार किया जा सका है। गृहसज्जा का बहुत-सा सामान, अस्त्र-शस्त्र और इनके प्राचीन आदर्श एवं परम्पराओं के जीवित प्रतीक नष्ट होने से बच गये हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित चले आ रहे हैं।

मध्य-पूर्व और उत्तरी एशिया

प्रागैतिहासिक काल में एशिया के अन्य देशों की कला को भी भारत से प्रेरणा मिलती रही है। मध्यपूर्व में सीरिया, मेसोपोटामिया और ल्युरिस्तान की पुरातात्विक शोधों के परिणामस्वरूप ईसा से लगभग तीन हज़ार वर्ष पूर्व के पुराकालीन अवशेष मिले हैं जिनका अध्ययन करने से आचार-विचारगत पार्थक्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मेसोपोटामिया में लम्बी गर्दन वाले विचित्र प्रकार के मानव-सिर देखे गए हैं जिनकी लम्बी-सीधी नाक, मध्य में मिली हुई उभरी भौंहें और अख-रोट की भाँति चौड़ी गोल आँखों के छिद्र उल्लेखनीय हैं और जो प्रस्तर अथवा ताम्रयुगीन प्रतीत होते हैं। टेल हेलफ़ (Tell Halaf) में मंदिरों की खुदाई में प्राप्त देवी-देवताओं और दानवों की मूर्त्तियों के रूप में एक और ही भिन्न प्रकार की कला का उद्घाटन हुआ है जिनकी भावभंगी और मुँह की बनावट देखने से लगभग साढ़े तीन हज़ार ई० पू० की आदिम अभिरुचि का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। वे भले ही तत्कालीन चारित्रिक विशेषताओं को व्यक्त करती हुई आदि-मानव की मान्यताओं के साथ संयुक्त हों, अब तो उन्हें कला और सृजन की दृष्टि से अत्यन्त आकर्षक ही कहा जा सकता है। टेल हेलफ़ में मिट्टी की कुछ प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं। वेशभूषा और निर्माण-शैली की दृष्टि से ये और भी प्राचीन जान पड़ती हैं। इनके सिर बहुत छोटे-छोटे और नीचे का शरीर स्थूल है। इसी स्थान में सुन्दर साँचे में ढले हुए चित्रित प्याले भी मिले हैं।



उत्तरी अमरीका में ओग्लाला जाति का भैंस की खाल पर अंकित घुड़सवारी का एक दृश्य

मेसोपोटामिया में एच० आर० हॉल और सर ल्योनार्ड वुले के वर्षों तक अनुसन्धान-कार्य करने के फलस्वरूप विविध सामग्री सिंह, बैल, और अन्य जानवरों के हरे पत्थर पर खुदे चित्र, प्ला-

स्टिक की बनी हुई कलात्मक वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं जो यूरोप में कन्दराओं की भित्ति-चित्रकारी से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। यहाँ की अधिकांश सामग्री पेनसिलवानिया यूनीवर्सिटी, फिलडेल्फिया और ब्रिटिश अजायबघरों में सुरक्षित है।

पश्चिमी ईरान के ल्युरिस्तान प्रान्त में भी पीतल का बहुत-सा चित्रित सामान मिला है जो अब यूरोपीय और अमरीकी अजायबघरों में लोगों तथा व्यक्तिगत संग्रह में मिल गया है। ल्युरिस्तान की आदिम जातियाँ घोड़ों के पालने का व्यवसाय करती रही होंगी, क्योंकि घोड़ों की साज-सज्जा और उनके उपयोग में आने वाला सामान ही अधिकतर मिलता है। इसके अतिरिक्त कुल्हाड़े, गदाओं के शिरोभाग, छोटी-छोटी तलवारें, प्याले, कलश, जो सभी पीतल के बने हैं, सिदियन, बेबिलोनियन और असीरियन संस्कृति के सम्मिश्रित नमूने हैं और दर्शक को आश्चर्य में डाल देते हैं।

यूरोप

यूरोप की प्रागैतिहासिक कला ऑरिग्नेशियन काल से आरम्भ होती है। विगत शताब्दियों में यूरोपीय जातियाँ शक्तिशाली बन कर अपनी कला एवं संस्कृति का प्रसार करती रही हैं और उन्होंने अपने प्राचीन गौरव एवं परम्परागत सभ्यता के अवशेषों को भी अक्षुण्ण रखा है। समय-समय पर हुई खुदाइयों में प्राप्त चित्रकारी, ड्राइंग, पत्थरों पर संगतराशी का काम तथा मनुष्यों के जो पुराने ढाँचे और खोपड़ियाँ मिली हैं उनसे वहाँ के आदिम जीवन और कला के प्रवर्त्तक स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। फ्रांस में हाथीदाँत की आठ प्रतिमाएँ मिली हैं जो अधिकांश नारियों की हैं और प्रचुर साधनों के अभाव में उस आदिम रूप में मिलती हैं जब कि कलाकार अपनी भावनाओं को अधिक व्यापक रूप न दे सका था। प्रो० ओबरमेअर के अन्वेषण-कार्य ने सन् १६०८ में डेन्यूब के विलन-डोर्फ़ नगर में ज़मीन के भीतर से कँकरीली चट्टान की एक विशाल नारी-मूर्त्ति प्राप्त की है, जिसकी कलाइयों के मोटे कड़े, गुँथे बाल, शरीर की भंगिमा और बाहरी रूप उस समय की वेशभूषा और कलात्मक सुघड़ता का परिचय देते हैं। इसे देख कर कौन कह सकता है कि प्राचीनतम मानव में शृंगारिक भावना ऐसी ही उत्कट न रही होंगी जैसी कि आज के विकासमान सभ्य मानव में एक दूसरे ही ढंग की दीख पड़ती हैं।

फ्रांस और दक्षिणी स्पेन में पाई जाने वाली प्रतिमाएँ दक्षिणी अफ्रीका के बुशमैन और होत्तेनतात लोगों द्वारा निर्मित प्रतिमाओं से बहुत मिलती हैं। संभव है ये अफ्रीकी जातियाँ यूरोप के इस भूभाग की ओर आयी हों और यहाँ के आवासियों में कलात्मक चेतना भरी हो।

यूरोप भर में बहुत पहले से ही प्लास्टिक कला का प्रचलन था। ज़ेकोस्लोवाकिया में ब्रनो के समीप हाथीदाँत की एक भव्य नर-मूर्त्ति प्राप्त हुई है जिसमें प्रागैतिहासिक निर्मिति का आदिम भावनाओं से अद्भुत योग है। दक्षिणी रूस में कोस्तिएन्की के समीप एक सिर-विहीन नारी-मूर्त्ति भी मिली है और पूर्वी साइबेरिया में इर्कुत्स्क के आस-पास ऐसी कितनी ही हाथीदाँत की मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं जो कलात्मक नक्काशी, सुडौलपन, आकार-प्रकार, अंग-प्रत्यंगों की गढ़न, रंग, आलोक एवं छाया में

पश्चिमी अफ्रीका की नीग्रो शिल्पकला के समकक्ष हैं। रेखाओं का अनुपात, सूक्ष्म निरीक्षण और कला की बारीकियों को देखकर सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि चिरकाल तक यूरोपीय और अफ्रीकी जातियों का औद्योगिक सहयोग एवं सांस्कृतिक प्रतीकों का आदान-प्रदान होता रहा होगा और तत्कालीन कला-प्रणाली पर एक-दूसरे की गहरी छाप पड़ी होगी।

फ्रांस और स्पेन में मेगडेलेनियन काल की कुछ खास पशु-प्रतिमाएँ और भित्ति-चित्रकारी उपलब्ध हुई जो अधिक स्वाभाविक और सादगी लिये है। मिट्टी की बनी हुई एक शेर की मूर्त्ति गुफा के मुख में प्रवेश करती हुई इतनी सुन्दर और कलापूर्ण बन पड़ी है कि बिल्कुल सजीव और जीवन-रस से ओतप्रोत-सी लगती है। कोमल और चिकनी मिट्टी की दीवारों पर काले, लाल और पीले रंग से जानवरों की विभिन्न आकृतियों की द्योतक मोटी रेखाएँ खींची गई हैं, जो साधारण कोटि की होते हुए भी पृथक् व्यक्तित्व लिये हैं। इसी प्रकार वर्त्तुल रेखाओं को मोड़-तोड़ कर मानव-चित्र भी अंकित हैं जिनमें अधिकांश लड़ाई के दृश्य, सिर पर सींग पहने और हाथों में धनुष-बाण लिये एक-दूसरे पर झपटते और जूझते मानव, कहीं पशुओं के पीछे दौड़ते और आक्रमण करते हुए शिकारी और कहीं पर ढोल बजाते और नृत्य की ताल पर थिरकते हुए स्त्री-पुरुषों की आकृतियाँ बनी हैं। यूरोप की कला अधिक प्राचीन न होते हुए भी विभिन्न युगों की टेकनीक और विशेषताओं को व्यक्त करती है।

अफ्रीकी प्रागैतिहासिक कला

भले ही अफ्रीकी लोग इस युग में अन्य जातियों की अपेक्षा पिछड़े हुए हों, किन्तु अतीत के धुँधले प्रभात में उनमें कलात्मक चेतना और सौन्दर्य-रस भरा था। पुरातत्त्व की खोज ने हज़ारों वर्ष पुरानी अफ्रीकी संस्कृति को पुनर्जीवन दिया है। उत्तरी अफ्रीका में सहारा के विभिन्न भागों और एटलस प्रदेश में पत्थर की दरारों पर चित्रकारी अंकित मिली है, जिनमें भैंस, हाथी, ज़िरेफ़, गैंडा और शुतुरमुर्ग के बहुत सुन्दर चित्र बने हुए हैं। तासिली-पर्वत पर भी मनुष्य-आकृतियाँ चित्रित हैं और उनके आस-पास पशु खड़े हैं। एटलस प्रदेश की प्रागैतिहासिक चित्रकला को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—प्रथम तो वे जो दैनिक जीवन के सरल दृश्यमात्र हैं और बहुत ही प्राचीन हैं, दूसरे प्रकार के चित्र उसके कुछ समय पीछे के और कम स्वाभाविक मालूम होते हैं। कला ज्यों-ज्यों विकसित होती है उसमें स्वरूप की अपेक्षा कार्य पर दृष्टि रहती है और किन्हीं-किन्हीं पहलुओं का चित्रांकन विशेष महत्त्व रखता है। तृतीय कोटि के लिबियन-बरबर नमूनों में, जिनमें पशुओं के चित्र ही अधिक हैं, चित्रात्मक समग्रता रेखाओं में सिमट गई है और विचित्र ढंग से कलाकार की भावनाओं को व्यक्त करती है।

सहारा मरुस्थल के दक्षिणी-पश्चिमी इलाके में कुछ ऐसी भित्ति-चित्रकृतियाँ भी उपलब्ध हुई हैं जो फ्रेंच एहगर, मिस्री और बुशमैन-कला के बहुत कुछ सदृश हैं। प्राचीन काल में फ्रेंच एहगर और मिस्र की आदिम जातियाँ एक देश से दूसरे देश तक भ्रमण करती रही होंगी और जीवन-संघर्षों के बीच भी कलात्मक प्रसार में प्रयत्नशील रही होंगी। इन तीनों प्रकार के भित्ति-चित्रों में

बुशमैन-कला अपेक्षाकृत व्यापक दीख पड़ती है। वह दक्षिण अफ्रीका के प्रायः सभी प्रमुख भागों में फैली हुई है। बुशमैन लोग नीग्रो जाति से भिन्न हैं। ये अफ्रीका में कब और कहाँ से आए—यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जीवन बिताने की इनकी अपनी सामाजिक प्रणाली है और ये बहुत



युद्ध की सरगर्मी
(स्पेन में प्राप्त पाषाण युग का एक भित्ति-चित्र)

ही प्राचीन परम्पराओं के समर्थक हैं। ये शरीर से ठिंगने और पीत वर्ण के होते हैं। होत्तेनातात आक्रमणकारियों के पूर्व बुशमैन आदिम जाति ही दक्षिण अफ्रीका में फैली हुई थी और इन्होंने ही कलात्मक विकास में योग दिया था, जिसके अवशेष अभी तक विद्यमान हैं।

बुशमैन चित्रकृतियों में अधिकांश पशुओं और मनुष्यों के चित्र पत्थर की दीवारों पर खोद कर आँके गए हैं। कहीं-कहीं रंगीन पेंटिंग भी मिलती है। रंगों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने पर ऐसे अनेक रंगीन द्रव्य, जो पक्के और टिकाऊ हैं, उनमें मिले हुए ज्ञात होते हैं। किसी-किसी चित्र में रेखाओं के अनुपात से रंग उभारा गया है और हल्की छाया एवं चमक देकर चित्रांकन को सजीव बनाया गया है।

अफ्रीका के पश्चिमी क्षेत्र में नीग्रो-कला के कई प्रमुख केन्द्र हैं जहाँ काष्ठ, प्लास्टिक और पत्थर की दीवारों पर लोक-जीवन के नित्यप्रति के दृश्य और घटनाएँ बड़े ही सरल, सुंदर रूप में पाई जाती हैं। कोंगो जलप्रान्तर और पश्चिमी सुडान के विशाल भू-खण्ड में कला की प्रचुर सामग्री प्रकाश में आई है। यों तो कांस्य मूर्त्तियाँ, बर्तन, चाँदी-सोने के अलंकार आदि सभी प्रकार की चीज़ें मिली हैं, पर काष्ठ-शिल्प का सर्वोपरि स्थान है। मिस्र और ग्रीक जैसी अलंकृति तो उसमें नहीं है, किन्तु उनकी बनावट और साँचों में एक सजीव कल्पना और कलात्मक सूक्ष्मता द्रष्टव्य है। अफ्रीका की

अतएव आदिम जातियां में कितनी ही ऐसी खूबसूरत गुड़ियाँ पाई गई हैं, जिन्हें वन्ध्या स्त्रियाँ बच्चे के रूप में इस विश्वास पर रखती थीं कि उनके भी कभी ऐसी ही संतति होगी। उनके प्रयत्न यदि असफल होते थे तो इस खिलौने को अशुभ मान कर त्याग देती थीं। इसी प्रकार मनुष्यों की भी समूची प्रतिमाएँ मिली हैं जिन्हें पुरखों की मृत्यु के बाद उनका जीवित प्रतीक मानकर पूजा-आराधना के लिए रखा जाता था।

दक्षिणी निगेरिया में बेनिन की कला और भी समृद्ध है। पुर्तग़ीज़, डच और अंग्रेज यात्रियों ने इस स्थान की खोज की और अनेक कांस्य-मूर्तियाँ, हाथीदाँत का सामान अपने साथ लूट कर ले गए। अध्यवसाय और निर्माण-कौशल की दृष्टि से बेनिन के कलाकारों ने कमाल हासिल किया है। भाव-प्रदर्शन भी असाधारण और उनकी सूक्ष्म कला-प्रणयन की अभिरुचि का परिचायक है।

आँस्ट्रेलिया

ऑस्ट्रेलिया में गोरी जातियों के आगमन के पूर्व आदिम मूल निवासी ही यहाँ बसते थे। ये यहाँ कब आए, कहाँ से आए और कितने वर्षों से यहाँ रह रहे थे—इस सम्बन्ध में अभी तक भी कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। कबीलों में विभक्त होकर ये भोजन की खोज में इधर-उधर घूमते फिरते थे। श्वेतांगों की सभ्यता विकसित होने पर भी ये अपनी बेढंगी जीवन-प्रणाली से लिपटे चिपटे रहे। सहस्रों वर्षों से ये पिछड़े हुए और असभ्य हैं। आज भी वाह्य जगत् की हलचलें इन्हें प्रतिकम्पित नहीं कर पातीं और वे उन्हीं पुराने रीति-रिवाज़ों एवं संस्कारों में पल रहे हैं, तथापि अन्य आदिम जातियों की भाँति उन्हें भी शुरू से चित्रण और निर्माण-कला का शौक़ था। चित्रण की प्रवृत्ति में सौन्दर्य वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक महत्ता और एक दूसरे से होड़ लेने की भावना अधिक थी।

ऑस्ट्रेलिया के इन असभ्य आदिम वासियों की सांस्कृतिक विरासत, उनके चित्र और कला-कौशल की सामग्री पर्याप्त परिमाण में मिली है। पत्थर की चट्टानों पर काँगरू, ह्वेल, चिड़ियाँ, मछली आदि की आकृतियाँ खुदी हुई हैं। कोई-कोई आकृति बहुत बड़ी है, किन्तु चित्रों का बाहरी ढाँचा साधारण होते हुए भी उसके आकार-प्रकार की गढ़न और संगतराशी में सतर्कता बरती गई है। ऑस्ट्रेलिया म्यूज़ियम के प्रसिद्ध पुराविद और नृतत्वशास्त्री फ्रेडरिक डी० मेककार्थी वर्षों तक सिडनी ज़िला में अनुसन्धान करते रहे, जहाँ पर विभिन्न प्रकार की पत्थर पर खुदी चित्रकारी प्राप्त हुई। अधिकांश चित्रकारी ज़मीन पर चित्रित मिली है। कुरिंग-गाइ-चेज़ और लैम्बर्ट पेनिसुला में एक ऐसा चित्र देखा गया है जो बहुत बड़ा, लगभग १६ फुट लम्बा और चार फुट ६ इंच चौड़ा है, साथ ही पक्षी का सा सिर वाला संस्कृति का देव है। उत्तरी किम्बरले में प्राप्त भित्ति-चित्र में सफेद, लाल और काले रंग की विचित्र मानव-आकृतियाँ बनी हैं। इनके न मुँह है, न आँखें और न उंगलियाँ। ऑस्ट्रेलिया-निवासी इन्हें वर्षा के देवी-देवता मानते थे और उनका विश्वास था कि मुँह होने से वे निरन्तर बरसते रहेंगे, कभी दम न लेने देंगे। इन देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना को विशेष महत्व दिया जाता था।

ऑस्ट्रेलिया के उत्तरी भाग में बसने वाली काकड़ा जाति में छाल पर खुदी हुई रंगीन चित्रकारी भी उपलब्ध हुई है। पेड़ की छाल को चिकना और समतल बनाकर सफ़ेद, लाल और काले रंग में कलात्मक चित्रकारी की गई है। अपनी कुटिया, घरों और झोपड़ियों को सजाने के लिए वे उन्हें जहाँ-तहाँ लटकाते थे।

मध्य ऑस्ट्रेलिया में एक दूसरे ढंग की चित्रकारी भी मिली है। यहाँ बसने वाली अरन्दा आदि जातियों में पूर्वजों की बनाई हुई सलेटी पत्थर अथवा काली तख्ती पर अंकित चित्रकारी पाई गई है जो पौराणिक मनोभावनाओं, उनके धर्म, विश्वास एवं प्राथमिक संस्कारों को प्रकट करती है। प्रत्येक चित्रकृति के साथ एक लम्बी पौराणिक कथा गढ़ी गई है और वे उनके गौरव और गर्व की वस्तु हैं। कभी-कभी इन कहानियों से चित्र समझने में सहायता मिलती है, लेकिन प्रायः वे निरर्थक भी सिद्ध होती हैं।

भाषा, कला और संस्कृति की दृष्टि से भले ही ऑस्ट्रेलियन लोग शतियों तक पिछड़े और असभ्य रहे हों, किन्तु उनकी सौन्दर्यानुभूति किसी भी देश की सभ्य आदिम जाति से कम नहीं है। सुन्दर बनने और सजने-सजाने की प्रवृत्ति उनमें ऐसी ही है जैसी औरों में, भले ही प्रकृति और मानव के अन्तःसौन्दर्य को व्यापक रूप से समझने की क्षमता उनमें न हो। उनके भालों, तलवारों, ढालों, रहने के मकान, यहाँ तक कि पेड़, समाधि-स्थल और दिन-रात काम में आने वाली साधारण,उपयोगी वस्तुओं पर भी सुन्दर चित्रकारी देखी गई है। उनकी कला में जातिगत और सांस्कृतिक स्तर के अनेक भेद पाये जाते हैं।

अमरीकी प्रागैतिहासिक कला

भौगोलिक दृष्टि से अमरीका के सांस्कृतिक मानचित्र में एशिया से आने वाली विभिन्न जातियों का इतना व्यापक समावेश है कि जातीय तत्त्व, भाषा, एवं प्राथमिक संस्कृतियों की अनेक विविधताएँ और विशेषताएँ नज़र आती हैं। एलास्का से केप हॉर्न तक फैली हुई मंगोलियन और अन्य जातियाँ उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषाएँ, विभिन्न सांस्कृतिक और जीवन-स्तर एक दूसरे से से गूँथ कर भी अपनी पृथक्-पृथक् प्रगति और परम्पराओं का इतिहास लिए हुए हैं। मेक्सिको के समुद्री तट, मध्य और दक्षिणी अमरीका में बाहर की जाति-उपजातियों के प्रवेश और उनके सम्मिलित उन्नति के प्रयत्नों से लगातार नवीन उत्साह एवं कलागत प्रेरणा मिली है जो उनकी विरासत का अभिन्न अंश बन चुकी है।

ऐतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक दोनों कालों में अमरीका के एशिया, पोलीनेशिया और मेलानेशिया आदि देशों से गहरे सम्बन्ध रहे हैं। अतएव वहाँ की कला अनेक तत्त्वों को समेटे हुए है। कुछ कबीले शिल्पकला में पारंगत हैं तो कुछ संगतराशी और पच्चीकारी के काम में अपना सानी नहीं रखते। काष्ठ-शिल्प, डलिया-टोकरी आदि बनाने का कार्य, कपड़े की कलात्मक बुनती, मिट्टी के बर्तन, सोने-चाँदी के अलंकार और चित्रकला के तरह-तरह के नमूने तथा और भी कई क़िस्म की

कारीगरी की वस्तुएँ अलग अलग कबीलों की विशेषताएँ हैं जो स्थानीय एवं विदेशी तत्त्वों के मेल से बनकर तत्कालीन उन्नत कला का दिग्दर्शन कराती हैं।



लकड़ी पर बनी मानवाकृति (ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित)

एलास्का में बसने वाली एस्किमो जाति की कला सर्वोत्तम है। इनकी सौंदर्यानुभूति और कलात्मक प्रवृत्तियाँ धार्मिक विश्वासों में आत्मसात् होकर प्रकट हुई हैं। देवी-देवताओं का प्रतिनिधित्व करने वाली लकड़ी की बनी हुई तरह-तरह की नक़ाबें इन लोगों के पास मिली हैं जिनमें भूत-प्रेत

और रहस्यात्मक शक्ति की कल्पना की जाती है। ये नक़ाबे धार्मिक उत्सवों के अवसर पर पहनी जाती थीं और इन पर अनेक प्रकार की सजावट की प्रथा प्रचलित थी। सफ़ेद हड्डियों और हाथी दाँत के चित्रित हथियार, हुक्के और धनुष-बाण भी मिले हैं जिन पर बारीक नक्काशी का काम किया हुआ है। यह खुदी हुई ड्राइंग अत्यन्त गहरी और महीन होते हुए भी बड़ी एकाग्रता एवं सूक्ष्म बुद्धि से आँकी गई है। तेज़ मुँह वाली आरी अथवा छेनी से उन्हें परिश्रमपूर्वक खोदा गया है। कुछ चीज़ें इतनी उत्कृष्ट कला-चातुरी का परिचय देती हैं कि उन्हें पूर्वी स्पेन और बुशमैन की हाथी-दाँत की सामग्री के समकक्ष रखा जा सकता है।

ब्रिटिश कोलम्बिया और दक्षिणी एलास्का के इर्दगिर्द फैले हुए द्वीप और समुद्री तट प्राचीन कला के प्रमुख केन्द्र रहे हैं जहाँ कपड़े की बुनाई, डलिया-टोकरी और मिट्टी के बर्तन आदि बनाने का काम उत्तरी-पश्चिमी अमरीकी कला का प्रतिनिधित्व करता है। दीवारों और प्रस्तर-खण्डों पर खुदी प्रतिमाएँ इतनी स्वभाविक बन पड़ी है, जो एक सजीव दृश्य आँखों के सामने खींच देने की क्षमता रखती हैं। फ्रेज़र नदी के तट के समीप एक समाधि-स्थल से लकड़ी पर खुदा मेढ़क का चित्र मिला है जो लगता है अभी फुदक पड़ेगा। दो बड़ी शहतीरों पर, जो आजकल ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित हैं, येत्ल नामक एक पौराणिक पक्षी सम्बन्धी दो दृश्य अंकित हैं। इस विशालकाय पक्षी के बारे में प्रसिद्ध है कि एक बार यह इतना भूखा हुआ कि समुद्र में डूबकर एक बहुत बड़े गाँव में पहुँचा जहाँ ग्रामीणों द्वारा मछलियाँ पकड़ी जा रही थीं। अपने को अदृश्य रख कर वह भीतर ही भीतर काँटे में उलझी मछलियाँ जल्दी-जल्दी खा रहा था कि वह स्वयं भी उसमें फँस गया, किन्तु अपनी भरपूर शक्ति का प्रयोग करके उसने काँटे को बाहर खींचने न दिया। इस खींचातानी में काँटा टूट गया और साथ ही येत्ल की थोड़ी सी चोंच भी झर गई। मनुष्य का रूप धारण करके वह ग्रामीणों के पास गया और चोंच का अंश किसी तरह प्राप्त किया। एक शहतीर पर येत्ल की टूटी चोंच का दृश्य अंकित है। दूसरी शहतीर पर येत्ल मुखिया के प्रच्छन्न वेष में बैठा हुआ है और उसके सिर पर हैट और हाथ में छड़ी है।

इस संग्रह में जितने भी डिज़ाइन और चित्र मिले हैं उन सब में कलात्मक निर्माण, अंग-प्रत्यंगों का सुडौलपन और दृश्य-परम्परा का ऐसा कुशल निर्वाह हुआ है कि एक पूरी कहानी उस छोटे से चित्र में उतर आती है। रीछ, उल्लू, कौआ, उक़ाब आदि जानवरों के चित्रों में आँख, नाक, कान, मुखाकृति, पंजे, पूँछ आदि इतने सुस्पष्ट और बारीकी से आँके गए हैं कि उनमें प्रागैतिहासिक कलाकारों का आत्मविश्वास झलकता है।

दक्षिणी अमरीका के प्रमुख भागों—वेनेज़ुला, कोलम्बिया, इक्वेडर, पेरू, बोलिविया और उत्तरी आर्जेण्टाइना में अमरीकी सरकार द्वारा काफ़ी खुदाई और अनुसन्धान-कार्य किया गया, जिसमें मिट्टी के बर्तन, टेक्सटाइल और कारीगरी की अनेक सुन्दर वस्तुएँ प्रकाश में आई हैं। मिट्टी के बर्तनों पर चित्रित बेल-बूटों, बुनाई के तरह-तरह के नमूनों और मानव-आकृतियों के निर्माण में सहस्राब्दियों पूर्व की रुचि की छाप है। अमरीका में असंख्य जाति-उपजातियों ने कला का प्रचार-प्रसार

किया है। प्राचीन कोलम्बिया में सोने के मुकुट, बोतल, आभूषण, मनुष्य और पशुओं के चित्र मिले हैं। इरोक्वाइस और एल्गोन क्विन्स नामक जातियों में प्राप्त हुई मोटी खालों पर कशीदे और चित्रकारी का बहुत सुन्दर काम होता था। उत्तरी अमरीका में बसने वाले भारतीय क़बीले मूर्तिकला और मिट्टी के ढूह बनाने में बड़े ही दक्ष थे। ये टीले भिन्न-भिन्न शक्लों और आकार-प्रकार के बने हैं। कुछ तो कई-कई सौ फीट ऊँचे और चौड़े हैं। इन मिट्टी के टीलों को क़ब्रों की तरह भी इस्तेमाल किया जाता था। इनके निर्माता कौन हैं और इनका कब निर्माण हुआ—यह बताना आज कठिन है, किन्तु यह सिद्ध हो चुका है कि ये कई जातियों के सम्मिलित प्रयास से बने हैं। इनके निर्माण में पत्थर के जो भारी-भारी समतल टुकड़े लगाए गए हैं और जिस खूबी एवं चातुरी से एक दूसरे में संश्लिष्ट किया गया है वह दर्शनीय है। मैदानों में बसने वाले दूसरे भारतीय क़बीलों में भाँति-भाँति के चित्रों से मंडित मुद्गर, कंघी, चिलम, हुक्के आदि पाये गए हैं। तम्बुओं को ये लोग भैंस की खालों से ढकते थे और उन्हें भी तरह-तरह की चित्रकारी द्वारा शोभनीय और आँखों के लिए रुचिकर बनाने की चेष्टा करते थे।

एण्डरसन और लेमार काउण्टी में टेक्सा लोगों के बनाए हुए मिट्टी के बेल-बूटेदार प्याले, बोतल, खरबूज़ा आदि फल पृथ्वी की खुदाई से प्राप्त हुए हैं जो प्रागैतिहासिक प्रवृत्तियों के द्योतक हैं। अमरीकी कला की विशेषता है कि उसमें सादगी होते हुए भी व्यापक तत्त्वों का समन्वित रूप दीख पड़ता है। वहाँ के प्रागैतिहासिक भग्नावशेषों में हमें ऐसी कला के दर्शन मिलते हैं जिसमें वैभिन्न्य होते हुए भी समानता और एकरूपता है।

प्रागैतिहासिक कला की विशेषताएँ

विश्व की प्रागैतिहासिक कला की तथाकथित खोज और उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों पर मनन करें तो परस्पर बहुत अधिक सादृश्य मिलेगा। प्रायः सभी देशों की प्रागैतिहासिक कला मानव के सभ्य होने के पूर्व की है और उसमें उसका इतिहास सिमटा पड़ा है। ज्यों-ज्यों कला और सामाजिक शक्तियों का सम्बन्ध सुदृढ़ होता गया, समय के साथ कला ने भी अपना रूप बदला। किन्तु आदियुगीन मानव को सृजन की सम्पूर्णता और अवयवों के गठन का बहुत कम ज्ञान था। मनुष्य अथवा पशु का चित्र आँकते हुए प्रायः सिर शरीर से छोटा होता था, कहीं-कहीं शरीरिक अवयवों को अस्त-व्यस्त और विचित्र ढाँचे में ढाला जाता था। कहीं दुम छोटी है तो कहीं चार की जगह दो ही पैर दीख पड़ते हैं और कहीं आँख, नाक, मुँह, के स्थान पर काले बिन्दुओं से ही काम चल जाता है। आदिम मन का नमूना बालक की रुचियों से इतना मिलता-जुलता है कि वह केवल अपनी अंतर्नुभूति को मोटी लकीरों और रेखाओं द्वारा व्यक्त प्रतीकों में आँक सका है। प्रागैतिहासिक चित्रों में योजना, क्रम और वैज्ञानिक अध्ययन को महत्त्व नहीं दिया जाता।

मनुष्य सदैव स्वप्नों में रमा है। उसके अवचेतन मन के उलझे संस्कार भीतर ही भीतर विचित्र कल्पनाओं की सृष्टि करते रहे हैं। आदिम मानव ने वास्तविक और काल्पनिक तथ्यों में

कभी भेद नहीं किया। स्वप्नों को उसने असाधारण माना और मन के स्पन्दनों को कला में साकार करके दिखाया। धर्म ने उसे प्रेरणा दी और आत्मविश्वास पर वह जीवित रहा। उसमें बौद्धिक आवेग से अधिक मानसिक सम्मोहन है। तार्किक बुद्धि विकसित न होने के कारण उसकी अनिश्चित धारणाएँ सामाजिक चिन्तन से तादात्म्य नहीं कर सकी हैं।

आदिम मानव गुप्तांगों का प्रदर्शन भी बुरा नहीं समझते। अनेक मूर्त्तियों और चित्रों में वर्जित अंगों को भी उभार कर दिखाया गया है और उन्हें मानव-शरीर की एक महत्त्वपूर्ण स्थिति मान कर विशेष कौशल एवं दक्षता से चित्रित किया गया है।

प्रागैतिहासिक कला विश्व के इतिहास की सुदृढ़ नींव है। अभी खोज और खुदाई का काम पूर्णतया सम्पन्न नहीं हो पाया है। पृथ्वी के गर्भ में न जाने कितने चमत्कार, कितने तथ्य, कितने कलावशेष मुँह छिपाए पड़े हैं। कभी भी एक बेहतर दुनिया की तस्वीर सामने आ सकती है, बशर्ते कि वह पाश्चात्य और पौरस्त्य देशों का आपसी अविश्वास दूर कर स्वस्थ मानवता की गरिमा के दर्शन कराए।

प्रागैतिहासिक कला अपने बृहद् प्रसार को समेटे विश्व-संस्कृतियों का साक्षात्कार कराती है। इतने वर्षों के समस्त जीवन को घेर कर उसका संयोजक ध्येय विभिन्न मानव-रुचियों और परम्पराओं को न सिर्फ जोड़ना, वरन् अपने में विलय करना है। कितने देश, काल और जातियों के उत्कर्ष, अवनति और संघर्षों का इतिहास उसमें समाया हुआ है। मानव-मानव के भेद और समयाश्रित परिस्थितियों को अनुप्राणित करने की शक्ति उसमें निहित है। चेतना-तन्तुओं पर ज़ोर डाल कर स्वस्थ मानव-विकास को गतिशील बनाए रखने की चेष्टाएँ चारों ओर चल रही हैं। कला ने हमें आगे बढ़ने का रास्ता बता दिया है। वह हमें अग्रसर तो कर ही सकती है, देश-बुद्धि और भेद-बुद्धि भुला कर जीवन-मूल्यों का स्वस्थ समन्वय प्रस्तुत करने की क्षमता भी रखती है।

ग्राम-साहित्य

रामनरेश त्रिपाठी

मुझे इस बात का बड़ा हर्ष है कि ग्राम-गीत या ग्राम-साहित्य की जहाँ चर्चा आती है, वहाँ मेरा भी नाम स्मरण कर लिया जाता है। मैं स्वयं भी अपने साहित्यिक कार्यों में इसको अधिक महत्त्व देता हूँ।

यद्यपि मेरा जन्म गाँव में और एक किसान के घर में हुआ था, और उन्नीस वर्ष की उम्र तक मैंने जौनपुर और फैजाबाद की सड़कों पर घूम लेने के सिवाय शहर को देखा भी नहीं था; पर इसके बाद संयोग से या ईश्वर की कृपा से मुझे शहर की ऐसी संगत मिल गई, जिसमें शहर की रहन-सहन और शिष्टाचार का अनुकरण करके पद-पद पर चौकन्ना होकर रहना पड़ता था; उसका मन पर ऐसा प्रभाव पड़ गया था कि उसके सामने गाँव वालों का जीवन गंदगी और आचारहीनता से भरा हुआ घृणित-सा लगने लगा था। आँखों पर विदेशी सरकार की शिक्षा का चश्मा था ही; उसमें से गाँव की सभी वस्तुएं विकृत दिखाई पड़ती थीं। अपने ही देश में मैं विदेशी-सा बन गया था।

१६२४ तक मैं गाँववालों का गुरु ही बनने का हौसला रखता था। तब तक मैं हिन्दी के पुराने और नए, संस्कृत के प्राचीन कवियों और उर्दू के शायरों को पढ़ चुका था और उन पर कविता-कौमुदी के कुछ भाग भी लिख डाले थे। कहने का अभिप्राय यह है कि तब तक मैं इतना ही जानता था कि ये ही लोग कवि हैं, और ये जो कुछ कहते हैं, वही कविता है। मुझे ज्ञात ही नहीं था कि गाँववालों के पास भी कविता हो सकती है। बल्कि मैं उनकी खिल्लियाँ उड़ाने में आनन्द अनुभव किया करता था।

१६२४ में मैं इलाहाबाद से जौनपुर रेल से जा रहा था। एक स्टेशन पर गाँव के कुछ ग़रीब लोग अपनी-अपनी स्त्रियों सहित कलकत्ते जाने के लिए उसी डिब्बे में आ बैठे, जिसमें मैं था। कुछ बूढ़ी स्त्रियाँ और बच्चे उनको पहुँचाने आए थे, वे प्लेटफार्म पर खड़े रो रहे थे। गाड़ी चली तो वे भी चले गए।

जो स्त्रियाँ डिब्बे में बैठी थीं, उनमें से कुछ नवयुवतियाँ थीं और चुलबली जान पड़ती थीं। वे गाने लगीं। उस समय तो उनके गीत की एक ही कड़ी मैंने याद कर ली थी, जिसका मेरे मस्तिष्क पर जोर का धक्का लगा था। बाद को वह पूरा का पूरा गीत ही मुझे मिल गया, और वह यह है :

पुरुब से आइ रेलिया पछिउँ से आइ जहजिया,
पिय के लादि लेइ गई हो।
रेलिया होइ गइ मोर सवतिया,
पिय के लादि लेइ गई हो॥
रेलिया न बैरी जहजिया न बैरी, उहै पइसवै बैरी हो,
देसवाँ देसवाँ भरमावै, उहै पइसवै बैरी हो॥
भुखिया न लागै पिअसिया न लागै, हमके मोहिया लागै हो,
तोहरी देखिके सुरतिया, हमके मोहिया लागै हो॥
सेर भरि गोहुँआ बरिस दिन खइबै पिय के जाइ न देबै हो,
रखबै अँखिया के हजुरवाँ, पिय के जाइ न देबै हो॥

इसमें सबसे ज्यादा कौतूहलजनक बात जो मुझे मालूम हुई, वह थी रेल की सौत से उपमा। सौत के लिए यह उपमा तो बिल्कुल ही नई थी। हिन्दी या उर्दू के किसी कवि को यह नहीं सूझी थी। मैं सोचने लगा, ऐसे गीतों को बनाता कौन है ! इसमें न तुक है, न मात्राओं की गिनती: कवियों की रचना तो यह हो नहीं सकती।

यही ग्राम-गीतों का सबसे पहला बीज था, जो आगे चल कर शीघ्र ही अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित हुआ।

इसके बाद एक मेले में कुछ गीत, दोहे और बिरहे और मिले जिन्होंने उस अंकुर को जमीन से ऊपर सिर उठाने और पत्तियों के हाथ फैलाने को उत्साहित किया। उनमें से दो-तीन ये हैं:

हम चितवत तुम चितवत नाहीं तोरी चितवन में मन लागो पिया।

सावन में मैं मेहँदी बोआयउँ भादों में दुइ पात।
लगत कुआर पिया चले परदेसवाँ, सींचौं मैं नैन निचोरि॥
× × × ×
बिरहा गावउँ बाघ की नाईं, दल बादर वहराय।
सुनि के गोरिया अँगन उठि धावै, बिरहा क सबद ओनाय॥

मुझे बड़ा आश्चर्य होता था कि हृदय के ऐसे बारीक भावों को कौन पकड़ लेता है और उन्हें गीत के साँचे में ढाल देता है।

यह कौतूहल ही मुझे गीतों की दुनिया में ले गया। फिर तो वहाँ का भाव-सौन्दर्य देखकर मैं ऐसा मुग्ध हुआ कि दिमाग़ को खरोंच-खरोंच कर बनाई हुई कवियों की कविताएँ मुझे फीकी जान पड़ने लगीं।

इसके पहिले मुझे पता ही नहीं था कि यह भी कोई विषय है। क्योंकि हिन्दी में तो और किसी ने इस पर प्रकाश डाला ही नहीं था; अन्य भाषाओं की तरफ मेरा ध्यान ही नहीं गया। १६२४ में मैंने कुछ गीत अर्थ-सहित प्रयाग की सरस्वती मासिक पत्रिका में प्रकाशित कराए। उन्हें पढ़कर साहित्य-रसिक मित्रों ने मेरे काम की सराहना की और उनमें से कइयों ने मुझे मार्ग भी दिखाया। उनसे ही मुझे मालूम हुआ कि गुजराती गीतों का संग्रह श्री मेघाणीजी नाम के विद्वान् कर रहे हैं और बँगला में भी मैमनसिंह के बाउल गीत छपे हैं, तथा अंग्रेजी में तो इस विषय पर सैकड़ों पुस्तकें निकल चुकी हैं। श्री मेघाणीजी की सब पुस्तकें मैंने मँगाकर पढ़ीं और इलाहाबाद की पब्लिक लाइब्रेरी में अँग्रेजी की जो पुस्तकें मिल सकीं, मैंने उनसे भी लाभ उठाया।

पहली जनवरी १६२५ को मैंने अपनी गीत-यात्रा शुरू की। पंजाब, काश्मीर, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण के प्रायः सभी प्रान्त तथा बिहार, डिब्रूगढ़ तक आसाम और बंगाल के कुछ हिस्सों की मैंने पैदल, रेल, लारी और इक्के से यात्रा की। इसमें मेरे आठ-दस वर्ष लगे। एक प्रान्त से लौटकर आता था तो बीच में दो-तीन महीने युक्त-प्राँत के जिलों में भी दौरा कर आता था। इस तरह काम आगे बढ़ता ही रहा। दक्षिण भारत की मैंने तीन बार यात्रा की। गुजरात और राजस्थान भी तीन बार गया हूँ। इसके सिवा मैंने गीत-संग्रह के लिए और भी नौकर रक्खे, जिन्होंने मुझे खूब ठगा। विज्ञापन देकर, पत्र लिखकर और मित्रों से ज़बानी अनुरोध करके भी मैंने गीत लिखवा मँगाए। एक संग्रह श्री राजेन्द्र बाबू (वर्तमान राष्ट्रपति) ने भी भेजा, जो उनकी धर्मपत्नी के पास था और लिखा कि इतने दिन साथ रहने पर भी मुझे मालूम नहीं था कि मेरी धर्मपत्नी के पास गीतों का एक सग्रह भी है। इस तरह आठ-दस वर्षों में मेरे पास लगभग बीस हज़ार गीतों का संग्रह हो गया। इस पर भी मैं कह सकता हूँ कि यह समुद्र में एक बूँद के बराबर भी नहीं है।

इतने बड़े और नए काम में मेरे जैसे साधारण व्यक्ति के लिए अड़चनें कम नहीं थीं। अब तो मेरा विश्वास हो गया है कि आदमी को किसी काम की धुन सवार हो जाय तो अड़चनें आपसे आप हल भी होती रहती हैं। सबसे बड़ी अड़चन तो धन की थी। यह काम किसी एक व्यक्ति के बूते का तो है नहीं; इसे तो संस्था, राजा-महाराजा, सेठ लोग करते तो उनको कठिनाई कम पड़ती। पर सच्ची लगन देखकर भगवान तो मेरे आगे-आगे चलते थे। गीत-संग्रह की उपयोगिता समझकर सेठ घनश्यामदास जी बिरला ने दो हजार रुपये का एक चैक मसूरी से भेजा। काश्मीर के गीतों के लिए स्व० लाला लाजपतराय की प्रेरणा से सेठ ब्रजमोहन बिरला ने वहीं कुछ आर्थिक सहायता दी। तीसरी सहायता जो मैंने पाई थी वह अनमोल है। १६२८ में थोड़े-से ग्राम गीत नमूने के तौर पर मैंने कविता-कौमुदी के पाँचवें भाग में प्रकाशित किए और उसकी भूमिका में अपनी गीत-यात्रा और उसमें आनेवाली कठिनाइयों का भी विस्तृत वर्णन कर दिया। उसे पढ़कर दिल्ली के एक सज्जन की धर्मपत्नी बहुत प्रभावित हुईं और उन्होंने आग्रह करके अपने पति से पाँच सौ रुपये के नोट भेजवाए। साथमें एक पत्र था, जिसमें लिखा था—'आपकी पुस्तक पढ़कर मेरी स्त्री बहुत प्रभावित हुईं, उसके आग्रह से ये रुपये भेजता हूँ। लिफ़ाफ़े पर भेजनेवाले का कल्पित नाम लिखा हुआ है। अतः आप मेरा नाम जानने का प्रयत्न न कीजियेगा। ये रुपये आप अपने स्वास्थ्य-सुधार

में लगाइएगा; ताकि स्वस्थ रह कर आप हम लोगों का अधिक उपकार कर सकें।' ऐसा सात्विक दान तो मुझे इतिहास में भी पढ़ने को नहीं मिला था। मैंने सच्चाई के साथ पूरे पाँच सौ रुपये, पाई-पाई अपने स्वास्थ्य के लिए खर्च कर डाला। यात्रा में अधिक गुड़ खाने से मुझे डायबिटीज नाम का रोग हो गया था। मैं कह सकता हूँ कि उन पवित्र पाँच सौ रुपयों ने और सचाई के साथ उनके खर्च ने मुझे रोग से मुक्ति दिला दी और मैं अब तक जीवित हूँ। ग्राम-गीतों के संग्रह और एक पुस्तक के प्रकाशन में कुल आठ हजार रुपये खर्च हुए थे।

संग्रह के रास्ते में जो-जो दिक्कतें पड़ीं और यात्रा के जो-जो अनुभव हुए, वे तो एक बड़ी पुस्तक ही में अँट सकते हैं। पहले तो मैं उन्हीं गीतों के पीछे पड़ा रहा, जिन्हें स्त्रियाँ गाती हैं। उनके सिवा भी कुछ साहित्य है, उसकी ओर दो-तीन वर्षों तक मेरा ध्यान ही नहीं गया था। स्त्रियों के गीत लेने में एक बड़ी कठिनाई तो परदे की थी; दूसरे वे बोलकर लिखा भी नहीं सकती थीं। वे तो जब दो-चार साथ बैठ कर गाने के उन्माद में आती हैं, तभी उनके दिमाग से गीतों की कलियाँ फूलों की पँखड़ियों की तरह खुलने लगती हैं; उस वक्त कोई आड़ में बैठकर, (क्योंकि पुरुष के सामने स्त्रियाँ बुझ-सी जाती हैं) लिखना चाहे तो लिख सकता है।

जाँत या चक्की के ज्यादातर गीत मैंने रात के पिछले पहर में गृहस्थ के घर के पिछवाड़े बोरे पर बैठकर और लालटेन की धुँधली रोशनी में लिखे हैं। निरवाही के गीत सावन—भादों में धान के खेतों के मेंड़ों पर खड़े होकर लिखे हैं, चमारों के गीत उनके सड़े-गले और बदबू से भरे झोंपड़ों में लगातार रोज बैठकर बुढ़िया चमारनियों से पूछ-पूछकर लिखे हैं। उनको काम पर जाने से रोक रखने के कारण मुझे उनकी दिनभर की मजदूरी देनी पड़ती थी। राजपूताने के शेखावाटी और बीकानेर आदि प्रांतों के गीत मैंने ऊँट पर चढ़कर रात में लिखे हैं, क्योंकि ज्यादातर रात ही में ऊँट पर सवारी लेकर ऊँटवाले चलते हैं, और नींद से बचने के लिए या मन की मौज से गाते हुए रास्ता काटते हैं। मैं ऊँटवाले के पीछे बैठकर उसकी पीठ पर काग़ज रखकर अंदाज से लिखता चलता था। सवेरे देखता था तो देवनागरी के अक्षर ऊँटों की क़तार-से बन गए होते थे।

एक दिक्कत मेरे सफ़ेद कपड़ों की भी मुझे उठानी पड़ी थी। एक तो मैं इलाहाबाद जैसे बड़े शहर में रहता था, दूसरे साफ़ कपड़े का शौकीन भी था, तीसरे कवि था; कवि को बनाव-चुनाव से प्रेम होता ही है। इससे साफ़—सुथरे और अच्छी कट-छँट के कपड़े पहन कर गाँवों में जाता था। वहाँ मैं अनमेल-सा लगता था, क्योंकि गाँववाले जाड़े के सिवा दूसरे मौसमों में धोती के सिवा और कपड़े पहनते भी कम हैं, दूसरे उनके कपड़े मैले भी होते हैं, इससे मैं उनके बीच में विचित्र-सा लगता था। इससे मैं उनके तरह-तरह के संदेहों का शिकार भी हो गया था। कोई कहता ये खुफ़िया पुलीस के कोई अफ़सर हैं, किसी भागे हुए बदमाश की टोह में आए हैं; कोई कहता, ये कोई अपराध करके शहर से भाग कर छिपे-छिपे फिर रहे हैं; कोई कहता, ये किसी नौजवान लड़की या स्त्री को बहका कर ले जायेंगे। कोई कुछ कहता, कोई कुछ। कोई इस बात को स्वीकार ही नहीं करता था कि

गीतों का संग्रह करना भी कोई काम है, जिसके लिए एक पढ़ा-लिखा आदमी, जो साफ़ कपड़े भी पहनता है, इस तरह गाँव-गाँव मारा-मारा फिरता है।

एक कठिनाई और भी थी। उसके पहले मैं स्वराज्य आन्दोलन में जेल हो आया था। इससे किसी के हाथ का छुवा खाने की झिझक तो निकल ही गई थी। गाँव में दिन भर दौड़ धूप करके शाम को थका हुआ, ठहरने की जगह पर आता और किसी ब्राह्मण को कहता कि उसके घर की बनी कच्ची रसोई—दाल, रोटी, तरकारी, भात मैं खा लूँगा तो गाँववाले समझते कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ; किसी मतलब से ब्राह्मण बनकर घूम रहा हूँ। ब्राह्मण होता तो किसी का छुआ कैसे खाता। इस तर्क का विश्वसनीय समाधान न पाकर लोग तरह-तरह की कल्पनाएँ करने लगे और मुझ पर जो ब्राह्मण होने की श्रद्धा थी उसमें भी मुझे कमी दिखाई पड़ने लगी और गीतों का संग्रह कराने में वे कुछ उपेक्षा भी करने लगे। तब मैंने अपने हाथ से भोजन बनाकर खाने का कठोर व्रत लिया। पर गांधीजी को छू लेने के बाद तो छुआछूत के सभी बंधन ढीले पड़ गए थे। व्रत-पोषण के बदले मेरा शोषण करने लगा। दिन भर का थका-माँदा, रात में भी कम सोया हुआ और मस्तिष्क में गीतों के नित्य नूतन रस का स्वाद लेता हुआ मैं गुड़ खाकर और पानी पीकर ही व्रत को तृप्त कर लेता। कभी कभी दोपहर को और कभी कभी संध्या को एक बार भोजन भी बना कर पा लेता। सवेरे का 'खरमिटाव' तो गुड़ ही से होता। गाँवों में आगत स्वागत भी तो गुड़ ही से होता है। गुड़ से अनिच्छा प्रकट करने पर गाँव के सीधे-साधे सज्जन गृहस्थ कहते, 'आप तो शहर के रहने वाले हैं, चीनी खाते हैं; पर हमारे यहाँ तो चीनी त्योहार के दिन भी नहीं मिलती'। मैं सोचता, इनको अपनी हीनता की याद से दुःखी क्यों बनाऊँ, मैं उनके साकार-स्वरूप गुड़ को सहर्ष और प्रशंसापूर्वक ग्रहण कर लेता। मैं नहीं जानता था कि गुड़ के अधिक सेवन से मैं शूगर की फैक्टरी बनता जा रहा था, जो अब जीवन-संगिनी बन गई है।

संक्षेप में यहाँ तक तो गीतों के साथ मेरे शरीर-संबंध की कहानी हुई। यह इसलिए लिख दे रहा हूँ कि आगे जो भाई गीत-यात्रा करें, वे मुझपर बीती हुई को आप-बीती बनाने से बचें। अब आगे गीतों की दुनियाँ में मैंने जो कुछ देखा-सुना, उसका कुछ परिचय देता हूँ।

ग्राम-साहित्य का वर्गीकरण

पहले, वर्ष दो वर्ष तक तो मैं गीतों ही के पीछे विरही यक्ष के मेघदूत की तरह दौड़ता रहा; पर जैसे-जैसे गीतों के रस-समुद्र की गहराई में उतरता गया, वैसे-वैसे अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र रत्नों को बिखरे हुए पाकर मैं तो चकित हो गया। पहले युवती स्त्रियाँ जब अपने कोकिल-कंठविनिंदक स्वर में गीत गाती थी तब मेरा मन (एक अनगढ़ कवि का मन) उसकी परिधि से बाहर जाता ही न था। उन गीतों में सभी रस थे, इससे रस बदलते रहने से मन को तृप्ति होती ही न थी। पर जब मैंने यह देखा कि पिंगलाचार्य, कबीर, तुलसी, सूर, बिहारी और पद्माकर की सहायता लिए बिना ही गाँव वालों ने जीवन के उपयोगी सभी प्रकार के साहित्य का निर्माण स्वयं

कर लिया है, और उसी में वे मगन रहते हैं, तब मेरी परिधि और बढ़ी और मैंने उनके लिए कई नई-नई झोलियाँ भी लटका लीं। पर उस समुद्र में तो सभी बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष, किसान, मज़दूर, मंगता और गृहस्थ एक-एक कुंड हैं, न सब तक मेरी पहुँच हो सकती थी और न थोड़े समय में एक कुंड के भी रत्न निकल सकते थे। और मुझे तो उतावली लग रही थी, इससे जो कुछ थोड़ा बहुत जहाँ मिला, सबको अलग-अलग झोलियों में डालता गया।

ग्राम- साहित्य का वर्गीकरण मैंने इस तरह किया है:

१ संस्कारों के गीत

२ व्रतों और त्योहारों के गीत

३ ग्राम-गाथाएँ

४ ग्राम-कथाएँ

५ मन्दिरों में गाए जाने वाले पद

६ राह के गीत

७ खेत के गीत-निरवाही

८ भिखमंगों के गीत

९ भिन्न-भिन्न जातियों के जातीय गीत

१० कोल्हू के गीत

११ चक्की (जाँत) के गीत

१२ ऋतुओं के गीत

१३ बच्चों के गीत, खेल और कहानियाँ

१४ गाँव के मनोरंजन के साधन—मेले और तमाशे

१५ गाँव के खेल

१६ गुड़ियों के गीत

१७ ग्राम-संगीत (गीत और नृत्य)

१८ नृत्य और उसके प्रकार

१९ गाँव के बाजे

२० नीति की कहावतें

२१ सामाजिक कहावतें

२२ स्वास्थ्य की कहावतें

२३ खेती की कहावतें

२४ पहेलियाँ (बुझौवल)

२५ नए नए शब्द और मुहावरे

२६ मनुष्य और पशु के रोगों के नुस्खे

२७ पेशेवरों के शब्द

२८ जड़ी बूटियों की पहचान और उपयोग की कहावतें

२९ मुसलमानों के घरों में प्रचलित गीत

३० ग्राम-देवताओं के गीत

ग्राम-गीतों के रचयिता

ग्राम-गीत किसने रचे या कौन उन्हें रचता रहता है, इसका कुछ पता नहीं चलता। यदि ग्राम-गीतों में उनके रचनेवालों ने अपने नाम न देने का लोभ संवरण किया तो यह उनके उपयुक्त ही है। क्योंकि जो ऐसा महत्त्वपूर्ण काम करेगा उसे नाम कमाने की लालसा से ऊपर ही उठे हुए हृदय वाला होना ही चाहिए।

मेरी राय में ग्राम-गीत किसी पुरुष या स्त्री-विशेष की रचना नहीं है, बल्कि स्वयं प्रकृति का गान है। यह गान प्रकृति ने हृदय में बैठकर किया है, इसमें मस्तिष्क का मेल नहीं है। इन गीतों द्वारा एक समाज की सरस्वती बोली है। 'जिस तरह वेद अपौरुषेय माने जाते हैं उसी तरह ग्राम-गीत भी अपौरुषेय हैं।'

नाम

मैंने गीतों का नामकरण ग्राम-गीत शब्द से किया है। क्योंकि गीत तो ग्राम ही की संपत्ति हैं; शहरों में तो वे गए हैं, जन्मे नहीं; फिर गाँवों का यह गौरव उनसे क्यों छीना जाय? शहरों ने तो समाज को सिर्फ़ ग़ज़लें, कविताएँ दी हैं, जो शहर के थोड़े ही से लोगों की समझ में आती हैं। गाँव के लोग तो उनको समझते भी नहीं। पर ग्राम-गीत तो शहरों में भी प्रत्येक संस्कार में, जातीय त्योहारों और सार्वजनिक उत्सवों में गाए जाते हैं। इससे मैं उचित समझता हूँ कि गाँवों की यह यादगार ग्राम-गीत शब्द द्वारा स्थायी हो जाय और गाँवों के प्रति हमारी कृतज्ञता का एक प्रमाण बना रहे।

कुछ संग्रहकर्ता महानुभावों ने इसका नाम लोक-गीत रक्खा है। उनकी राय में वे लोक शब्द से ग्रामीण और शहराती तथा प्रत्येक श्रेणी के लोगों को सम्बोधित करते हैं। पर विचारणीय बात तो यह है कि शहर वालों को मुफ्त में उन गीतों के रचयिता की मान्यता क्यों दी जाय? शहरवालों ने तो अपने मुहावरे और कहावतें भी गाँवों की बोली से ली हैं, जिनका वे

अपनी बोल-चाल और कविताओं में नित्य प्रयोग करते हैं। अतएव मैं फिर भी यही उचित समझता हूँ कि लोक-गीत की अपेक्षा ग्राम-गीत शब्द ही ज्यादा उपयुक्त और न्याय-युक्त है।

ग्राम-साहित्य की उपयोगिता

पुरातत्व के विद्वान् पुराने खंडहरों को खोदकर उनकी ईंटें, पत्थर और मिट्टी की मूर्तियाँ जमा करते हैं और उनसे उनके जीवन-काल का इतिहास पूछते हैं और उनकी भाषा वे ही समझते भी हैं। पर ग्राम-साहित्य तो स्वयं बोलता हुआ इतिहास है, और उस बोली में है जिसे विद्वान् ही नहीं, अपढ़ और अशिक्षित भी समझते हैं। उसकी उपेक्षा की जाय, यह आश्चर्य की बात है।

भारतवर्ष तो गाँवों का देश है, यहाँ की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के चिह्न गाँवों में अभी तक वर्त्तमान हैं। कितनी बातें छूट गई हैं। विद्वज्जन उनकी व्याख्या करके जनता को उसक उपयोगिता बता सकते हैं। जैसे, चमारों के एक गीत की कुछ कड़ियाँ लीजिए :

ऊँची अटारी उरेही चितसारी रे ना।
रामा किन धन पुतरी उरेहा रे ना॥

चमार घर में आता है और अपनी माँ से पूछता है कि ऊँची अटारी पर जो चित्र-शाला है, उसमें आज किस स्त्री ने एक (नया) चित्र बना दिया है?

इससे यह तो आसानी से समझा जा सकता है कि किसी समय हमारे घरों में चित्र-शाला नाम से एक कमरा अलग होता था; और जो नई बहू घर में आती थी, उससे एक चित्र बनवाकर उसकी परीक्षा ली जाती थी कि उसे घर-गिरस्ती की चीज़ों को करीने से रखने या सजाने का शऊर है कि नहीं; क्योंकि चित्रों में इस प्रकार के ज्ञान की बड़ी ज़रूरत पड़ती है। वह पुरानी चित्रशाला तो अब ग़ायब हो गई, उसके बदले 'कोहबर' नाम से उसका वीभत्स रूप अब भी मौजूद है, पर वह विवाह के बाद एक ही दिन घंटे-आध-घंटे के लिए खोला जाता है; और उसमें कन्या का हस्तकौशल दिखलाने के लिए सिन्दूर से कुछ बेढंगे चित्र दीवार पर अंकित कर दिये जाते हैं, और उसकी मूर्ति-निर्माण-कला दिखाने के लिए गीले गोबर की तीन या पाँच पिंडियाँ दीवार पर चिपका दी जाती हैं, और सिन्दूर से उन पर कुछ लकीरें बना दी जाती हैं।

लोग कह सकते हैं कि चमार के घर में चित्रशाला न रही होगी; पर गीत कहता है कि उसके दिमाग में तो थी ही। मस्तिष्क का यह विकास समाज की साधारण ऊँचाई की बात नहीं है।

इसी गीत में चमार अपने छोटे भाई की स्त्री पर, जिसने चित्र बनाया था, आसक्त हो जाता है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि चित्रकला का वह मर्मज्ञ था। उस स्त्री को प्राप्त करने के

लिए चमार अपने छोटे भाई को मार डालता है। तब वह स्त्री अपने मृत पति की लाश मँगवाती है और चन्दन की लकड़ी की चिता बनवाकर जेठ को गाँव में धर्म की आग लाने को भेजती है। वह चला जाता है, तब स्त्री चिता के पास खड़ी होकर कहती है:

> जौं हम होई सतवंती रे ना।
> मोरे अँचरा भभकि उठे अगिया रे ना॥

उसके आँचल में से आग उत्पन्न होती है और वह चिता में बैठ कर जल जाती है। अपने देश में किसी समय चमार की स्त्री को भी अपने सत का गर्व होता था और वह उसे बाज़ी पर लगा देती थी। इस सचाई का पता लग जाने पर क्या उच्च जातियों का गौरव और अधिक नहीं बढ़ जाएगा।

अब धर्म की आग क्या है? इसे भी समझ लेना चाहिए। प्राचीन काल में दियासलाई नहीं थी। गाँव के लोगों को आग के लिए भटकना न पड़े, इसलिए गाँव के बीच में किसी स्थान में, एक चबूतरे पर गड्ढा खोदकर उसमें आग सुरक्षित रखी जाती थी। जो आग लेने आता था, वह कंडे या उपले का एक टुकड़ा उस आग में छोड़ भी जाता था, जिससे आग सदा जीवित रहती थी। होली के दिन उस आग की पूजा करके उस स्थान पर नई आग रख दी जाती थी, इसे धर्म की आग कहते थे। इसी तरह गाँव के चंदे से बनी हुई धर्म की एक कड़ाई भी होती थी, जिसमें खौलते हुए तेल में हाथ डलवाकर सच-झूठ और चरित्र की सचाई जाँची जाती थी।

अब हिंडोले का एक गीत लीजिए:

गाय का दूध दुहकर रक्खा है, उसमें से भाप निकल रही है। यह देखकर पास खड़ी हुई बहन कहती है:

> छोटी मोटी दुहनी दूधे कै,
> बिना रे अगिनि भाप लेइ, बलैया लेउँ बीरन।
> यहि दूध पिअइ बिरन मोरा,
> बिरना लड़इ मुगलवा के साथ, ,, ,, ,,॥

निश्चय ही यह गीत अँग्रेजों के आने से पहले का है, जब मुगल ही बड़े वीर समझे जाते रहे होंगे। बहन अपने छोटे भाई को याद करके कहती है कि यही गरम-गरम दूध पीकर वह मुगल से लोहा लेता है।

अब एक बियाह का गीत सुनिए:

पिता कन्या के लिये वर खोजने निकलता है, तब कन्या अपने जीवनसंगी के चुनाव के बारे में अपने पिता की समझदारी पर विश्वास प्रकट करती है :

बाबा जे चलेन मोर वर हेरन पाट पितम्बर डारी ।
छोट देखि बाबा करबै न करिहैं बड़ा नाहीं नजरि समाय ।।

इतने ही से उसे संतोष नहीं होता, वह बोलकर भी अपने मन की बात पिता को बतला देती है :

अरे अरे बाबा सुघर वर हेरेउ हम बेटी तोहरी दुलारि ।
तीनि लोक माँ हम बढ़ि सुन्दरि हँसी न करायेउ मोरि ।।

पिता चारों ओर वर की खोज करके और उपयुक्त वर न पाकर लौट आता है। वह कहता है कि वर खोजना तो ऊसर में ककड़ी बोने जैसा काम है, जिसका पता ही नहीं होता कि वह तीती होगी या मीठी। वर अच्छा है, या बुरा, इसका भी पता विवाह के बाद ही लगता है। वह कहता है :

उसरा मँ गोढ़ि गोढ़ि कँकरी बोवायउँ ना जानौं तीत कि मीठ ।
देसवा निकरि बेटी तोर वर हेरौं ना जानौं करम तोहार ।।
पूरब हेरेउँ पछुवाँ मैं हेरउँ हेरेउ मैं दिल्ली गुजरात ।
तुमहिं जोग वर कतहुँ न पावा अब बेटी रहहु कुँवारि ।।

इस पर कन्या कहती है:

पूरब हेरेउ पच्छिम हेरेउ हेरेउ दिल्ली गुजरात ।
चारि परग भुइयाँ नगर अजोद्धा दुइ वर अहैं कुँवार ।।

पिता उत्तर देता है:

वै वर माँगैं बेटी घोड़ा औ हाथी माँगैं मोहर पचास ।
वै वर माँगैं बेटी नौलख दायज मोरे बूते देइ न जाइ ।।

इस पर कन्या झुँझलाकर कहती है:

जेकरे न होय बाबा हाथी औ घोड़ा नहिं होय मोहर पचास ।
जेकरे न होय बाबा नौलख रुपिया ते वर हेर हरवाह ।।
खेत जोति आवै कुदार गोढ़ि आवै बइठइ मुँह लटकाय ।
उनहीं क तिलक चढ़ावा मोर बाबा वै वर दयजा न लेय ।।

फिर कन्या समझाकर कहती है:

आसन देखि बाबा डासन दीहा मुख देखि दीहा बीरापान।
अपनी संपति देखि दाइज दीहा वर देखि दीहा कन्यादान॥

क्या यह गीत इस बात का प्रमाण नहीं है कि गीतों की दुनिया में कन्याओं का विवाह उनके पूर्ण वयस्क हो जाने पर किया जाता था। जब वे अपने लिये वर कैसा हो, इसकी सलाह पिता को दे सकती थीं!

इसी प्रकार विवाह के पहले ही गीत में विवाह की एक ऐसी प्रथा का वर्णन मिलता है, जो अब बिल्कुल लुप्त हो गई है। उसकी प्रारम्भ की कुछ कड़ियाँ ये हैं:

कौन की ऊँची अँटरिया सुरुज मुख छाई।
किन घर कन्या कुँवारी त दुलहो चाहिए॥
भितराँ से निकसीं मइया थार भरि मोती लिहे।
मोरे घर कन्या कुँवारी त दुलहो चाहिए॥

विवाह-प्रथा के क्रम-विकास के इतिहास में यह गीत किसी ज़माने की उस प्रथा की याद दिलायेगा, जब वर युवावस्था प्राप्त होने पर स्वयं गाँव-गाँव घूम कर और यह पुकारता हुआ कि 'किस को दूल्हा चाहिए' अपनी जीवन-संगिनी को खोज निकालता था। यह प्रथा किसी कारण से लुप्त हो गई, तब कन्या स्वयं वर खोजने को निकली, जैसा सावित्री ने किया था। यह प्रथा भी लुप्त हुई तो पिता और कन्या दोनों मिलकर, स्वयम्वर रचकर, वर का चुनाव करने लगे। इसमें भी दंगा-फसाद का दोष आया तो पिता ने कन्या का कुल अधिकार ही छीन लिया, जैसा अब है।

इस प्रकार विद्वज्जन गीतों का सूक्ष्म अध्ययन करके अति प्राचीन हिन्दू जाति में प्रचलित कितनी ही प्रथाओं, भावनाओं और अनुभवों को प्रकाश में ला सकते हैं।

हिन्दुओं के उच्च वर्णों और जंगली जातियों के धार्मिक विश्वास, सामाजिक और घरेलू प्रथा, पारिवारिक विशेषताएँ, गर्भाधान, जन्म, विवाह तथा श्राद्ध आदि संस्कार, पर्व, त्योहार, सार्वजनिक उत्सव तथा खानपान, रहन-सहन, वेश-भूषा, शकुन-अपशकुन, लोरियाँ, दंतकथा, कहावतें, मुहावरे, पहेलियाँ, झाड़-फूँक, जादू-टोना, ग्रामदेवता, कुलदेवता, जंतर-मंतर, तावीज, कुदृष्टि या नज़र, संतों और उनके उपदेशों का प्रभाव आदि सैकड़ों विषय ऐसे हैं, जिनकी जानकारी हमारे लिये लाभदायक हो सकती है।

ज्ञान-प्रसार के साधन

गीत, भजन, कहावतें और पहेलियाँ गाँवों में ज्ञान-प्रसार के मुख्य साधन हैं। गाँववालों ने अपने अनुभवों को छंदों की छोटी-छोटी डिबियों में ढाल लिया है, जिन्हें वे कंठ में रक्खे रहते हैं

और कंठ से कंठ को पहुँचाते रहते हैं; उनको न अक्षरों में लिख रखने की ज़रूरत होती है, न पुस्तकाकार छपाने की। अनुभवों को छन्दों के साँचे में कौन ढाल देता है, इसका पता नहीं चलता। यह संसार की अद्भुत घटनाओं में एक घटना कही जायगी।

पहेलियों की रचना उनकी बुद्धि का एक विलक्षण चमत्कार है। न वे पाजामा पहनते हैं, न वह नित्य उन्हें देखने ही को मिलता है। पर किसी दिन किसी को पहने हुए देखकर उनके मुँह से आप से आप निकल पड़ा :

दुइ मुँह छोट एक मुँह बड़ा।
आधा मनई लीले खड़ा॥

कैसी विचित्र सूझ है। यह सूझ तो शहरवालों को होनी चाहिए, जो रोज़ अगर पहनते नहीं, तो देखते ज़रूर हैं, पर उनकी बुद्धि में कभी कौतूहल आया ही नहीं।

ग्राम-गीतों में कविता

मैं भी कभी कवि था, और उस समय था, जब जानता ही न था कि कवि किसे कहते हैं। अब थोड़ा-बहुत जानने लगा हूँ, तब कवि' शब्द मुझे पहाड़-ऐसा भारी लगने लगा है, जिसका बोझ मैं उठा नहीं सकता, और अपना यह रहस्य मुझे ग्राम-गीतों के परिचय के बाद ही मालूम हुआ है।

ग्राम-गीत तो हृदय की अनुभूतियों के शब्द-चित्र हैं। वे सीधे हृदय से निकलते हैं। मस्तिष्क का उतना ही हाथ है, जितना किसी घर को सजाने में मज़दूर का होता है। कविता में मस्तिष्क हृदय का मज़दूर है। महाकवि मस्तिष्क का चाहे जैसा खेल दिखाए, पर वे वहीं प्रशंसा पाते हैं, जहाँ हृदय की गहराई में बैठकर कुछ कहते हैं, ग्राम-गीतों में मस्तिष्क का खेल बिल्कुल नहीं है, न छन्द है, न तुक है न मात्राओं की गिनती है। हृदय में जो भाव उत्पन्न हुए, वे आपसे आप शब्द बनकर निकल आए हैं।

मुझे जो पहला गीत सुलतानपुर ज़िले में मिला था, उसे सुनकर मैं तो अवाक् रह गया था। हृदय की बारीक से बारीक नस को कौन छूता है और मस्तिष्क की सहायता बिना कैसे छूता है, इसका उत्तर तो मैं आज तक नहीं दे पाया हूँ। वह गीत यह है:

छापक पेड़ छिउलिया त पतवन गहवर।
रामा तेहितर ठाढ़ि हरिनिया हरिन क बिसूरइ॥
चरते चरत हरिनवा हरिनिया से पूछइ।
रानी, की तोर चरहा भुरान कि पानी बिनु मुरझिउ॥

नाहीं मोर चरहा झुरान न पानी बिनु मुरझिउँ ।
हरिना, आजु राजाजी के छट्ठी तोहैं मारि डरिहैं ॥

पुत्र जन्म के छठे दिन के उत्सव में हरिन मार डाला गया, तब :

मचियै बइठी कोसिल्ला रानी हरिनी अरज करइ ।
रानी मसुवा तो सिझहि रसोइयाँ खलरिया हमैं देतिउ ॥
डरिया से टँगवै खलरियो त हेरि फेरि देखब ।
रानी, फिरि फिरि मन समुझाउब जनुक हरिना जीतइ ॥

कौशल्या रानी ने उत्तर दिया:

जाहु हरिनि घर अपने खलरिया नाहीं देवइ ।
हरिनी, खलरी क खँजड़ी मढ़ौबै त रामा मोर खेलिहैं ॥

अब जंगल में क्या दृश्य उपस्थित हुआ :

जब जब बाजइ खँजड़िया सबद सुनि अनकइ ।
हरिनी ठाढ़ि ढकुलिया के नीचे हरिन क बिसूरइ ॥

हरिनी को अपने पति की खाल से निकले हुए शब्द से भी प्रेम हो गया था। कैसा अद्‌भुत वर्णन है। करुण-रस का ऐसा अजस्र प्रवाह तो मुझे किसी कवि की कविता में नहीं मिला। जिस देवी के मुख से यह गीत निकला है, उसको पत्नी के हृदय का कितना सूक्ष्म ज्ञान था, यह गीत की एक-एक कड़ी से झलक रहा है।

स्थानाभाव से मैं गीतों में कविता के अधिक उदाहरण नहीं दे सकता। अन्त में यही कहकर समाप्त करता हूँ कि ग्राम-साहित्य हिन्दू-समाज की अमूल्य निधि है, इसकी रक्षा होनी चाहिए और इसके द्वारा समाज को फिर उसकी पूर्वावस्था में ले आना चाहिए।

हिन्दी में समालोचना का विकास

विनयमोहन शर्मा

समालोचना के दो अंग होते हैं—एक शास्त्र और दूसरा परीक्षण। शास्त्र में श्रेष्ठ साहित्य के लक्षणों का विवेचन होता है। परीक्षण में साहित्य की, शास्त्र के अनुसार या अन्य प्रकार से, नाप-तौल होती है। शास्त्रीय समीक्षा में आलोचक तटस्थ हो कर वैज्ञानिक की भाँति शास्त्र-नियमों की तुला पर साहित्य को तौलता है। दूसरे प्रकार की आलोचना में वह आलोच्य साहित्य से तटस्थ नहीं रहता, उसके साथ अपनी रुचि-अरुचि का भी मेल करता जाता है। इस तरह अशास्त्रीय परीक्षण के विभिन्न रूपों में प्रभाववादी, सौंदर्यवादी, प्रशंसावादी और मार्क्सवादी रूप मुख्य हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी समीक्षा का प्रारम्भ सत्रहवीं शताब्दी से माना जा सकता है। यद्यपि साहित्य की रचना, राहुल जी के अनुसार, आठवीं शताब्दी में प्रारम्भ हो गयी थी, फिर भी उस समय साहित्य-शास्त्र-ग्रन्थों का अस्तित्व था या नहीं, इसका हमें कोई ज्ञान नहीं। आठवीं शताब्दी में सिद्धों ने लोक-भाषा में अपने उपदेश व्यक्त करने का उपक्रम कर दिया था। उस समय लोक-भाषा सम्भवतः अपभ्रंश ही रही होगी। सिद्धों की भाषा में पूर्वी हिन्दी (बिहारी) और बंगला के बीज अधिक पाये जाते हैं। उसी प्रान्त की जनता में सिद्धों की वाणी अधिक मुखरित भी हुई। संस्कृत में साहित्य-शास्त्र-ग्रन्थों की कमी नहीं रही। हो सकता है, उन्हीं से प्रेरणा लेकर सिद्ध-साहित्य की रचना हुई हो, यद्यपि साहित्य की सृष्टि शास्त्र-सापेक्ष नहीं है। विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में जैन मुनि नयनंद का 'सुदर्शन चरित' नामक अपभ्रंश काव्य मिलता है, जिसमें नायिका-भेद, नख-शिख, रतिश्रृंगार आदि के वर्णन विद्यमान् हैं।

चदवरदाई की 'पृथ्वीराज रासो' वीरगाथा-काल की प्रथम गुरुतर कृति कही जाती है। उसके उपलब्ध होते ही, 'एशियाटिक सोसाइटी' ने उसका प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया था। पर जब उसके प्रामाणिक होने में संदेह किया जाने लगा, तो 'सोसाइटी' ने उसका प्रकाशन स्थगित कर दिया। इस महान् ग्रंथ को सबसे पहले उदयपुर के महामहोपाध्याय कविराज श्यामलदास ने 'एशियाटिक सोसाइटी' की पत्रिका में एक लेख लिख कर, अप्रामाणिक और जाली सिद्ध करना चाहा। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इसकी रचना महाभारत के समान समय-समय पर होती रही, इसलिए इसकी भाषा में एकरूपता नहीं है। वीरगाथा-काल में 'पृथ्वीराज रासो' के अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। विद्यापति और खुसरो भी इसी काल में हुए। खुसरो ने तो पहेलियों और मुकरियों में ठेठ खड़ी बोली का प्रयोग किया। इतनी साहित्य-सृष्टि हो जाने पर भी इस काल में लक्षण-ग्रन्थ का न पाया जाना कम आश्चर्य की बात नहीं है। हमारा अनुमान है कि इस काल के उत्कृष्ट लोक-भाषा-कवि

संस्कृत के भी पंडित होते थे। इसलिए संस्कृत काव्यानुशीलन से वे काव्यरीति से परिचित हो जाया करते थे। 'शिवसिंह सरोज' में हिन्दी के प्रथम कवि पुष्य का उल्लेख मिलता है। इस कवि के विषय में कहा जाता है कि इसने दोहों में संस्कृत के अलंकारों का अनुवाद किया। पर यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

विक्रम संवत् १५६८ में कृपाराम ने 'हिततरंगिनी' की रचना की, जिसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है :

हिततरंगिनी हौं रची, कवि-हित परम प्रकासु।

यह ग्रन्थ पाँच तरंगों में प्रवाहित है और भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर आधारित है। इसे नायिका-भेद का ग्रन्थ कहा जाना चाहिए। इसमें नायिकाओं के दस भेद बतलाए गये हैं—भरत से दो भेद अधिक। डा० 'रसाल' ने अपने 'अलंकार-पीयूष' में इसका उल्लेख तो किया है, पर उसे हिन्दी की कृति मानने में संदेह प्रकट किया है। 'हिततरंगिनी' अब प्राप्य है और उसकी भाषा हिन्दी ही है। कृपाराम हिन्दी के प्रथम आचार्य कहे जा सकते हैं।

विक्रम संवत् १६१६ में मोहनलाल मिश्र का 'श्रृंगार-सागर' रस और नायिका-भेद सम्बन्धी कृति है।

सूरदास के समकालीन अष्टछाप के उत्कृष्ट कवि नन्ददास ने संस्कृत ग्रन्थ के आधार पर 'रसमंजरी' की रचना की है। स्वयं सूरदास ने अपने ढंग से नायिका-भेद लिखा है। नन्दलाल के उक्त ग्रन्थ में नायिकाओं के भेद वर्णित हैं। नायिकाओं में मुग्धा नवोढा, विश्रब्ध नवोढा, अज्ञात-यौवना, ज्ञातयौवना, मध्या प्रौढा, मध्या धीरा, मध्या धीराधीरा, प्रौढा के भेद, परकीया के भेद, प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहान्तरिता, उत्कंठिता, विप्रलब्धा, वासकसज्जा, अभिसारिका आदि के भेद वर्णन के पश्चात नायक-भेद भी दिये गये हैं। नायकों में धृष्ट, शठ, दक्षिण और अनुकूल के भेद बताये गये हैं। साथ ही भाव, हाव, हेला और रति की भी चर्चा की गयी है। यह युग भक्ति-काल का था। अतः चोटी के काव्य ग्रन्थों के साथ-साथ कुछ कवियों ने लक्षण-ग्रन्थों की रचना करने का भी प्रयास किया। नन्ददास के अलावा कुछ अन्य कवियों ने भी अलंकारों के दो-चार ग्रन्थ लिखे। इस काल में सबसे समर्थ साहित्य-शास्त्र के आचार्य केशवदास हुए। केशवदास की गणना कवियों में होनी चाहिये या आचार्यों में, यह प्रश्न हिन्दी के साहित्य-समालोचकों के सम्मुख वर्षों से उपस्थित है। पर जनता में केशव, सूर, तुलसी के बाद ही याद किये जाते हैं—'सूर सूर तुलसी शशी, उडगण केशवदास।' केशव निस्संदेह संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। उन्होंने संस्कृत के अलंकारशास्त्रियों—भामह, दंडी, उद्भट आदि को अपना आदर्श मान कर अपने दो प्रसिद्ध ग्रन्थ—'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' लिखे। केशव ने इन ग्रन्थों में भाषा, कवि-प्रकार, कविता का रूप और उद्देश्य, काव्य के विषय, वस्तु-वर्णन के भेद, दोष, अलंकार, रस, वृत्ति आदि पर प्रकाश डाला। यद्यपि केशव ने संस्कृत के आचार्यों के आधार पर ही अपने शास्त्र-ग्रन्थों की रचना की है, फिर भी यहाँ वहाँ अपनी

ओर से भी कुछ जोड़ दिया है। उदाहरणार्थ आचार्य दंडी के दोषों के साथ अपने भी स्वचिंतित पाँच दोष जोड़ दिये हैं। केशव अलंकारवादी होने के कारण काव्यों में अलंकारों के प्रति अधिक आग्रह प्रदर्शित करते हैं—'भूषण बिन न बिराजियै कविता, बनिता मित्त।' केशव के ग्रन्थों ने यद्यपि रीति-परम्परा हिन्दी में नहीं चलायी, तो भी कवियों में रीति-ग्रन्थों के अध्ययन का चाव अवश्य पैदा किया।

रीति-ग्रन्थों की रचना अब तक काफ़ी हो चुकी थी, जिनके आधार पर प्रायः साहित्य भी लिखा जाता था। परन्तु साहित्य के परीक्षण-ग्रन्थ नहीं प्राप्त होते। कुछ कवि-ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखने का क्रम प्रारम्भ हो गया था और जनता में कवियों पर तरह-तरह की उक्तियाँ भी प्रचलित थीं। उदाहरणार्थ :

(१) उत्तम पद कवि गंग के, उपमा को बरबीर,
केशव अरथ गंभीरता, सूर तीन गुन धीर।

यह उक्ति संस्कृत की इस उक्ति के आधार पर गढ़ी हुई जान पड़ती है:

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दंडिनः पदलालित्य माघे संति त्रयो गुणाः॥

(२) कविता करिता तीन हैं, तुलसी केशव सूर,
कविता खेती तीन लुनी, लीला विनय मजूर।

(३) किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर,
किधौं सूर को पद लग्यो, तन-मन धुनत सरीर।

(४) तत्त्व तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी,
बची-खुची कबिरा कही, और कही सब झूठी।

परीक्षण-ग्रन्थ न लिखने का एक कारण यह भी है कि उस समय गद्य का विशेष प्रचार नहीं हो पाया था। कवि और आचार्य अपना समय और शक्ति पर-निन्दा-स्तुति की अपेक्षा स्वकीर्ति-विकीर्णक काव्य-ग्रन्थों में अधिक खर्च करते थे।

केशवदास के पश्चात् आलोचना की रीति-परम्परा को अग्रसर करने वाले आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी का स्थान सर्वोच्च है। केशवदास की रीति-परम्परा नहीं चली, परन्तु चिन्तामणि त्रिपाठी अपने समय के और परवर्ती कवियों के मार्ग-दर्शक बने रहे। चिन्तामणि का समय विक्रमी अठारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। मध्यप्रदेश के नागपुर स्थित भोंसला राजा मकरन्दशाह के

ये दरबारी कवि थे । मकरन्दशाह की आज्ञा से इन्होंने अपना पिंगल-ग्रन्थ रचा । इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं :

चिन्तामणि कवि क /हुकुम कियो शाह मकरन्द
करौं लच्छ लच्छन सहित भाषा पिंगल छन्द

इनके 'काव्य विवेक', 'कवि-कुल-कल्पतरु', 'काव्य-प्रकाश', 'पिंगल रामायण' और 'रसमंजरी' नामक ग्रन्थों की चर्चा इतिहास-ग्रन्थों में मिलती है । ये ग्रन्थ बाज़ार में उपलब्ध नहीं हैं । डा० भगीरथ मिश्र ने अपने हिन्दी काव्य-शास्त्र के इतिहास में राजपुस्तकालयों में पांडुलिपियों के रूप में प्राप्त इनके और रीतिकालीन तथा अन्य कवियों के कतिपय ग्रन्थों का परिचय दिया है । चिन्तामणि के 'कवि-कुल-कल्पतरु' ग्रन्थ में समस्त काव्यांगों का वर्णन है, जिनमें काव्य-गुण, अलंकार दोष, शब्द-शक्ति आदि प्रमुख विषय संस्कृत ग्रन्थों, विशेषकर 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' के आधार पर दिये गये हैं । चिन्तामणि ने स्पष्ट कहा है :

जो सुरबानी ग्रन्थ है, तिनको सम्यक् विचार
चिंतामणि कवि कहत है, भाषा कवित्त विकार

विश्वनाथ की काव्य की व्याख्या 'वाक्य रसात्मकं काव्यं' चलती हुई भाषा में प्रस्तुत की गयी है:

'बतकहाउ रस में जु है कवित्त कहावे सोय'

चिन्तामणि छन्दोबद्ध रचना को आनन्द की वस्तु समझते हैं :

'भाषा छन्द निबन्ध सुनि सुकवि होत आनन्द'

मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' की काव्य-परिभाषा, 'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' का अनुवाद इस प्रकार दिया गया है:

'सगुन अलंकार सहित, दोष-रहित जो होइ,
शब्द, अर्थ बारो कवित, विबुध कहत सब कोइ ।'

'काव्य-प्रकाश के रचयिता बिना अलंकार की कविता को भी काव्य मानने को तत्पर हैं, पर चिंतामणि अलंकारसहित कविता को ही काव्य मानते हैं । चिंतामणि ने काव्य-गुणों का भी विशद वर्णन किया है । इसका आधार भी 'काव्य प्रकाश' ही है । इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में अलंकार (शब्दालंकार), वृत्ति और रीति का वर्णन है । इसके बाद के अध्यायों में उपयुक्त उदाहरणों के सहित अर्थालंकार-दोष, नायिका-भेद, हाव-भाव तथा रस के वर्णन हैं । इस ग्रन्थ में यद्यपि मौलिकता कम है, तथापि काव्यांगों का विवेचन स्पष्ट है । चिंतामणि का दूसरा ग्रन्थ 'शृंगार-मंजरी' है, जिसमें नायिका-भेद वर्णित है । विषय स्पष्ट करने के लिए ब्रजभाषा गद्य भी प्रयुक्त है । संस्कृत के आचार्य भानुदत्त की 'रस-मंजरी इसका आधार है । रसों में शृंगार रस का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है । चिंतामणि के ग्रन्थों का रचना-काल सत्रहवीं शताब्दी का अन्त और अठारहवीं का प्रारम्भ माना जाना चाहिए । चिंतामणि के पश्चात् तोष कवि का रस-विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थ

'सुधा-निधि' लिखा गया। इस ग्रन्थ में नौ रसों, भावों, भावोदय, भावशांति, भाव सबलता, रसाभास, रस-दोष और नायिका-भेद का वर्णन है।

रीति-काल में महाराज जसवतसिंह का 'भाषा-भूषण' बड़ा प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ है। ये जोधपुर के महाराजा थे। 'भाषा-भूषण' में अलंकारों के लक्षण सुन्दर उदाहरणों के साथ दिये गए हैं। १०८ अलंकारों का वर्णन इन्होंने किया है। अलंकारों के अतिरिक्त रस, नायक और नायिका-भेद का भी विशद वर्णन है। इसका आधार जयदेव कृत संस्कृत 'चन्द्रालोक' है। महाराज जसवंतसिंह के पश्चात् मतिराम का कृतित्व उल्लेखनीय है। आचार्य के अतिरिक्त मतिराम की गणना रीतिकाल के प्रसिद्ध कवियों में की जाती है। जिस प्रकार आधुनिक कवित्रय प्रसाद-पंत-निराला प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार रीतिकाल के देव-बिहारी-मतिराम की कवित्रयी प्रसिद्ध है। वास्तव में ये आचार्य नहीं, सच्चे कवि हैं। परन्तु युग-परम्परा के अनुसार इन्होंने भी लक्षण ग्रन्थ लिखे। मतिराम का समय सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। 'रसराज' और 'ललित ललाम' इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। 'ललित ललाम' की रचना संवत् १७१६ और १७४५ के बीच हुई जान पड़ती है। 'रसराज' इसके बाद का ग्रन्थ है। 'ललित ललाम' में काव्य-सिद्धांत और लगभग १०० अलंकार तथा उनके भेदों का वर्णन है। मतिराम के अलंकार-लक्षण अधूरे और दोष-पूर्ण हैं। मतिराम ने लक्षणों के उदाहरणों में अपनी काव्य-प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। 'रसराज में शृंगार रस का विवेचन है। नायिका-भेद भी दिये गये हैं। मतिराम ने भाव की परिभाषा में अपनी ओर से थोड़ा विस्तार कर दिया है:

'लोचन वचन प्रसाद मृदु, हास वास धृत मोद,
इससे परगट जानिए, बरनत कवि विसुनोद।'

इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने नेत्र, मुख, वचन से ही मन का भाव प्रकट करना निरूपित किया था। मतिराम हास, वास, मोद तक बढ़ गए हैं। 'रसराज' में भी मतिराम का शास्त्रीय विवेचन गहन नहीं है। वे अपने ज्येष्ठ बन्धु चिन्तामणि के समान श्रेष्ठ आचार्य नहीं थे। चिन्तामणि के तीसरे भाई भूषण का नाम भी अलंकारिकों में गिना जाता है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिवराज-भूषण' है, अन्य ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं। इस ग्रन्थ में १०० अर्थालंकारों का वर्णन है और पाँच शब्दालंकारों का भी उल्लेख है। अपने भाई मतिराम के समान इनका भी ध्यान लक्षण-विवेचन की ओर कम और उदाहरणों की ओर अधिक है। आचार्यत्व की दृष्टि से भूषण का भी विशेष महत्त्व नहीं है। वे अपने युग के स्पृहणीय राष्ट्रीय कवि थे, जिनकी ओजस्वी वाणी अपने समय में निराली ही हुंकार भरती थी। भूषण के बाद कुलपति मिश्र के 'रस रहस्य' और 'गुण रस-रहस्य' का लक्षण ग्रन्थों में अच्छा स्थान है। 'रस-रहस्य' 'काव्य-प्रकाश' पर आधारित है। बीच-बीच में उन्होंने अपना मत भी व्यक्त किया है। टिप्पणी में भी गद्य-रूप में अपना मन्तव्य प्रकट किया है। यद्यपि उनके ग्रन्थों में मौलिकता नहीं है, फिर भी उनके विवेचन का ढंग मतिराम और भूषण से अच्छा है। कुलपति के बाद सुखदेव मिश्र का उल्लेख मिलता है। इनके छह ग्रन्थ हैं—'वृत्त-विचार', 'छन्द-विचार', 'रसार्णव', शृंगार-लता', 'पिंगल' और 'फ़ाज़िलअली-प्रकाश'। यह अन्तिम ग्रन्थ औरंगज़ेब के

मन्त्री फाज़िलअली की प्रशंसा में है, जिसमें रसों और छन्दों की चर्चा की गयी है। पहिले दो ग्रन्थ 'पिंगल' छन्दशास्त्र का निरूपण करते हैं। 'रसार्णव' में रस-विवेचन है। आचार्यत्व की दृष्टि से इनका महत्त्व छन्द,शास्त्र विवेचन के कारण है। सुखदेव मिश्र के बाद आचार्य देव का नाम आता है। ये हिन्दी के अत्यन्त प्रसिद्ध कवि हैं। रीतिकालीन कवियों में देव के प्रतिस्पर्धी बिहारी माने जाते हैं। द्विवेदी-युग में देव और बिहारी को ले कर मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन आदि में काफ़ी विवाद चलता रहा। मिश्रबन्धु देव को बिहारी से श्रेष्ठ प्रतिपादित करते रहे और पद्मसिंह शर्मा तथा लाला भगवानदीन बिहारी के सिर पर श्रेष्ठता का सेहरा बाँधते रहे।

देव का रचना-काल सम्वत् १७४६ और १७६० के बीच का समय माना जा सकता है। उनके ग्रन्थों की संख्या ७० से ऊपर है, जिनमें बहुत-से काव्य-ग्रन्थ हैं। 'काव्य-रसायन', भाव-विलास', 'रसविलास', 'सुजानविनोद' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। रस और नायिका-भेद की चर्चा उन्होंने अधिक की है। शब्द-शक्ति, वृत्ति, अलंकार आदि विषय भी अछूते नहीं रहे। देव ने अलंकारों की संख्या केवल ३६ रखी है। देव का अलंकारों पर विशेष आग्रह नहीं था। वे रसवादी प्रतीत होते हैं। देव नवरसों को नहीं मानते। वे शृंगार को ही मूल रस की उपाधि देते हैं। अपने 'भाव-विलास' में वे कहते हैं:

'कहत नवरस सुकवि सकल मूल शृंगार'

देव अन्य आचार्यों के समान सात्विक और संचारी भावों में भेद नहीं करते। वे उन्हें एक ही मानते हैं—सात्विक संचारी शरीर पर दिखाई देते हैं, अन्य संचारी मानसिक हैं। देव ने शृंगार का विवेचन और आचार्यों की अपेक्षा वैज्ञानिक ढंग से किया है। इन्होंने नायिका-भेद का जितना अच्छा निरूपण किया है, उतना रीतिकालीन किसी कवि ने नहीं किया। उन्होंने नायिका-भेद का जाति, गुण, कर्म, देश, काल, वय, प्रकृति तथा सत्त्व के हिसाब से वर्गीकरण किया है। अन्य आचार्यों ने नायिका का वय के अनुसार विभाजन तो किया है, पर कितनी आयु तक मुग्धा होती है, कितनी आयु तक मध्या और कितनी आयु तक प्रौढ़ा रहती है, इसका निर्देश नहीं किया। कर्मानुसार इन्होंने नायिका के स्वकीया, परकीया और गणिका भेद किये हैं। परकीया पर उनकी यह पंक्ति बहुत प्रसिद्ध है—'भूले हू न जोग बड़ी विपति वियोग व्यथा, जोगहू सों कठिन संजोग परनारी को' देव के समय में लक्षण-ग्रन्थों की इतनी अधिक परिपाटी चल पड़ी थी कि कोई भी कवि बिना लक्षण-ग्रन्थ के कविता लिखता ही न था। राजदरबार में उसका सम्मान भी इसी पर निर्भर था। श्री प्रभुदयाल मीतल ने यह ठीक ही लिखा है, 'वि० सं० १७७५ से १८५५ तक का ५० वर्षों का समय रीति-साहित्य का सर्व-श्रेष्ठ तथा गौरवपूर्ण काल कहा जा सकता है।'

देव के पश्चात् कालिदास त्रिवेदी, सुरति मिश्र, कृष्ण भट्ट, गोप, श्रीपति, रसिक सुमति,रसलीन सोमनाथ, आदि ने भी रीति-ग्रन्थों की रचना की। सुरति मिश्र मन को प्रसन्न करने वाले वर्णन को काव्य कहते हैं—'वर्णन मन रंजन जहाँ, रीति अलौकिक होय।' ये अभिव्यंजना को महत्त्व देते हैं। नैसर्गिक प्रतिभा, शास्त्र-ज्ञान और अभ्यास को कविता-निर्णय का कारण बताते हैं। सुरति मिश्र ने काव्य के अन्य अंगों का भी विशद वर्णन किया है। श्रीपति रीतिकालीन काव्य के शास्त्रियों में

महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 'काव्य-सरोज' उनका प्रमुख ग्रन्थ है, जो 'काव्य-प्रकाश' पर आधारित है। इसमें दोषों का जो वर्णन है, वह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उसमें हिन्दी के कवियों की रचनाओं से दोष संकलित किये गये हैं, विशेष कर केशव की रचनाओं से। सोमनाथ का 'रसपीयूष-निधि' (रचना-काल संवत् १७०४ वि०) प्रसिद्ध ग्रन्थ है। आचार्य शुक्लजी के कथनानुसार सोमनाथ के 'इस ग्रन्थ में विषय को स्पष्ट करने की प्रणाली बहुत अच्छी है। वे दोष-हीनता, अर्थालंकारिता तथा गुण को ही काव्य के लिए आवश्यक नहीं मानते, उनमें छन्दो-बद्धता की भी आवश्यकता अनुभव करते हैं।' मम्मट के समान ही ये कविता का उद्देश्य यश, धन, लोक-मंगल और आनन्द की प्राप्ति मानते हैं। व्यंग्य को भी काव्य की आत्मा मानते हैं।

आचार्य भिखारीदास को मिश्रबन्धुओं ने महत्त्व दिया है। इनका 'काव्य-निर्णय' प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें काव्य-शास्त्र के सभी उपकरणों की विवेचना है। यह संस्कृत 'काव्य-प्रकाश' और 'चन्द्रालोक' पर आधारित है। इसमें ध्वनि-सिद्धान्त की स्पष्ट मीमांसा है। वे सम्भवतः ध्वनि को काव्य का प्राण मानते हैं। इन्होंने काव्य-पक्ष पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है, जिसकी अन्य आचार्यों ने उपेक्षा कर दी है। वे ब्रजभाषा को काव्य-भाषा मानते हुए भी संस्कृत और फ़ारसी शब्दों का स्वागत करते हैं। अलंकारों के सामान्य आधार पर उनके वर्ग निर्मित करना भिखारीदास की ही सूझ है। यों भिखारीदास के लक्षण-वर्णन संस्कृत ग्रन्थों पर ही आधारित हैं, पर गद्य-काव्य-भाषा, अलंकार-वर्गीकरण, तुक-निर्णय आदि पर उन्होंने मौलिक रूप में भी विचार किया है, जिनका प्रभाव आधुनिक काल के पिंगलाचार्य भानु पर भी पड़ा है। दूलह का 'कविकुल-कंठाभरण' प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें ११७ अलंकारों का विशद वर्णन है। ८१ छन्दों में ही इन्होंने इन अलंकारों को बड़ी खूबी के साथ निरूपित कर दिया है। रीतिकाल के प्रसिद्ध और अन्तिम आचार्य पद्माकर हैं। ये मध्य प्रदेश के थे। इनका जन्म संवत् १८१० और मृत्यु संवत् १८९० है। ये ८० वर्ष की आयु भोग कर स्वर्गवासी हुए। इनका भाषा पर अच्छा अधिकार था। इन्होंने शब्दों को इस तरह ठोक-पीट कर गढ़ा है कि वे कहीं भी फिट हो जाते हैं। भिखारीदास के समान वे भी फारसी-संस्कृत का सुन्दर मेल करने में प्रवीण थे। 'जगद्विनोद' पर आचार्य शुक्ल की सम्मति है, 'मतिराम के 'रसराज' के समान पद्माकर का 'जगद्विनोद' भी काव्य-रसिकों और कवियों, दोनों का कंठहार रहा है। वास्तव में यह शृङ्गार-रस का सार-ग्रन्थ प्रतीत होता है। इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भाव-पूर्ण मूर्ति-विधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है। ऐसा सजीव मूर्ति-विधान करने वाली कल्पना बिहारी को छोड़ कर और किसी कवि में नहीं पायी जाती। ऐसी कल्पना के बिना भावुकता कुछ भी नहीं कर सकती। या तो वह भीतर ही भीतर लीन हो जाती है या असमर्थ पदावली के बीच व्यर्थ फड़फड़ाया करती है। कल्पना और वाणी के साथ जिस भावुकता का संयोग होता है, वही उत्कृष्ट काव्य के रूप में विकसित हो सकती है।'

रीतिकाल के बीत जाने पर अधुनिक युग में गद्य के प्रवेश के साथ-साथ आलोचना की विधि का भी परिष्कार हुआ। हरिश्चन्द्रकालीन कवि रीतिकाल के प्रभाव से मुक्त नहीं थे। इसलिए

लक्षण-ग्रंथों की परम्परा को सर्वथा भुला नहीं सके। पर हरिश्चन्द्र ने नाटक के उपकरणों की गद्य में जो चर्चा की, उसका आधार संस्कृत नाट्यशास्त्र ही था। उनके समसामयिक कवियों--लेखकों ने आलोचना के परीक्षण-अंग पर भी ध्यान दिया। उन्होंने अपने समय की कृतियों के गुण-दोष की रीति-दृष्टि से समीक्षा की। पण्डित बद्रीनारायण चौधरी ने 'आनन्द-कादम्बिनी' पत्रिका में 'संयोगिता-स्वयंवर' की विस्तृत आलोचना की। सम्वत् १९५६ में जब 'सरस्वती' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, तो साहित्य-समीक्षा की ओर लेखकों का विशेष ध्यान गया। लेखकों की कृतियों पर आलोचनाएँ-प्रत्यालोचनाएँ बराबर छपने लगीं। द्विवेदी जी के समय में आलोचना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान लिख कर तुलनात्मक समीक्षा की नींव डाली। उनकी आलोचना बड़ी चुटीली, साथ ही सहृदयतापूर्ण होती थी, पर उन्हीं के समकालीन आलोचकों में विशेषकर बाबू श्यामसुन्दर दास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी कवियों की 'घटिया-बढ़िया बतलाने वाली' शैली को तनिक भी पसन्द नहीं किया। पर इससे उनका आलोचना क्षेत्र में महत्त्व कम नहीं हुआ। हाँ, यह बात अवश्य है कि श्रम-साध्य कर्म होने से उसका अधिक अनुकरण नहीं हुआ। द्विवेदी-युग में काव्य ही नहीं साहित्य के सभी अंगों पर समालोचना होने लगी। प्रत्येक साप्ताहिक अथवा मासिक पत्र समालोचना के स्तम्भ से विभूषित रहने लगा। उसमें पुस्तकों की ही नहीं. देशी रूमाल, अमृत-धारा, पाचक-वटिका और इत्र की शीशियों तक की आलोचनाएँ छपने लगीं। ऐसी समीक्षाएँ अधिकांश में बिक्री के लिए होती थीं। सम्पादक प्रत्येक विषय का आचार्य नहीं होता। अतः उससे यह आशा भी नहीं की जा सकती कि वह प्रत्येक विषय के प्रकाशित ग्रन्थ पर सम्मति दे सकता है। 'माधुरी' के प्रकाशन के बाद से सम्पादकों में प्रकाशकों से प्रत्येक पुस्तक की दो-दो प्रतियाँ माँगने की प्रवृत्ति जागृत हुई। एक प्रति अपने लिए और दूसरी विशेषज्ञ के लिए। पर क्या विशेषज्ञ भी निरपेक्ष आलोचना कर पाता है! सम्पादक से पुस्तक प्राप्त होते ही लेखक या उसके मित्र आलाचक के पास प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में पहुँच जाते हैं और अनुकूल सम्मत्ति लिखवा कर बाज़ार में उसका विज्ञापन करते हैं। ऐसी स्थिति में स्वस्थ समालोचना का पनपना कठिन है।

हाँ, तो आधुनिक युग में साहित्य-शास्त्र की रचना साहित्य-रचना के साथ बीच-बीच में होती रही। ऐसे आचार्यों में भानु, मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी, लाला भगवानदीन, गुलाबराय, हरिऔध, अर्जुनदास केडिया, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र, विश्वनाथ मिश्र, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

भानु ने 'काव्य प्रभाकर' और 'छन्द प्रभाकर' नामक दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। 'काव्य-प्रभाकर' में काव्य-सम्बन्धी उपयोगी सामग्री जुटायी गयी है। 'छंद-प्रभाकर' में छंदों का विवेचन है। मिश्रबन्धुओं ने 'कविकुल-कंठाभरण' की टीका के अतिरिक्त 'साहित्य-पारिजात' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें प्राचीन हिन्दी कवियों के भी (एक दो अपवादों को छोड़ कर) उदाहरण दिये गये हैं। डा० श्यामसुन्दर दास का 'साहित्यालोचन' प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसका पहला संस्करण हडसन के 'इंट्रोडक्शन टू लिटरेचर' के अनुवाद से बोझिल था। नवीन संस्करण पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्त

सम्बन्धी आत्मसात की गयी सामग्री के साथ उपलब्ध है। हिन्दी के विद्यार्थियों को किसी ग्रंथ के गुण-दोष की परख कराने की दृष्टि से इसकी रचना की गई है। साहित्य के सभी अंगों पर विचार किया गया है। 'रूपक-रहस्य' नाटकों के तत्वों पर प्रकाश डालने वाला भी इनका एक ग्रन्थ है। रामचन्द्र शुक्ल आधुनिक समीक्षा को गौरवान्वित करने वाले अमर आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने अपने निबन्धों में, जो 'चिन्तामणि' के नाम से प्रकाशित हुए हैं, काव्य की समस्त समस्याओं पर विचार किया है। अपने समय के वादों की भी भारतीय दृष्टि से समीक्षा की है। भारतीय और पश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का समन्वय करना उनका लक्ष्य रहा है। कविता को युग की परिस्थितियों के साथ परखने की दृष्टि उन्होंने हिन्दी के समीक्षकों को दी। आज प्रगतिवादी समीक्षक साहित्य का समाज के साथ आग्रहपूर्वक योग स्थापित करते हैं। यह शुक्ल जी की ही समीक्षा-पद्धति का विकसित रूप है। उनके 'लोकमंगल' में बहुजनहिताय का विचार निहित है। साहित्य का उद्देश्य लोकहित होना चाहिए, यह शुक्ल जी का आग्रह रहा है। द्विवेदी जी ने आलोचना-शास्त्र का कोई ग्रन्थ तो नहीं लिखा, परन्तु उन्होंने कविता के रूप, भाषा, प्रयोजन और विषय पर उत्तम निबन्धों में अपने विचार प्रकट किये हैं। लाला भगवानदीन रीति-परम्परा के आचार्य हैं। उनका 'अलंकार-मंजूषा' अलंकारों पर अच्छा प्रकाश डालता है। उन्होंने अलंकारों के लक्षण दोहों में दिये हैं। 'व्यंग्यार्थ-मंजूषा' भी इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। बिहारी को देव से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए इन्होंने 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक लिखी। केशव और बिहारी पर इनकी टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। प्राचीन साहित्य के ये बड़े अच्छे मर्मज्ञ थे। गुलाबराय ने रसों का अच्छा मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है। इधर आपके 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' नामक दो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनमें साहित्य के सभी रूपों का विशद विवेचन है। हरिऔध का आचार्यत्व उनके ग्रन्थ 'रस-कलश' से सिद्ध होता है। इसमें रस और नायिका-भेद का विश्लेषण है। उन्होंने नायिका-भेद का वर्गीकरण कुछ नये ढंग से किया है, जैसे पति-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, लोक-सेविका आदि। सेठ अर्जुन-दास केडिया ने अलंकारों पर 'भारती-भूषण' नामक उपयोगी पुस्तक की रचना की है। इसमें हिन्दी कवियों के उदाहरण दिये गये हैं। 'रसाल' का 'अलंकार पियूष' (दोभाग) उनकी डाक्टरेट की 'थीसिस' है। हिन्दी-संस्कृत ग्रन्थों का इसे निचोड़ कहना चाहिए। कन्हैयालाल पोद्दार के 'अलंकार-प्रकाश', 'रस-मंजरी' और 'अलंकार-मंजरी' मुख्य ग्रन्थ हैं। 'अलंकार-मंजरी' उनका श्रेष्ठ ग्रन्थ है। पोद्दार जी साहित्य-शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् हैं। उन्होंने लाला भगवानदीन, भानु और गुलाबराय में साहित्य-सिद्धान्तों का अधकचरापन देखा है। रामदहिन मिश्र के 'काव्यालोक' और 'काव्य-दर्पण' साहित्य-शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। लेखक के ये ग्रन्थ संस्कृत अलंकार और काव्यशास्त्र पर आधारित हैं, किन्तु उनके गहन अध्ययन के परिचायक हैं। लेखक ने 'काव्यालोक' में पूर्व और पश्चिम की मान्यताओं को आचार्य शुक्ल की भाँति समन्वित करने का यत्न किया है। भारतीय साहित्य-पद्धति का निरूपण उनका लक्ष्य रहा है। हरिशंकर शर्मा ने 'रस-रत्नाकर' की रचना बड़ी विद्वत्ता के साथ की है। इसमें नायिका-भेद का भी निरूपण है। विश्वनाथ मिश्र ने कई भागों में 'काव्यांग-कौमुदी' की रचना कर काव्यांगों का निरूपण किया है। लेखक शास्त्र-चर्चा को छात्रों

तक पहुँचाने के लिए उत्सुक जान पड़ता है। इसलिए वह अपने विवेचन में बहुत स्पष्ट है। हाल ही में उसने बिहारी पर नई दृष्टि से विचार किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने श्यामसुन्दर दास की तरह 'साहित्य का साथी' लिख कर आधुनिक आलोचना-शास्त्र का दिग्दर्शन कराया है। इसमें भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों का गठबन्धन साधा गया है। साहित्य-शास्त्र-विवेचन के अतिरिक्त साहित्य-परीक्षण के क्षेत्र में भी लेखक का स्थान अग्रणी है। उसकी शैली में शास्त्रीय, प्रभाववादी, मानसशास्त्रवादी, प्रगतिवादी सभी आश्रय पाये गये हैं।

इस युग में साहित्य-शास्त्र रचना के साथ-साथ साहित्य-परीक्षण का कार्य करने वाले आलोचकों की ऊपर चर्चा की जा चुकी है। अब हम आलोचकों पर भी एक विहंगम दृष्टि डालते हैं, जो साहित्य-शास्त्र की रचना न कर साहित्यपरीक्षण का कार्य करते हैं। द्विवेदी-युग में रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना का जो रूप निर्धारित किया, उसको ग्रहण करने वाले आलोचकों में नन्ददुलारे बाजपेयी छायावादी युग में 'भारत' के माध्यम से प्रकाश में आये। आधुनिक कवियों तथा लेखकों पर लिखी गयी उनकी समीक्षाओं ने जनता का ध्यान आकर्षित किया। 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' और 'आधुनिक साहित्य' उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। दोनों ग्रन्थ स्फुट लेखों के संग्रह हैं, परन्तु उनके अध्ययन से आधुनिक हिन्दी-साहित्य की गतिविधि का अच्छा ज्ञान हो जाता है। उनके निष्कर्षों से हर स्थल पर सहमत न होते हुए भी उन पर मनन करने को जी चाहता है। उदाहरणार्थ नायक की स्त्री नायिका परम्परा से मानी जाती रही है। परन्तु लेखक 'साकेत' की चर्चा करते समय भरत को नायक और लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला को नायिका बनाने की भूमिका बाँधता है। पता नहीं, गुप्त जी के मस्तिष्क की यह सूझ है या आलोचक की अभिनव स्थापना, फिर भी यह स्थापना ऐसी है कि उस पर विचार किये बिना नहीं रहा जाता। छायावादी युग में जोशीबन्धु और अवध उपाध्याय अपनी खरी तथा तीखी आलोचना के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। इलाचन्द्र जोशी आज भी आधुनिक हिन्दी साहित्य पर मनोविश्लेषण-युक्त समीक्षा लिखते हैं, जिससे कभी-कभी यह भान होने लगता है कि कहीं फ्रायड का प्रभाव तो इन पर नहीं है। हिन्दी में नगेन्द्र जैसे भी समीक्षक हैं, जिन्हें निश्चित रूप से फ्रायडवादी कहा जा सकता है। पर अतृप्त वासना का चश्मा चढ़ा कर ही हर साहित्य को तो नहीं देखा-परखा जा सकता है। हमारा ख़याल है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि रखते हुए भी नगेन्द्र में रसवादिता कम नहीं है। छायावादी युग की नीहारिकामयी प्रवृत्ति करने वाले आलोचकों में शान्तिप्रिय द्विवेदी का स्मरण आता है। ये अपने आलोच्य ग्रंथ में कवि के साथ इतने अधिक डूब जाते हैं कि इनके मन्तव्यों को ठीक तरह से ग्रहण करना प्रायः कठिन हो जाता है। छायावादी युग में प्रभाववादी आलोचना का जो दौर-दौरा था, उसकी पूरी छाप इस समालोचक पर अंकित है। रामनाथ 'सुमन' ने 'छायावाद की रूप-रेखा' नंददुलारे बाजपेयी के साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होने के पूर्व प्रस्तुत की थी। 'प्रसाद की काव्य-साधना' प्रसाद पर प्रथम और विवेक-पूर्ण ग्रंथ है। आधुनिक कवियों पर स्वतन्त्र रूप से ग्रंथ लिने का सिलसिला शायद 'सुमन' से ही शुरू होता है। नगेन्द्र ने पंत पर और सत्येन्द्र ने मैथिलीशरण पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे। साहित्य में मार्क्सवाद का प्रचलन होने के बाद मार्क्सवादी समीक्षकों का भी प्रादुर्भाव हुआ। शिवदानसिंह चौहान ने मार्क्स-

वाद से प्रभावित प्रगतिवादी साहित्य की वैज्ञानिक ढंग से विवेचना की। रामविलास शर्मा की प्रगतिवादी आलोचना में काफी जोश खरोश रहता है। इसके विपरीत प्रकाशचन्द्र गुप्त शान्त भाव से कृति की सतह को देख कर प्रायः संतुष्ट हो जाते हैं। उनका 'आज का हिन्दी साहित्य' समय-समय पर लिखी हुई पुस्तक समीक्षाओं का संग्रहमात्र है। 'सुधांशु' ने काव्य और जीवन के तत्त्वों तथा अभिव्यंजनावाद का शास्त्रीय विवेचन किया है और संक्षेप में पन्त, दिनकर, माखनलाल, बच्चन आदि पर भावुकतापूर्ण उतराती हुई चर्चा की है। स्त्री समीक्षकों में श्रीमती शचीरानी ने काफी ख्याति प्राप्त की है। १९५० में प्रकाशित 'साहित्य-दर्शन' की हिन्दी साहित्यकारों द्वारा पक्ष-विपक्ष में की गई चर्चा इस ग्रन्थ की प्रभविष्णुता की परिचायिका है। लेखिका में आलोच्य कृति के साथ अनासक्त योग-भाव प्रबल है। यही उसकी सफलता का रहस्य है। 'साहित्य-दर्शन' के बाद लेखिका का दूसरा ग्रन्थ 'साहित्यिकी' है। प्रथम ग्रन्थ में भारतीय कलाकारों और पाश्चात्य कलाकारों में साम्य खोजने का यत्न किया गया है। दूसरी कृति में वाद और काव्य-समीक्षा पर संतुलित निबन्ध हैं। दूसरी आलोचिका पद्मावती शबनम हैं, जिनका एक ही ग्रन्थ प्रकाश में आ सका है। और वह है 'मीरा : एक अध्ययन'। प्रयोगवादी समीक्षकों में अज्ञेय, भारती और माचवे का भी अपना स्थान है। ये साहित्य के क्षेत्र में नूतन प्रयोगों को उत्साह के साथ अपना रहे हैं। इनकी आलोचना की दृष्टि शास्त्रीय नहीं है और सर्वथा मार्क्सवादी भी नहीं है।

इधर कुछ ऐसी समीक्षा-कृतियाँ भी प्रकाश में आ रही हैं, जिनमें हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों पर असंस्कारी प्रहार किया गया है। आलोचक की भाषा और उसकी 'टोन' भी निम्नस्तर की है: 'अमुक कवि यहाँ आता तो उसे जूते लगाता।' आदि शब्दावली क्या साहित्य का सुन्दरम् है?

यों रोमैंटिक युग के कवियों की भाँति हमारे साहित्य में भी प्रत्येक कवि समीक्षक है। वह जिस साहित्य का अध्ययन करता है, उस पर अपने दृष्टिकोण से मत भी व्यक्त करता है।

आज हिन्दी समीक्षा में गुटबाजी का दौर-दौरा है। जहाँ यह नहीं, वहाँ व्यक्तिवाद इतना उ है कि उसमें संतुलन नहीं रह गया है। हम कड़ी आलोचनाओं का स्वागत करते हैं, पर आलोचक को अपने मत के आग्रह का कठमुल्लापन छोड़ देना चाहिए। कवि की उसके युग की पृष्ठ-भूमि पर आसीन कर देखने से ही उसके साथ न्याय हो सकता है।

काश्मीरी लोकगीत

देवेन्द्र सत्यार्थी

किसी काश्मीरी के सम्मुख किसी काश्मीरी लोकगीत की चर्चा कीजिये, उसकी आँखें चमक उठेंगी; वह यों देखने लगेगा जैसे उसके मन का वातायन खुल गया हो। किसी गीत की कड़ी गुनगुनाइए, वह एक मित्र के समान आत्मीयता अनुभव करेगा। वह इस गीत की अगली कड़ी छूटते ही ज़ुबान पर न भी ला सके, तो भी आप से यह अवश्य पूछेगा—'आपने हमारा यह गीत कहाँ से उड़ा लिया ?' उसके प्रश्न के पीछे यही धारणा काम करती नजर आयेगी कि काश्मीरी गीत तो काश्मीर के हृदय की वस्तु है,—जो काश्मीरियों के अन्तस्तल में निहित रहता है और उमँग और वेदना के क्षणों में ही उनके होठों पर थिरकता है—फिर यह कैसे सम्भव हुआ कि बाहर से आकर एक अपरिचित-से व्यक्ति ने काश्मीरी गीतों शब्द जुटा लिए।

डा० कुमारस्वामी काश्मीरी लोकगीतों की चर्चा करते हुए लिखते हैं—'अधिकांश काश्मीरी संगीत, चाहे वह पण्डितों, लड़कों और नर्तकियों का हो और चाहे गवैयों का (कुछ अपवादों को छोड़कर), श्रुतिकटु होता है और जब कई प्राणी मिलकर गाते हैं तो लयहीन हो जाता है। काश्मीरी निःसन्देह संगीत के रसिये हैं। धान के खेतों में अथवा जंगल की पहाड़ियों पर घोड़े की सवारी करते हुए पथिक को कार्यरत-स्त्री-पुरुषों के संगीत का उतार-चढ़ाव निरन्तर सुनने को मिलता है; गलियों में से गुज़रते हुए ऊँचे छज्जे से लोरी के स्वर तैरते हुए आते हैं। मेले में गवैये अथवा नाचने वाले लड़कों की टोली मिलेगी और संगीत विवाहोत्सव और प्रत्येक प्रकार के तमाशे के साथ गुंथा हुआ है। तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि काश्मीरियों में संगीत का अभ्यास उसी प्रकार किया जाता है जैसे भारत के अन्य प्रदेशों में। काश्मीरियों में संगीत की अपेक्षा कवित्व अधिक है।'[1]

काश्मीरी लोकगीतों में जिस काश्मीर का चित्र मिलता है, उसकी ओर लोक-संगीत की पगडंडी से होकर ही जाना होगा। अब यदि काश्मीरी लोक-संगीत में डा० कुमार स्वामी के कथनानुसार संगीत-पक्ष उतना ही सुसंस्कृत नहीं जितना अन्य प्रदेशों में मिलता है, तो भी हम इसके संगीत-पक्ष की ओर से एकदम कान बन्द नहीं कर सकते। किसी सीमा तक यह संगीत कर्णकटु ही सही, पर इससे तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि काश्मीरी लोकगीतों के काव्य-तत्त्व के विकास में संगीत-पक्ष का भी कुछ कम हाथ नहीं।

---

१. रत्नदेवी और आनन्द के० कुमारस्वामी, 'थर्टी इण्डियन सॉंग्स', रवीन्द्रनाथ ठाकुर के आमुख सहित : पृष्ठ २६।

अब जब कि काश्मीर स्वतन्त्र है और शताब्दियों की गुलामी का जुआ उसके कन्धों से उतर चुका है, काश्मीरी लोक संगीत के विकास की ओर भी ध्यान दिया जायगा। डा० कुमारस्वामी जब काश्मीरी लोक-संगीत को कर्णकटु कहते हैं तो साथ ही यह भी कहते हैं—'कुछ अपवादों को छोड़ कर'। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काश्मीरी लोक संगीत में ऐसे तत्त्वों का अभाव नहीं है जिनके विकास की ओर ध्यान देने से इसमें नूतन प्राण-प्रतिष्ठा की जा सके।

डा० कुमारस्वामी यह भी कहते हैं कि 'काश्मीरी संगीत के रसिये होते हैं'। जिस वस्तु के असंख्य शताब्दियों से काश्मीरियों को संगीतप्रिय बनाये रखा वह तो अनुपस्थित नहीं है; जहाँ तक उसे अधिक विकसित और सुसंस्कृत करने का सम्बन्ध है, इसकी ओर भी समुचित कार्य किया जा सकता है।

काश्मीर रेडियो द्वारा प्रसारित संगीत के कार्यक्रम जिन लोगों ने सुने हैं, वे इस बात की साक्षी देंगे कि काश्मीरी संगीत में इधर नया जीवन आ गया है। संगीत का विकास स्वतन्त्रता के वातावरण में ही सम्भव है; इसके लिए राष्ट्र के मुक्त जीवन में आनन्द की हिलोर चाहिए। कदाचित् कुछ लोग यह मत प्रस्तुत करें कि विषाद और वेदना से भी कला के विकास में बड़ी सहायता मिलती है, पर वस्तुतः राष्ट्र के सामूहिक जीवन में आर्थिक प्रगति के बिना जनता की कला पूरी गति से अग्रसर नहीं हो सकती।

काश्मीरी लोकगीतों में काश्मीरी संस्कृति मुखर हो उठी है; काश्मीर के खेत, खेतों में काम करते किसान, काश्मीरी के पक्षी, काश्मीर की ऋतुएँ, विवाहोत्सव का उल्लास, काश्मीर के वृक्ष और फूल—सभी हमारे सम्मुख अपनी गाथा सुनाते हैं।

काश्मीर के अनेक गीत अभी तक लिपिबद्ध नहीं किये जा सके। स्वतन्त्र काश्मीर में इस दिशा में कार्य करने वाले लोग आगे आयेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है। जहाँ तक काश्मीरी लोक-संगीत का सम्बन्ध है, इस दिशा में काश्मीर रेडियो पथ-प्रदर्शक बन सकता है। अधिक से अधिक चुने हुए काश्मीरी लोकगीतों के रेकार्ड भरे जायँ, आज इसकी बड़ी आवश्यकता है। संगीत का विशेष ध्यान रखा जाय। गायकों का चुनाव करते समय श्रुति मधुर आवाज़ का खास ख्याल रखा जाय; रेकार्ड भरने से पहले लोकगीत की धुन अथवा लय-ताल को हू-ब-हू असली रंग में पेश करने के साथ-साथ यह भी ख्याल रखा जाय कि कहीं भी कर्णकटुता न आने पाये, सहगान के रेकार्ड भरते समय इस बात का अधिक ध्यान रखना होगा।

काश्मीरी लोकगीतों के नौ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं, इन गीतों का काव्य-तत्त्व स्पष्ट है, और इनके वातायन से पाठक सहज ही काश्मीरी जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण छवियाँ देख सकता है।

१. धान काटने वालों का गीत

ग्वगि करणे वणवे हूरन, लाल दीदार दियि मा,
दिल में न्यूनम माथि चूरन, चार करणे इयि मा !

दां डूरेन मंज़ बागन, लगि दां कुलि नटणे
रोफ़ करणे वसिवे आरस, गुलि लाल यूर्य इयि मा ॥
पोप ह्युल बयि बम्बुरस, इमि मा मति रटने
ग्वगि करणे वणवे हूरन, लाल दीदार दियि मा
दिल मे न्यूनम माथि चूरन, चार करणे इयि मा ॥

लोल तसुन्दे होल बरिथय, सीन लगि वोन्य फटने
दान् दान्य पान ख्यावन, द्वद दामा च्ययि मा
मंज़ जिरातस सुब सातन, नत लग लोल खटणे
ग्वगि करणे वणवे हूरन, लाल दीदार दियि मा
दिल मे न्यूनम माथि चूरन, चार करणे इयि मा ॥

मन मथरायि वथरावस, योसमन त टेकबटने
वंति पकनस डेर त्रावस, पोशि मुत मुल्य हेयि मा
नत इयि दाव हरदुन वाव, ह्युल ह्युल लांग नटणे
ग्वगि करणे वणवे हूरन, लाल दीदार दियि मा
दिल मे न्यूनम माथि चूरन, चार करणे इयि मा ॥

डेरस थव् फेर अंदि अंदि, दान दान लग् बटने
क्वछि हुत सुत क्वछि ललवन, प्रेम अन्न अद खेयि मा
श्याम स्वन्दर रूप ह्यव्यम, अद लग जाम् चटने
ग्वगि करणे वणवे हूरन, लाल दीदार दियि मा
दिल मे न्यूनम माथि चूरन, चार करणे इयि मा ॥

द्वद मायिर वरि थावस, पत गछ गोफ रटने
पान मशरीथ जागि प्रारस, छांडनि अद इयि मा
आर बठिस्य वार वार, लोल नार नेर छटने
ग्वगि करणे वणवे हूरन, लाल दीदार दियि मा
दिल मे न्यूनम माथि चूरन, चार करणे इयि मा ॥

हिन्दी रूपान्तर

कह दो हूरों से कि धान के पूलों के ढेर लगा दें, शायद मेरा लाल दर्शन दे;
मेरा दिल तो चितचोर ले गया, शायद वह मेरा इलाज करने आये।

धान की क्यारियों में धान के पौधे सिहर उठे
टोली बना कर रोफ* शुरू करो, शायद मेरा गुले लाला आ जाय,
धान का पक्का हुआ खोशा शायद फिर से भौंरे को सीने से लगाने आ जाय,
कह दो हूरों से कि धान के पूलों के ढेर लगा दें, शायद मेरा लाल दर्शन दे,
मेरा दिल तो चितचोर ले गया, शायद वह मेरा इलाज करने आये।

उसके प्रेम में हौल-भरा सीना अब फटने लगेगा,
दाना-दाना चुन कर स्वयं उसे खिलाऊँगी, शायद वह दूध का घूँट भी पिये,
(यदि वह न आया) तो कल सवेरे खेत में अपना प्रेम छिपाये रहूँगी,
कह दो हूरों से कि धान के पूलों के ढेर लगा दें, शायद मेरा लाल दर्शन दे,
मेरा दिल तो चितचोर ले गया, शायद वह मेरा इलाज करने आये।

मन-मथुरा में बिछाऊँगी यासमन और टेकबटनी के फूल,
उसके रास्ते में ढेरों फूल बखेरूँगी, शायद वह फूलों का मतवाला इन्हें मोल ले ले,
नहीं तो पतझड़ की हवा दाँव लगायेगी, और एक-एक खोशा थर्रायेगा,
कह दो हूरों से कि धान के पूलों के ढेर लगा दें, शायद मेरा लाल दर्शन दे,
मेरा दिल तो चितचोर ले गया, शायद वह मेरा इलाज करने आये।

धान को ढेर में रख कर उसके गिर्द घूमूँगी, दाना-दाना बटोर लूँगी,
उस भूखे को गोदी में लूँगी और पुचकारूँगी, शायद तब वह प्रेम का अन्न खाये,
श्याम सुन्दर मुझे अपना रूप दिखायेंगे तो मैं अपना जामा चाक कर दूँगी;
कह दो हूरों से कि धान के पूलों के ढेर लगा दें, शायद मेरा लाल दर्शन दे,
मेरा दिल तो चितचोर ले गया, शायद वह मेरा इलाज करने आये।

दूध की 'मायर'१ और 'वरि' पुलाव२ उसके लिए तैयार रखूँगी, फिर मैं गुफा में छिप जाऊँगी,
स्वयं को भूल कर उसकी ताक में रहूँगी, शायद वह मुझे ढूँढने आये;

---

*—एक प्रकार का लोक-नृत्य।

१—हाल की ब्याही भैंस या गाय का दूध जिसे पकाकर खाते हैं।

२—एक विशेष प्रकार का पुलाव जो विवाह के अवसर पर बनाते हैं।

नदी-तट पर धीरे-धीरे प्रेम की आग को शान्त करने निकलूँगी,
कह दो हूरों से कि धान के पूलों के ढेर लगा दें, शायद मेरा लाल दर्शन दे,
मेरा दिल तो चितचोर ले गया, शायद वह मेरा इलाज करने आये।

२. रोफ़[1] गीत

रोज़ बुलबुलो लोल च्योन आमो,

रोज़ बुलबुलो लोल च्योन आमो।

आर पोशो चेर क्यहो गोयो,
अंदर वननय न्यंदर मा प्ययो
न्यरू न्यबर छुय चलेजावो,
रोज़ बुलबुलो लोल च्योन आमो।

आदन यलि बादाम द्रावो,
गयि वुछिने वोखल्य त नावो,
रंगनावन लोग चलेजावो,
रोज बुलबुलो लोल च्योन आमो।

हिन्दी रूपान्तर

ठहर जा, बुलबुल, तेरे प्रेम ने मुझे सताया है,
ठहर जा, बुलबुल, तेरे प्रेम ने मुझे सताया है,

ओ आलू बुखारे के फूल! तुम्हारे आने में देर क्यों हुई?
बनों में तुझे नींद तो नहीं आई?
खिल आ! खूब रोनक है,
ठहर जा, बुलबुल! तेरे प्रेम ने मुझे सताया।

पहली बार जब बादाम का फूल खिला,
(लोग) पैदल और नावों में बैठ कर उसे देखने गये,
रंग-बिरंगी नावों का भाव चढ़ गया,
ठहर जा, बुलबुल! तेरे प्रेम ने मुझे सताया।

१—इसे सभी स्त्रियाँ, मुस्लिम और हिन्दू, रोफ़ नृत्य में गाती हैं।

३. बसन्त गान[१]

आवय बहार गुलि बादामन !

शारिका दीविये अंदि अंदी,
पोशि चमन देवारबन्दी
पोश लागस सुबुहन त शामन,
आवय बहार गुलि बादामन।

जाला दीविथि अंदि अंदी,
वेन पोशन देवारबन्दी,
पूजि लागस सुबहन त शामन,
आवय बहार गुलि बादामन।

शेव जीयस अंदि अंदी,
चंदन कुल्यन देवारबन्दी,
गोड़ बो दिमसय सुबहन त शामन,
आवय बहार गुलि बादामन।

नारायणस अंदि अंदी,
त्वलसी पोशन देवारबन्दी,
कुंग बो मलसय सुबहन त शामन,
आवय बहार गुलि बादामन !

हिन्दी रूपान्तर

बादाम के फूलों की बहार आई !

शारिका देवी[२] के चारों ओर,
फूलों के चमनों की दीवार बंधी है,
सुबह शाम फूल चढ़ाऊँगी,
बादाम के फूलों की बहार आ गई !

---

१. विशेष रूप से काश्मीरी पण्डितों की स्त्रियों द्वारा रोफ़ नृत्य के साथ गाया जाता है।
२. श्रीनगर में हरि पर्वत के मन्दिर की देवी।

ज्वाला देवी के चारों ओर,
'वेन'[1] फूलों की दीवार बंधी है
पूजा में सुबह शाम इन्हें काम में लाऊँगी,
बादाम के फूलों की बहार आ गई।

शिवजी के चारों ओर,
चन्दन के पेड़ों की दीवार बंधी है,
मैं सुबह शाम जल चढ़ाऊँगी,
बादाम के फूलों की बहार आ गई!

नारायण के चारों ओर
तुलसी के पौधों की दीवार बँधी है,
मैं सुबह शाम केसर मलूँगी,
बादाम के फूलों की बहार आ गई।

४. विवाह गान

वुशाक द्रायि हेलि
तय दाणि कर पूरे
दूयुक यणिवोल कर वाते ?

हिन्दी रूपान्तर

जौ की बालियाँ निकल आई!
धान की बालियाँ (दानों से) कब भर जायँगी ?
दूर की बरात कब आयेगी ?

५. विवाह गान[2]

अति क्योहो ब्यूठुख डूल्य कुण्य जोशस
यूत वलो नागराद गोशस प्यठ!

---

१. काश्मीर में तुलसी की तरह का एक पौधा होता है जिसके पत्र पूजा में चढ़ाये जाते हैं।

२. ये चार पंक्तियाँ प्रायः गाँवों की महिलाएँ वर के सुसराल आने पर गाती हैं। जब बारात व[धू] के गाँव में पहुँचती है तो थोड़ी देर के लिए गाँव से बाहर ही रुक जाती है ताकि अन्य स्थानों से आने वाले बाराती भी सम्मिलित हो जायँ। उसी अवसर पर वधू की ओर से आई हु[ई] स्त्रियाँ यह गीत गाती हैं।

अति क्योहो ब्यूठुख बीरि-सबजारस,
गिलि दूर्य लागयो दस्तारस।

हिन्दी रूपान्तर

तुम उधर अखरोट के पेड़ों की गरम[1] छाया में क्यों बैठे!
इधर चश्मे के पास के सुन्दर स्थान पर आ जाओ!

तुम उधर बेद के पेड़ों के नीचे सबज़े पर क्यों बैठे!
तुम्हारी पगड़ी को गिल[2] के अधखिले फूलों से सजाऊँ!

६. बच्चों का एक गीत

कुतुय गछख गिलिये?
बेरि बेरि खाह्
तोर केहे् करने?
ठूलन दिनि फाह्॥

हिन्दी रूपान्तर

'ओ गलि (एक पंछी) तू कहाँ जा रही है!'
'मैं मेंढ-मेंढ होकर खेत में जाऊँगी।'
'उधर क्या करने जा रही हो!'
'अंडों को सेने के लिए!'

७. वृक्षों का गान

बालि गोम ताशोक बाग वसनस्तय
अस्तय अस्तय नोव बहार आव।

चेरि कुर फरियाद बार साहिबस्तय,
सुलि है आयस चीर प्योम नाव,
ग्रीस्यतिस यम बकार न्यंद कालस्तय,
अस्तय अस्तय नोव बहार आवे।

---

१. काश्मीरियों का कथन है कि अखरोट का स्वभाव गर्म है।
२. 'गिल' एक प्रकार का फूल होता है।

फ़स्तन कुर फरियाद बार साहिबस्तय
फ़स्तय ओसुस त म्यव कोन द्राम,
ग्रीस्यतिस छुस लगान लरि दारवस्तय,
अस्तय अस्तय नोव बहार आव।

बोणि कुर फरियाद बार साहिबस्तय
बूणय है आसस्तु म्यव कोन द्राम,
बोणि हुंद शेहजार कुलि आलमस्तय,
अस्तय अस्तय नोव बहार आव।

वीरि कुर फरियाद बार साहिबस्तय,
वीर है ओसुस त म्यव कोन द्राम
वीरि हुंद द्रदुर चाम बाल पानसं तय
अस्तय अस्तय नोव बहार आव।

टंगन कुर फरियाद बार साहिबस्तय
टंग है ओसुस त म्यव द्राम
टंगकुय शेहजार वाहव खारस तय
अस्तय अस्तय नोव बहार आव।

हिन्दी रूपान्तर

मुझ युवती को बाग़ में जाने का शौक चर्राया,
धीरे-धीरे नई बहार आई !

खोबानी ने ईश्वर से फरियाद की
मैं सबसे पहले आई पर चीर* मेरा नाम पड़ा !
मैं तो किसान को नलाई के समय काम आऊँगी
धीरे-धीरे नई बहार आई !

सफेदे के पेड़ ने ईश्वर से फरियाद की
मैं सफेदा हूँ तो मुझे मेवा क्यों नहीं लगा !
मैं तो किसान के मकान बनाने में लकड़ी के काम आता हूँ
धीरे-धीरे नई बहार आई !

* काश्मीरी में खोबानी के लिए 'चीर' शब्द का प्रयोग होता है; चीर का दूसरा अर्थ है 'देर से आने वाली', इसी अर्थ की ओर यहाँ संकेत किया गया है।

चनार के पेड़ ने ईश्वर से फ़रियाद की
मैं चनार हूँ तो मुझे फल क्यों न लगा !
चनार की छाया तो सारे जहान के लिए है,
धीरे-धीरे नई बहार आई !

बेद के पेड़ ने ईश्वर से फ़रियाद की
मैं बेद हूँ तो मुझे फल क्यों न लगा !
बेद की दतून तो सारे जहान के लिए है !
धीरे-धीरे नई बहार आई !

नाशपाती के पेड़ ने ईश्वर से फ़रियाद की
मैं नाशपाती हूँ तो मुझे फल लगा
नाशपाती की छाया तो वहाब लुहार पर है
धीरे-धीरे नई बहार आई !

८. फूलों का गीत

लावन्य इखना हा बुलबुलो,
हिय पोश फुलिथ आयमो।

दम दिथ क्याह फोज्य बमचूंठि कुल्य,
कम कम पोश गय दावाह दिथ,
दान पोश लगयो हा बुलबुलो,
हिय पोश फुलिथ आयमो।

दतर्य पोशान कुडया कलो
तमि दुप मे छुम न खरीदार
वेह तैय जहर छुम बिल्कुलो,
हिय पोश फुलिथ आमो।

सोचलि पोशान कुडया कलो,
तमि दुप मे छु न खरीदार,
वतन प्यठ छुस ललन तलो
हिय पोश फुलिथ आमो।

संदिजि पोशान कुडयो कलो
तम्य दुप म्य छुन खरीदार

पान तम्य गोलुय चरकय तलो
हिय पोश फुलिथ आमो।

अलिशि पोशन कुड्यो कलो
तम्य दुप म्य छुन खरीदार
पान तमि गोलन्य चरकस तलो
हिय पोश फुलिथ आमो।

बादाम पोशन कुड्यो कलो
आशख छि द्रामत्य सालस डल
महमूद मरिथ दुबार वलो
हिय पोश फुलिथ आमो।

हिन्दी रूपान्तर

ओ बुलबुल, क्या तू बहार लूटने नहीं आयगा?
चंबेली के फूल खूब खिल गये!

बिही के फूल तो पूरे जोबन पर हैं
कैसे-कैसे फूल अपनी छब दिखा कर चले गये
अनार के फूल भी जोबन पर हैं, ओ बुलबुल!
चंबेली के फूल खूब खिल गये!

धतूरे के फूल ने भी सिर निकाला
उसने कहा—मेरा कोई ग्राहक नहीं है!
मैं तो विष और ज़हर से भरा हूँ!
चंबेली के फूल खूब खिल गये!

शोंचल[1] के फूल ने सिर निकाला
उसने कहा—मेरा कोई ग्राहक नहीं है!
मैं तो रास्तों पर पाँवों से रौंदा जाता हूँ
चंबेली के फूल खूब खिल गये!

१—एक प्रकार का साग जिसे फल लगता है। जम्मू में तो इसे इतना स्वादिष्ट मानते हैं कि एक कहावत है—'शोंचल मिले तो भेड़ या बकरी काहे को मारना!'

सरसों के फूल ने सिर निकाला
उसने कहा—मेरा कोई ग्राहक नहीं है
उसने अपना शरीर कोल्हू में पिसवाया
चंबेली के फूल खूब खिल गये !

अलसी के फूल ने सिर निकाला
उसने कहा—मेरा कोई ग्राहक नहीं !
उसने अपना शरीर कोल्हू में पिसवाया
चबेली के फूल खूब खिल गये !

बादाम के फूल ने सिर निकाला
आशिक लोग डल की सैर को निकले हैं
ऐ महमूद ! तू इस बहार को देखने के लिए दूसरी बार जन्म ले !
चंबेली के फूल खूब खिल गये !

६—मधु मक्खी का गान

इतय विसिये परन प्यमोस करोस ज़ारपार,
वुदय छस मांछ तुलुर वनुक जानावार,
कोह् कोहय यूरि अन्याम आसस अयालबार
बलाय पेयिन ह्रापथ गानस वनन चानिनम ज़ार

थन्या मथिन कुठ थोवनम मोतए छम बांधहाल
बागए आयस प्रीस्तिगरस सोय मे गयम गाल
द्राति सानि कश यलि चट्यनम् कात्या खतिस मार
वुदय छसय माछ तुलुर वनुक जानावार

हिन्दी रूपान्तर

हे सखी, आ जा उसके पाँव पड़ेंगे और मिन्नत-समाजत करेंगे
मैं मधु-मक्खी जंगल की जानवर हूँ !
मैं पहाड़ों में से ढूँढ़-ढूँढ़ कर इधर लाई. मैं भारी अयालदार थी
इस दुष्ट रीछ को कोई बला पकड़े इसने मुझे शहद का धुत्ता चीर जंगलों से भगाया ![1]

१—रीछ वृक्ष पर चढ़ कर शहद के छत्ते को मधु-मक्खियों समेत ही खा जाता है !

किसान ने मेरे लिए मक्खन से लीपा हुआ एक घर[1] बनाया
मुझे यह बात बुरी लगी कि मैं किसान के घर की बहू बन कर आई !
उसने द्रांती से मेरे छत्ते के टुकड़े काटे तो उसने कितनी ही मौत अपने सिर लीं !
मैं तो जंगल की जानवर मधु-मक्खी हूँ !

प्रतिवर्ष अनेक यात्री काश्मीर जाते हैं, पर कितने लोग हैं जो काश्मीरी लोक-संगीत सुनते हैं और लोकगीतों में झाँक कर देखने की चेष्टा करते हैं ! समय-समय पर अनेक यात्रियों ने काश्मीर पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं, उनमें कुछ ग्रन्थों में काश्मीरी लोकगीतों का उल्लेख ही नहीं मिलेगा। हमारी यह उपेक्षा कब तक बनी रहेगी !

काश्मीरी लोकगीतों में मानव की उसी आत्मीयता का प्रचुर आभास मिलता है जो विश्व के किसी भी प्रदेश में देखने को मिल सकता है। एक दृष्टि से ये गीत काश्मीरी हैं,—रंग में भी और शैली में भी—पर दूसरी दृष्टि से ये गीत विश्व-साहित्य की वस्तु है, क्योंकि इनमें उसी मानव की वाणी मुखर हो उठी है जो देश-देश में विद्यमान है, जो स्थानीय रंग से ऊपर उठ कर विश्व-मंच पर खड़े होकर बात करने की क्षमता रखता है।

१—छत्ता लगाने के लिए मधु-मक्खियां को आमन्त्रित करते समय दीवार में आर-पार छेद करने के पश्चात् उसमें माटी का एक बरतन रख कर उस पर मक्खन लगा देते हैं।

कहानी की बातें

प्रेमनाथ दर

राजधानी की कई साहित्यिक गोष्ठियों में से एक की बात है। एक प्रसिद्ध लेखक (वे सभी कुछ लिखते हैं, दोनों नई पुरानी राष्ट्रभाषाओं में) अपनी कहानी सुना रहे थे। मैं बैठा ही था कि कहानी समाप्त हो गई। कमरा भरा हुआ था और रीति अनुसार सुनने वालों ने समाधि लगाई। फिर एक ने सिर उठाया और कहा कि खूब है, दूसरे ने भौंएँ उठाईं और कहा कि है खूब परन्तु कहानी नहीं है। 'क्या है फिर?' पहले ने घृणा को मुस्कराहट में लपेटा। 'क्यों रेखा-चित्र नहीं है?' दूसरा आत्म-विश्वास में बोला। तीसरे ने चादर में से हाथ निकाले और यह स्पष्ट हुआ कि वह कुछ नया कहने लगे हैं, बोले, 'न कहानी है न रेखा-चित्र। एक सुन्दर-सा निबन्ध है।' देखते देखते गोष्ठी ने रूप बदला, गोष्ठी वाले बँट गए। एक ने दूसरे की न सुनी—कहानी, निबन्ध, रेखा-चित्र—कहानी, निबन्ध, रेखा-चित्र। चारों ओर से तीन प्रकार की आवाज़ें टकराने लगीं और इस शोर के जीवनदाता मसनद पर हर्ष में बैठे थे कि अवश्य ही उनकी चीज़ विचारणीय है।

अब शोर को थामने वाला केवल मैं था जो कहानी के बारे में कुछ भी न कह सकता था। मैंने हाथ उठाए और ऊँची आवाज़ में कहानीकार महोदय से ही प्रश्न किया। शायद उन्हें इस प्रश्न की आशा न थी। उनकी मुस्कराहट सुकड़ गई और वह अपनी राय को अन्दर ही अन्दर टटोलने लगे। अब उनका उत्तर देखिये!

'मैंने तो, जी, इसे कहानी करके लिखा था। परन्तु लिखते लिखते मुझे इस बात का अनुभव हुआ कि कहानी नहीं यह एक निबन्ध बनता जा रहा है, और जब मैं उसे लिख चुका तो मुझे ऐसा लगा कि यह एक अच्छा खासा रेखा-चित्र हो गया!'

अब चुटकला यह है कि मेरे मुँह से एक ज़ोर का अट्टहास निकला, निकला और अधूरा छुट गया। क्योंकि अट्टहास मेरा अकेला था और सब लोग मेरी ओर देख रहे थे कि यह क्यों हँसा—यह सब कुछ लिखते हुए मेरा अभिप्राय किसी व्यक्ति या गोष्ठी पर हँसने का नहीं था। मैंने हिन्दी की हर गोष्ठी में कहानी के बारे में नाना प्रकार के विचार सुने हैं और स्वयं लिखने वालों को प्रायः कहानी के मूल-तत्त्वों से अपरिचित पाया है और सदा ही मेरे मन में यह विचार आता रहा है कि हिन्दी में कहानी-साहित्य से अधिक आलोचना की ही आवश्यकता है।

बात सच्ची यह है कि मानव स्वभाव से ही कहानीकार है। हर व्यक्ति का एक लम्बा इतिहास है जिसके हर पन्ने पर एक कहानी है। यही नहीं, व्यक्ति व्यक्ति की मनोकामनाएँ भिन्न-भिन्न हैं।

कल्पना के हरे भरे उपवन में ही कामनाएँ क्या क्या रूप धारती हैं ! एक एक रूप की एक एक कहानी बनती है। फिर शब्दों में आकर इतिहास भी बदलने लगता है। स्मृति-कोष से निकलकर कल्पना के स्वतंत्र क्षेत्र में आ बसता है और चटखारे ले लेकर मनुष्य कहानियाँ कहने लगता है। या यों कहिए कि हर दिल पर चोटें होती हैं और उन खाई हुई चोटों को वह हर समय उगलना चाहता है, रह रह के सुनाता है और सुनने वालों को रुलाना चाहता है। फिर सभी लोग भाषा बोलते हैं और जो लिखना जानते हैं उनके दिल में यह विचार अवश्य ही आता है कि 'यह कहानियाँ लिख दूँ तो···' क्योंकि स्वाभाविक बात यह भी है कि हर आदमी अपनी घटनाओं को दुनिया की घटनाओं से विचित्र समझता है। और यदि जीवन के और धन्धों की कृपा न होती तो आज कहानीकारों की वर्तमान संख्या में संसार-भर के वह सभी लोग होते जो अपने विचारों को लिख सकते हैं। मुझे यह विचार उस समय भी आता है जिस समय अच्छे-भले कविगण कहानी को गद्य की घास समझकर कहानियों के संग्रह हमारी ओर धकेल देते हैं।

साहित्यिक कहानी (Short story) का सफल लेखक भी एक साधारण आदमी होता है। वह भी अपनी याद और कल्पना को घोल-घोलकर कहानियाँ बनाता है। कुछ सामने देखता है, कुछ स्मरण करता है और कुछ अपनी कल्पना के चक्षुओं से देखता है और यदि वह उन ही पात्रों और घटनाओं की कहानी नहीं लिखता जिनको वह भली-भाँति जानता है या उनकी जिनको उसने निकट से देखा है, तो उसकी कहानी नहीं बनती। उसकी कल्पना में भी इस देखे-भाले संसार के चित्र होते हैं और प्रायः उसकी कहानियों में उसके अपने हृदय की चोटें ही उभर आती हैं। परन्तु सारा अन्तर यह कि वह कहानियाँ चटखारों के लिए नहीं लिखता और न ही अपनी राम कहानी सुनाने को। वह एक संघर्ष का सिपाही है, जिसके हाथों में एक उद्देश्य है,उसके पास समय नहीं कि आपका दिल बहलाने बैठ जाए। वह कहानी के लिए कहानी नहीं वल्कि एक उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कहानी लिखता है। उसका भगवान् कहानी की साधारण प्रणाली पर विराजमान है और चूंकि वह कारीगर है, वह इस प्रणाली का ढाँचा और फैलाव उतना ही रखता है जिसमें उसके भगवान् आ जाएँ, न कम न ज्यादा, और यह बड़े उद्देश्य का मतवाला उस उद्देश्य की टेकन, कहानी के साधन को ही सब कुछ क्यों समझेगा !'

फिर उसकी आँखें बहुत तेज़ होती हैं। देखते-देखते बाल की खाल उतारता है। गहराइयों में आ उतरता है। रसभरे होंठों की निचली तह में विष चखता है। ढोल बाजों के नीचे रोने के स्वरों को सुनता है। समवेदना में लिपटी हुई हँसी को खोल निकालता है, और पाठक की असली तस्वीर उसकी छुपी हुई कोलकियों में से निकालकर उसके सामने फैंक देता है। उसके कलम में इतना ज़ोर होता है कि एक बात।वरण जीवित होकर पढ़ने वाले को वहीं गाड़ देता है और वह कहानी को पढ़े बिना उठ नहीं सकता।

इसलिये कहानी के बारे में जो प्रथम बात कही जानी चाहिए वह यही है कि यह साहित्य का एक बहुत ही सुन्दर रूप है जिसमें स्वयं कहानी का अंश लुप्त है, और जो है, उसका महत्त्व इतना

कम है कि इसको कहानी के नाम से पुकारना ही अनुचित है। कहानी के सस्ते नाम से गद्य का यह गम्भीर, संक्षिप्त, कथात्मक विभाग साहित्य का एक ऐसा अलग-अलग और मार्मिक क्षेत्र है जिसकी अपनी सुन्दर सीमाएँ हैं, एक अपना स्वभाव है, अपने सिद्धान्त हैं और इसे साधारण कहानी के सामान्य बट्टों से तोलना ग़लत है।

हमारी इस कहानी में भी कहानी होती है पर होती इसलिए है कि एक पृष्ठभूमि (Biogro-und) तैयार हो जाए जिस पर कहानीकार अपने केन्द्रीय विचार को उभारने के लिए एक केन्द्रीय पात्र का निर्माण करता जाता है। इस केन्द्रीय पात्र को पूरी तरह प्रकट करने के लिए कहानीकार आवश्यकतानुसार कई छोटे-बड़े अन्य चित्र खेंचता है। परन्तु केन्द्र में केवल एक पात्र होता है और घटनाएँ आती हैं, इसे छू जाती हैं और रंग-रंग में इसको प्रकट करती हैं। पात्र आते हैं इससे टकराते हैं तो इसके नए पहलू सामने आते हैं, और कहानीकार की कारीगरी यह है कि वह इसी एक पात्र का चित्रण करते-करते, इसी की कहानी कहते-कहते एक महान उद्देश्य में सफल हो जाता है। एक विचार, एक व्यंग, एक आश्चर्य हमारे सामने रख देता है, हम सोचने पर विवश हो जाते हैं और हमारे अपने मन में एक नए विचार का जन्म होता है।

कहानी की इस कारीगरी में एक योजना होती है, एक क्रम होता है और एक नपा-तुला अनुपात होता है। इसमें चित्रण और वर्णन के स्मरणीय टुकड़े होते हैं। और वह भी बीच में केवल इसलिए नहीं आते कि वह सुन्दर हैं या इसलिए कि कहानीकार उन्हें लिख सकता है बल्कि इसलिये कि योजना में उनका स्थान है और उनकी आवश्यकता है। इस प्रकार कहानी में कथा का स्थान धागों के उस खुले-खुले ताने-बाने जैसा होता है जिस पर कहानीकार अपने इस विशेष परिश्रम के उद्देश्य को रंग-रंग के साहित्यिक मोतियों का रूप देकर पिरोता जाता है। यह मोती इतने सुन्दर होते हैं और इस क्रम से पिरोए जाते हैं कि कहानी रूपी धागे नीचे दब जाते हैं और मोतियों ही की बुनतर चमकने लगती है। यही कारीगरी कहानी का Execution कहलाती है जो कहानी के Plot (प्लॉट) से अधिकतर महत्वपूर्ण होता है। कहानीकार की बड़ाई, उसका नीचा ऊँचा स्थान प्लॉट (Plot) की नर्मी-गर्मी से नहीं नापा जाता है बल्कि इसी कारीगरी, इसी Execution में वह भी अपने आपको प्रकट करता है। परन्तु कथात्मक सूत्र जो नीचे है उसका कर्तव्य इस प्रकार आवश्यक हो जाता है कि यह मोती बिखरे नहीं रहते, एक क्रम में इतने घुलमिल जाते हैं कि वह धागा और यह अलग अलग मोती एक नया निराला शरीर बन जाता है जिसके किसी भी अंग को काट दिया जाए तो शरीर नहीं रहता। अभिप्राय यह कि सफल कहानी में से एक घटना, एक पात्र क्या, एक शब्द भी नहीं निकाला जा सकता। इस सारी बुनतर में एक ऐसी उस्तादाना योजना होती है कि अंग-अंग में अनुपात होता है, अंग-अंग का सम्बन्ध होता है, आवश्यकता से अधिक किसी घटना की छाया तक नहीं होती, एक पात्र ज्यादह नहीं होता और उन मोतियों में से एक चाहे कितना ही सुन्दर, कितना ही चमकीला मोती रह जाए, बुनतर में यदि स्थान नहीं, उस योजना में ठीक बैठता नहीं, तो कदापि बीच में नहीं आएगा। आएगा तो कहानी के प्रथम सिद्धान्त का विरोध होगा, एकता टूट

जायेगी,प्रभाव के नोक दब जाएँगे और कहानी के संगीत में एक चीख़ निकल पड़ेगी—उड़ता हुआ पाठक धरती पर गिर-सा जाएगा।

कहानी के यह बुनयादी धागे कभी जब सीधे-सीधे ऊपर से लेकर नीचे तक चले आते हैं तो एक सीधी-सीधी कहानी बन जाती है जो आरम्भ से लेकर मंज़िल-मंज़िल चलती हुई अपने निश्चित अन्त तक पहुँच जाती है। कभी यह धागे मानो बीच से फूट निकलते हैं और आगे पीछे बुनते चले जाते हैं। यहाँ कहानीकार सामने की एक घटना से प्रभावित होकर भूत काल में जा गिरता है, कदम-ब-कदम लौटता हुआ उसी घटना तक आ जाता है। और फिर उससे भी आगे जाता है। यह धागे कभी अन्त से आरम्भ की ओर चलते हैं और कहीं बुनतर गुड़-मुड़ हुई दिखाई देती है। दाएँ-बाएँ, चारों ओर घूमती हुई-सी कहानी बनती है। परन्तु इस कहानी में भी एक योजना अवश्य होती है जो कि हर सफल कहानी का आधार है। इस प्रकार की कहानी में प्राय: घटनाएँ नहीं, पात्र का मन घूमने लगता है। इसमें कथात्मक सूत्र का प्रयोग कम से कम करते हुये भी कहानीकार अपने उद्देश्य में सफल रहता है। अभिप्राय यह कि इस साहित्यिक कहानी का रूप जैसा भी हो, लेखक की टेकनीक जैसी भी हो, कथा का प्रयोग कहानीकार आवश्यकतानुसार ही करता है। और आवश्यकता कितनी थी और कितनी नहीं इस बात का फैसला तो लेखक ही करता है। परन्तु हर सुलझे हुये पाठक और आलोचक का लेखक के साथ इस बात में सहमत होना भी आवश्यक है। मैं तो कहता हूँ कि हर कहानी का फैलाव नियुक्त है। उसकी सीमाएँ बँधी हुई होती हैं। आप कहानी का एक आरम्भ करके एक ही अन्त तक आ सकते हैं। आरम्भ करके ही अन्त का फैसला हो जाता है और अगर आपकी कहानी में कई अन्त हो सकते हैं तो कहानी ग़लत चली है, केन्द्र में एक विचार नहीं, टैकनीकी कीड़ा है जो कहानी के महत्व को खा रहा है। कहानी का उद्देश्य प्रकट है तो वह स्थान भी दूर से दिखाई देगा, जहाँ कहानी रुक जायेगी। नहीं रुकेगी तो हज़ारों पढ़ने वाले उँगली उठा कर कहेंगे कि कहानी वहाँ रुक गई थी, यह आप आगे किसे हाँक रहे हैं।

कहानी का यह रूप आज का नहीं तब ही से नियुक्त हो गया है जब पश्चिम में साहित्य के इस नये विभाग का आरम्भ हुआ। सत्रहवीं शताब्दी के शुरू-शुरू में ही अर्विंग (Irving) जैसे उस्ताद ने भी कभी प्लाट या ड्रामाई Action को कहानी में ज़बरदस्ती बिठाने की कोशिश न की। उसने भी यदि परिश्रम किया तो इस बात का किया कि पाठक के मन में एक भावना, एक Mood, एक Emotion को जागृत करे। उस समय भी कहानीकार को यही चिन्ता होती थी कि एक वातावरण को जीवित करे। तब भी कहानी के केन्द्र में एक व्यक्ति ही हुआ करता था। उस समय भी चाहे अर्विंग या पो या, और फिर चाहे मोपासां हो या ओहेनरी, चाहे किसी के यहाँ घटनाओं की घन-गरज तेज़ थी या थी ही नहीं, वहाँ भी प्लाट-बन्दी के प्रतिकूल उन्होंने जीवन के पहलू-पहलू से पर्दा हटाने की चेष्टा की, मन की अथाह गहराइयों और उलझे हुए अनगिनत धागों की खोज लगाई, वातावरण के जीते-जागते चित्र शब्दों में खींचे, अमर पात्रों को जन्म दिया और हर अपनी कहानी के अन्त में पाठक की एक चुटकी ली, उसके अन्दर एक नए विचार को अंकुरित

किया, एक आश्चर्य को उकसाया और उसे एक झटका सा दिया कि देख, तुझे यह कहानी यूँ ही नहीं सुना दी। सफल कहानियाँ इन्हीं चुटकियों के लिये, इन्हीं नये विचारों के लिये लिखी गई हैं। पाठक के मनोरंजन के लिये कहानी के कई रूप होंगे पर उनका साहित्यिक कहानी, जिसे अंग्रेज़ी में Short story कहते हैं, के साथ कोई सम्बन्ध नहीं।

और फिर आज-कल युद्धों के मारे हुए युग में कहानीकार कल्पना के स्वर्गों से नीचे वास्तविक झमेलों में फँसा पड़ा है। उसे समय नहीं, न उसका जी करता है कि वह बैठे बैठे घटनाओं के सुन्दर जाल बुनता रहे, अपनी दुनियाँ से भाग कर झूठे स्वप्नों के चित्र खींचता रहे, जिनको देखकर मरते हुए पाठक को जीवन का धोखा हो, ऐसी मिठास हो जिसको वह सोते सोते चाटता रहे, या दिल धड़काने वाली घटनाएँ हों जिनमें पाठक गुम हो जाए। आज-कल का कहानीकार सामने की सीधी-साधी घटनाओं को ही उठाता है, बे-सजे नंगे जीवन को और छीलता है, उसके टेढ़े सीधे कोणों को बड़ी बेअदबी के साथ घूरता है, देखकर देखी हुई बात का बिना किसी सोच के एलान करता है। कहना यह है कि प्लाट या कथा का महत्त्व और कम हो गया है, घटनाएँ पात्र की और आधीन हो गई हैं, कहानी में क्रिया से प्रतिक्रिया का अंश और बढ़ गया है, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के और नए तजुर्बे हो रहे हैं, मन की नई भूल-भुलैयों तक प्रकाश डालने के नए हथियार पहुँचाए जा रहे हैं, चुटकुले सुनाने के लिए नहीं, समस्याओं को बहस में लाने के लिए कहानी लिखी जाती है और कहानी में स्वयं कहानी अदृश्य सी हो गई है।

पश्चिम से आए हुए साहित्य के इस नए रूप Short Story का हिन्दी नाम कहानी रखने वालों की समझ पर मुझे सन्देह हो सकता है कि इन्होंने इसे समझा ही न था। हमारे यहाँ कहानी साधारण सी चीज़ है और युगों पुरानी। साहित्य के इस नए सीमित, परन्तु अनेक सुन्दरताओं के मेल को कहानी पुकारना कितना अनुचित था। समय आ गया है कि साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण विभाग को किस्सों, दास्तानों, तोता-मैना की कहानियों और मनोहर कथाओं से बहुत दूर रखा जाए, इसको कोई नया और उचित नाम दिया जाए ताकि नए पाठक और विद्यार्थी इस अन्तर को पहले से भी भली प्रकार ग्रहण करें। फिर पढ़ने वाले अगर एक कहानी में ज्यादह कहानी न पाएँ निराश होकर उसे संदिग्ध नाम रेखा-चित्र से न पुकारेंगे, न ही कहानी और निबन्ध के पृथक सीमाओं के मिलाने का प्रयत्न करेंगे।

अब प्रश्न यह है कि कहानी अगर मनोरंजन के लिए नहीं तो किस लिए लिखी जाती है? यह प्रश्न तो साहित्य के दूसरे विभागों पर भी होते हैं। परन्तु यह एक पुराना प्रश्न है और अब यह बात मानी गई है कि साहित्यकार न तो शुभ अवसर के लिए एक भांड है, न रात को नींद लाने वाला हकीम, बल्कि इर्द-गिर्द के जीवन का आलोचक है, दार्शनिक है, विज्ञानी है जो एक साधारण लबार्ट्री में नहीं, कल-मशीनों से नहीं, बल्कि अपने मन के कारखाने में, अपने क़लम के साधन से मानव जीवन के उन आलोप और बहुत ही महत्त्वपूर्ण पहलुओं का विश्लेषण करता है जिनको बड़ो

बड़ी दूरबीनें नहीं देख सकती हैं। उसके सामने वह समस्याएँ हैं जिनका हल स्वयं इन्सान के साधारण हाथों में होते हुए भी उलझती ही जाती हैं। यह इन्सान कठिनाई दूर कर सकता है पर करता क्यों नहीं ? साहित्यकार इस क्यों की तह तक पहुँचता है, क्यों का जवाब खोज निकालता है और इन्सान के सामने रख देता है। यही है उसका उद्देश्य जिसको प्राप्त करने के लिए उसने कहानी का यह प्रभावशाली साधन भी बनाया है और बनाया ऐसा है कि अगर Technique की सीमाओं का आदर किया गया हो, और यदि भाषा में गति हो तो प्रभाव ऐसा होगा जो विज्ञान के बड़े बड़े आविष्कार से प्राप्त न हो सके। एक अच्छी कहानी को पढ़ते ही समस्याओं को उत्पन्न करने वाला और उनको मिटानेवाला यह मानव चकरा जाता है, बाहर की बनाई हुई नकली दुनियाँ से धक्का खा कर अपने ही अन्दर डूब जाता है और सोचने लगता है।

उद्देश्य के इस सत्य को कई लोगों ने उलझा दिया है। वह कहते हैं कि जीवन को आगे जाना है और कहानी को उसे आगे धकेलना चाहिये। इतनी बात तो ठीक है, परन्तु वे यह भी प्रतिबन्ध लगा देते हैं कि जीवन को आगे धकेलने के लिए केवल एक ही रास्ता है और अगर लोग दूसरे रास्ते दिखाएँ भी, वह आँखें मूँद लेते हैं और शक करने लगते हैं। फिर ऐसे भी साहित्यकार हैं जो जीवन के एक ही विभाग को पहचानते हैं और कहते हैं कि यह विभाग ठीक रहे तो समूचा जीवन सुधर जाएगा। उदाहरणतया मानव की आर्थिक दशा को बहुत लोगों ने इतना महत्त्व दिया है कि अगर कोई अच्छी कहानी ऐसी लिखी जाए जिस में आर्थिक सीमाओं ही की चर्चा न हो तो उसे वह बेकार पुकारेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि इस आर्थिक विभाग को सुलझाते हुए कहानीकार इन्सान की बनाई हुई संस्कृति, उसकी नीति, उसके झूठ-सच उसके भले-बुरे के अन्तर का विश्लेषण भी करता है और यह भी सच है कि संसार की आर्थिक व्यवस्था तब तक नहीं सुधर सकती जब तक कि मानव अपने मन को तबदील न करे। परन्तु हमारे जीवन के और भी विभाग हैं जहाँ शायद आर्थिक समस्याओं का कोई दख़ल नहीं। हमारी भावनाओं की भी एक दुनियाँ है जहाँ इन्सान एक पूँजीपति होते हुए भी किसी एक भावना के अधीन आर्थिक सुविधाओं को त्याग देता है, शरीर को कष्ट देता है, आत्म-हत्या करता है। फिर यहाँ इस अपने देश में आत्म-ज्ञान की एक परम्परा है। मन के अतिरिक्त एक परिपूर्ण सर्वशक्तिमान् आत्मा की भी समझ—बूझ है, जिसकी ओर बहुत धीरे-धीरे सही, हमारा विज्ञान चला आ रहा है। हमारे सामने संसार की अनेक घटनाएँ ऐसी हैं जिनकी व्याख्या प्रमाणु के भेद जानने वाला वैज्ञानिक नहीं कर सकता है, जिनका हमारे आर्थिक जीवन के साथ न सही, हमारी विचारों की दुनिया के साथ अवश्य ही सम्बन्ध होता है। छोटी सी एक मिसाल लीजिए। कल्पना में हम एक ऐसे युग को देख सकते हैं जहाँ हमारे नये आर्थिक विचारों के अनुसार संसार की आर्थिक असमानता दूर हुई हो, ऐसे में जहाँ किसी प्रकार की आर्थिक कठिनाई किसी व्यक्ति की नहीं हो। एक सुपुत्र अपने वृद्ध पिता को पीट देता है। क्या तब हम वह कहानी नहीं लिख सकते और क्या जीवन की उस अनार्थिक घटना पर व्यंग्य नहीं किया जा सकता है, और क्या ऐसा करने से जीवन की प्रगति नहीं होगी ?

मुझे तो यह कहना है कि कहानीकार जीवन के केवल एक विभाग ही को नहीं देखता। वह एक ही मार्ग को नहीं पहिचानता। वह किसी वाद का बन्दी नहीं, सब वादों और रास्तों का आलोचक है। वह जीवन को आगे जाता हुआ देखना चाहता है न कि किसी एक वाद को, न किसी एक मार्ग को।

कहानीकार राजनैतिक दलों में आकर नई प्रकार की कहानियाँ लिखने लगता है। जानबूझ कर टैकनिक की सीमायें फाँद कर अपने मतलब के किस्से गढ़ता है। थोड़ी सी बात को बढ़ा-चढ़ा कर, सफेद पर कालिख फेर कर और काले को ओट में लाकर ऐसे पात्रों को जन्म देता है जो वास्तव में होते ही नहीं, ऐसी घटनाओं को सामने रख देता है जो किसी और जगत की दिखाई देती हैं। प्रभाव के बदले पाठक को धक्के लगते हैं और उन लेखकों का मतलब भी पूरा नहीं होता। वह इस बात को याद नहीं रखते कि उनकी ये कहानियाँ स्वयं पाठकों की कहानियाँ हैं और लेखक का काम एक चेतावनी देने का है, उस सत्य को छेड़ने का है, जिसका वास उसके मन में पहले से ही है। और यदि हम असत्य को लेकर स्वभाव के विरुद्ध बातें करते चलें तो पाठक हमको झूठा पुकार कर हमारी कहानी को एक तरफ फेंक देगा—कहानी में प्रभाव नहीं तो कुछ भी नहीं।

कला का आयत्तीकरण

विनोद बिहारी मुखर्जी

पाश्चात्य विद्वानों ने जिस मनोयोग से प्राचीन भारतीय साहित्य, दर्शन व धर्म के सम्बन्ध में विचार किया है, उसी मनोयोग से भारतीय कला-सृष्टि के सम्बन्ध में गम्भीर आलोचना नहीं की और न ही पाश्चात्य पंडितों, इतिहास-वेत्ताओं और वहाँ के रसिक-समाज द्वारा भारतीय कला-सृष्टि के आदर्श को हृदयंगम करने की कोई चेष्टा ही देखी जाती है। वरन् इस क्षेत्र में उनकी उपेक्षा और अवहेलना ही दृष्टिगोचर होती है।इसका कारण बड़ी आसानी से समझ में आ जाता है।

उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में जिस समय प्राच्य-पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति-क्षेत्र में संघर्ष व सम्मिलन बहुत तीव्र हो उठा था, उस समम की पाश्चात्य शिल्प-संस्कृति का आदर्श नग्न वास्तविकता में परिणत हो चुका था। उन्नीसवीं शती के शिल्पी अथवा शिल्प रसिक के लिये वास्तविकता के अतिरिक्त किसी अन्य सत्य आदर्श की कल्पना तक करना आसान न था। इसी कारण पाश्चात्य शिल्प-रसिकों ने भारतीय शिल्प-सृष्टि के सम्बन्ध में वास्तविता के आदर्श को सामने रख कर ही विचार किया था। तत्कालीन वास्तवता के कठोर आदर्श के अनुसार भारतीय शिल्प-कला उन्हें Grotesque एवं अनेक आंगिक दोषों से पूर्ण प्रतीत हुई थी। केवल भारतीय कला ही नहीं, अपितु पाश्चात्य भूखंड के बाहर तथा ग्रीक-नंदन (Esthetic) आदर्श के अतिरिक्त अन्य समस्त शिल्प-सृष्टि को ही हीन समझकर इन यूरोपीय शिल्प-रसिकों ने परित्यागने की इच्छा की थी।

जिस प्रकार वास्तवता-आदर्श से अभिज्ञ यूरोपीय रसिक-समाज भारतीय कला-सृष्टि के आदर्श को अपनाने में असमर्थ रहा, उसी प्रकार उन्नीसवीं शती के अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त नवीन भारतीय जन भी भारतीय शिल्प के मर्म को समझने में समर्थ न हो सके। उस समय का भारतीय नव्य मानस यूरोप के वास्तवता के आदर्श से इस प्रकार प्रभावित हो चुका था, कि भारतीय देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भारतवासियों के ही निकट विकृत शिल्प-सृष्टि के रूप में प्रतीत होने लगी थीं। उसके उपरान्त विगत पचास वर्षों में भारतीय कला-सृष्टि के आदर्श के सम्बन्ध में जन-साधारण के मन में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। आज कोई शिक्षित पाश्चात्य व्यक्ति भारतीय शिल्प-कला का Grotesque कहकर उपहास नहीं करेगा। अथवा भारतीय शिल्प-वेत्ता शरीर-स्थान-विद्या (Anatomy) के सम्बन्ध में अनभिज्ञ थे---यह बात भी नहीं कहेगा।

भारतीय कला-सृष्टि के सम्बन्ध में इस मत-परिवर्त्तन के हमें दो कारण दिखाई देते हैं। एक तो, हैवेल व कुमारस्वामी जैसे व्यक्तियों की भारतीय शिल्प-विषयक रचना का प्रभाव; और दूसरा यूरोपीय शिल्प के आदर्श में आमूल-चूल परिवर्त्तन।

उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण में जब रस्किन (Ruskin) जैसे पंडितों ने 'वास्तवता' के आदर्श को अंतिम रूप से स्वीकार कर लिया था और उसी आदर्श के आधार पर वे अन्यान्य प्राच्य कला-सृष्टि को अस्वीकार करने को तैयार थे, ठीक उसी समय यूरोपीय शिल्प के क्षेत्र में 'वास्तवता' के आदर्श का विरोध दिखाई दिया। यूरोप के शिल्प-समाज का यह विरोध-आन्दोलन यूरोपवासियों के मन को प्राच्य शिल्प के सम्बन्ध में बड़ी गम्भीरता से प्रबुद्ध करने में सफल हुआ। चीन देश के शिल्प, जापान के चित्र, इजिप्ट व अफ्रीका की कला-कृति, संक्षेप में प्राचीन युग की सभ्य तथाकथित असभ्य शिल्प-संस्कृति के संबन्ध में उन में बड़ा तीव्र आग्रह दिखाई दिया। किंतु आश्चर्य है कि यूरोपीय शिल्पी-समाज का यह नवीन आग्रह चीन-जापान की चित्र-संस्कृति में जिस प्रकार घनिष्ठ हो उठा, इजिप्ट अथवा नीग्रो शिल्प-कला ने यूरोपीय शिल्प-कला को जिस परिमाण में प्रभावित किया, अथवा पारसीक चित्र का कर्म विन्यास जिस प्रकार यूरोप के आधुनिक चित्रों में परिवर्त्तन ला सका; इस तुलना में भारतीय चित्रों या मूर्तियों का प्रभाव हमें वहाँ नहीं दिखाई देता।

अवश्य हम देखते हैं अंग्रेज समालोचक का कथन कि माइकेल एंजलो अमर कलाकार है, किंतु शाश्वत कला-सृष्टि का उदाहरण तो हम महाबलीपुरम् के शिल्पियों की रचना में ही देख पाते हैं। अर्थात् भारतीय कला-सृष्टि के संबन्ध में जागरूक होने के बावजूद भी भारतीय कला-सृष्टि की संतुलना में वहाँ के शिल्पी अथवा शिल्प-रसिक उस प्रकार का तीव्र आग्रह नहीं दिखाते।

यहाँ एक प्रश्न सहज ही हमारे मन में उपस्थित हो सकता है। यह सोचा जा सकता है कि शायद भारतीय शिल्प केवल अतीत की ही कीर्त्ति है। शायद बीसवीं शताब्दी की शिल्प-कला को प्रेरणा देने की शक्ति उसमें नहीं है। इस प्रश्न का समाधान भारतीय शिल्प के साथ अंतरंग परिचय पर ही निर्भर करता है। यूरोप-निवासी भारतीय शिल्प को स्वीकार करते हैं या नहीं, और क्यों भारतीय शिल्प अन्यान्य प्राच्य शिल्पों की भाँति यूरोपीय शिल्प को प्रभावित करने में समर्थ नहीं हो सका, इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व हमें देखना चाहिये कि हमने अपने शिल्प को भलीभाँति देखने व पहिचानने की चेष्टा की है या नहीं। यूरोप के शिल्पियों, शिल्प-रसिकों, समालोचकों व इतिहास-वेत्ताओं ने जिस प्रकार ग्रीक-शिल्प अथवा रोमन-शिल्प-कला को समझने व पहचानने की चेष्टा की है, शिल्प-संस्कृति को जिस प्रकार आत्मसात करने का प्रयत्न उन्होंने किया है; आधुनिक भारतीय शिल्पियों व शिल्प-रसिकों ने उस प्रकार की कोई अतिरिक्त चेष्टा की हो ऐसा प्रतीत हमें नहीं होता।

हमारी उपर्युक्त उक्ति के विरोध में कोई सज्जन दृष्टांतरूप से अजन्ता की लोक-प्रियता की बात यहाँ पेश कर सकते हैं। वास्तव में अजन्ता के भित्ति-चित्रों ने भारतीय शिल्प-संस्कृति के अंश-हिसाब से आधुनिक भारतीय संस्कृति को जिस परिमाण में प्रभावित किया है वह असाधारण एवं अभूतपूर्व है। उच्चस्तरीय कला-सृष्टि से लेकर व्यापारिक शिल्प (Commercial Art) पर्यन्त अनेक स्तर में अजन्ता के प्रभाव व अनुकरण को हम सहज में ही लक्ष्य कर सकते हैं। दूसरी ओर कारु-शिल्प, अभिनय, संभाषण व नृत्य में सर्वत्र अजन्ता की लोक-प्रियता विद्यमान है। किंतु यह

बात भी संदिग्ध है कि अजन्ता की चित्र-संस्कृति के लोक-प्रिय होने के कारण ही हमने उसके सत्य रूप को पहचान लिया है। वरन् कुछ मनोयोग से अनुसंधान करने पर शायद हमें यह दिखाई दे कि हमने अब तक अजन्ता के वाह्य संस्कार (Convention) को ही ग्रहण किया है।

अजन्ता के भित्ति-चित्रों के अतिरिक्त भारतीय शिल्प के और भी कोई-कोई रूप आज लोक-प्रिय हैं। जैसे, राजपूत-शैली के किसी-किसी श्रेणी के चित्र, तथा दक्षिण भारत की नटराज की मूर्त्ति, और सारनाथ की बुद्ध-मूर्त्ति। किंतु भारतीय शिल्प-संस्कृति के विस्तृत क्षेत्र के जितने अंश को हमने प्राप्त किया है वह अजन्ता के भित्ति-चित्रों अथवा जहाँ-तहाँ की एक दो मूर्त्तियों के ऊपर ही आधारित है।

भारतीय शिल्प की प्रतीकमूलक सृष्टि की ओर आज भी हमने उपयुक्त मनोयोग द्वारा दृष्टिपात नहीं किया। आंशिक रूप में भारतीय शिल्प की असाधारणता स्वीकार करते हमें आज भी संकोच होता है। भारतीय शिल्पियों की असाधारण उद्भावना-शक्ति, रूप-सृष्टि में वैचित्र्य तथा भारतीय शिल्प की प्रकृति के साथ कहाँ तक घनिष्ठता है, इस विषय में हमने आज भी कोई अनुसंधान नहीं किया। भारतीय शिक्षित समाज क्यों इस ओर ध्यान नहीं देता ? क्यों भारतीय शिल्पियों के मन में इस विषय का तीव्र आग्रह उत्पन्न नहीं होता ? यहाँ इन प्रश्नों पर विचार करना मुख्य विषय नहीं है। भारतीय शिल्प को देखना, समझना और इस शिल्प-संस्कृति के ऐश्वर्य को आयत्त करना आज एक नई आवश्यकता है। यही हमारा मुख्य वक्तव्य है। इस प्रसंग में एक दो दृष्टांत देने का प्रयत्न करूँगा।

आधुनिक यूरोपीय शिल्प-कला के क्षेत्र में Surrealism नामक एक नूतन आदर्श देखा जाता है। कहना न होगा कि Surrealism का आयुकाल अब लगभग शेष हो रहा है। तथापि हमने इस विशेष आदर्श को दृष्टांत के रूप में ग्रहण किया, क्योंकि इस नव्य यूरोपीय आदर्श के एक ओर के चरम परिणाम को हम भारतीय शिल्प-संस्कृति क्षेत्र में पा सकते हैं। Surrealism इस आदर्श सम्बन्ध में, भारतीय साहित्यिक व शिल्पी जानते हैं। अतः इस आदर्श और उद्देश्य के सम्बन्ध में, संक्षेप में विचार किया जा सकता है।

मन के गम्भीर स्थल में जो चिन्ता और आकांक्षा होती है, मनुष्य के अवचेतन मन की इस अवस्था को चेतन स्तर पर पहुँचा देना ही Surrealist कला का मुख्य उद्देश्य होता है। अवचेतन मानस-जगत् को सचेतन जगत् में ले आने के निमित्त Surrealist कलाकार शिल्प में प्रतीक का प्रयोजन स्वीकार करते हैं। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि Surrealism एक प्रकार की प्रतीकमूलक कला है, शिल्प है।

अब इस नवीन यूरोपीय शिल्प-आदर्श के साथ भारतीय प्रतीकमूलक शिल्प-रचना की कुछ तुलना की जाय। हमारे देश की 'गणपति' मूर्त्ति प्रतीकमूलक होने के बावजूद भी प्रकृति के रूप-सादृश्य से विच्छिन्न है यह नहीं कहा जा सकता। इस विषय में मतभेद की कोई गुंजायश नहीं कि हस्ति-मुख और मानव-देह दोनों सम्मिलित रूप से गणपति हैं, शिल्प-संसार में सत्य (real) हैं

मनुष्य की चेतन अभिज्ञता और अवचेतन आकांक्षा सम्मिलित रूप से इस प्रतीक में रूपान्तरित हुई है, इसमें भी संदेह की कोई गुंजायश नहीं है। यूरोपीय आधुनिक Surrealism के साथ यह पृथक इस बात में है कि यूरोप का Surrealism गर्भीय स्तर से शरीर को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सका। इसीलिये यूरोपीय Surrealism विच्छिन्न एवं विक्षिप्त है, अथवा कतिपय वस्तुओं के Symbol का समावेश है। और दूसरी ओर गणपति सदृश प्रतीकमूलक कला-सृष्टि संहत, संयत व मार्मिक होने के साथ संपूर्ण रूप की सृष्टि है।

आधुनिक यूरोपीय Surrealist शिल्पी यह अवश्य कहते हैं कि—यतः अवचेतन मन विच्छिन्न व विक्षिप्त होता है, अतः उस जगत् की प्रतिच्छवि भी विच्छिन्न व विक्षिप्त रूप में ही वांछनीय है। इस युक्ति का उत्तर देना कम कठिन नहीं है। क्योंकि यह कहना कठिन है कि यह जातीय आदर्श व उद्देश्य से अनुमोदित है अथवा अक्षमता का परिचायक है। परन्तु यूरोप के Surrealism के प्रादुर्भाव व विस्तार के इतिहास के लक्ष्य को देखते हुए यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि यूरोपीय Surrealist तथा प्रतीकवादी शिल्पियों की रूप-रचना की अक्षमता ही इस आदर्श की मृत्यु में कारण है।

भारतीय शिल्प के क्षेत्र में और भी कई दृष्टांत प्राप्य हैं जो इस नूतन यूरोपीय प्रयत्न को आगे न ले जाने में समर्थ हैं। जैसे नृसिंह-मूर्त्ति और किन्नर-किन्नरियों की मूर्त्ति। आधुनिक भारतीय शिल्पी या शिल्प-रसिक नये ढंग से नृसिंह-मूर्त्ति की पूजा करेंगे, इस संभावना की बात मैं नहीं चला रहा, किन्तु शिल्प-रचना के निर्दोष उदाहरण के रूप में आज भी प्रतीकमूलक भारतीय रूप-रचना शिल्पियों एवं शिल्प-रसिकों के लिये पूज्य है, सम्मान्य है।

यूरोप की आधुनिक शिल्प-संस्कृति आंगिक विचार-विश्लेषण के मार्ग में जिस प्रकार उनके तथ्यों के आविष्कार करने में समर्थ हुई थी, उसी प्रकार कला-सृष्टि का जो मूल उत्स है उस ओर आज भी यूरोपीय शिल्पी पथभ्रष्ट हैं। उनके विचार-विश्लेषण ने जिस प्रकार उनके शिल्प की भाषा को ऐश्वर्य प्रदान किया, उसी प्रकार उनकी शिल्प-दृष्टि को विभ्रांत भी कर दिया।

आज भारतवर्ष एवं समस्त प्राच्य जगत् आधुनिक यूरोपीय शिल्प के आदर्श से प्रभावित है। इसीलिये यूरोप के शिल्प-क्षेत्र में जो बाधा और विपत्ति है वह भारतीय शिल्प के क्षेत्र में भी है। वरन् भारतीय शिल्पियों की समस्या और भी जटिल है, क्योंकि भारतीयों की आधुनिकता का आधार अपनी निजी अभिज्ञता नहीं है। आधुनिकता के क्षेत्र में भारतीय शिल्पी आज भी परमुखापेक्षी हैं। यूरोपीय शिल्पियों की आधुनिकता असाधारण अध्यवसाय, प्रयत्न, शिक्षण एवं विराट् विश्लेषण द्वारा संस्कृत हुई है। वही प्रयत्न और अध्यवसाय आज निर्जीव आवर्त्त के बीच में जा फँसा है।

आज हमारे लिये समय आ गया है, जब कि भारतीय मूर्त्ति, चित्रकला व स्थापत्य को नये सिरे से रूप-रचना के संसार में आविष्कृत और परिष्कृत किया जाय, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार यूरोपीय शिल्पियों ने अपनी प्राचीन सभ्यता की विभिन्न संस्कृतियों को नये सिरे से आविष्कृत और

परिष्कृत किया था। ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि केवल शिल्पियों के लिये ही भारतीय शिल्प का लक्ष्य है। संस्कृति के विवर्त्तन के इस मुहूर्त्त में हमें यह भी अनुसंधान करना चाहिये कि भारतीय शिल्प व समाज के बीच पहले का सम्बन्ध था। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राचीन पंडित इस सम्बन्ध में जिस सिद्धांत पर पहुँचे थे उसी को आज भी अभ्रान्त मान कर स्वीकार कर लिया जाय। एक दृष्टांत यहाँ दिया जा सकता है।

बौद्ध-युगीन शिल्प को बहुतों ने दरबारी प्रभाव से प्रभावित माना है। राजा अथवा धनियों की पूर्ण-पोषकता में, अर्थात् उनके अर्थ-साहाय्य से जिस शिल्प की सृष्टि की गई, वह शिल्प हर समय राजा अथवा धनी समाज को ही व्यक्त करेगा—इस प्रकार की धारणा सदा के लिए सत्य नहीं है। अंततः भारतीय शिल्प का उदाहरण जो हमें प्राप्त होता है उससे इस धारणा की पुष्टि नहीं होती।

भारतीय शिल्प मुग़ल-युग से पहले तक बृहत्तर समाज के साथ अत्यन्त घनिष्ठ भाव से जुड़ा हुआ था। इसी से भारतीय शिल्प ने विश्लेषण बुद्धि की अपेक्षा अनुभूति को प्रकाशित करना चाहा है। मानव की वासना और कामना को समाज के ग्रहण-योग्य बना कर, रूप-सौन्दर्य व अलंकार से सजाकर इस प्रकार उसे समाज के समक्ष उपस्थित करने में कोई भी अन्य सभ्यता समर्थ नहीं हो सकी। शिल्प के विचित्र प्रतीक का आश्रय लेकर भारतीय शिल्प ने मानव की इन्द्रियग्राह्य अनुभूति व अभिज्ञता को एक निर्दिष्टता के बीच लाने का प्रयत्न किया है।

आज जब पृथ्वी के सभी भागों के शिल्पी और विचारक समाज के प्रति विशेष रूप से जागरूक हैं, ऐसे समय में भारतीय शिल्प-संस्कृति की ओर दृष्टिपात करने से हम लाभान्वित होंगे यह आशा व्यर्थ नहीं है। धर्म, राज-शक्ति आदि सामयिक प्रभावों के सम्बन्ध में अधिक जोर न देकर सहज भाव से केवल भारतीय शिल्प-कला को ही देखने का प्रयत्न आवश्यक है। किन्तु यह देखना किसी पुस्तक या किसी मतामत की मध्यस्थता द्वारा सम्भव नहीं है। साक्षात् परिचय की आवश्यकता है। भारत के विभिन्न स्थानों में भारतीय शिल्प के अनेक उदाहरण हम आज भी बाट-घाट में देखा करते हैं। इस सर्वकालिक समाज और नव्य जीवन-यात्रा-प्रणाली की पटभूमि में भी भारतीय शिल्प का मूल्य व्यर्थ नहीं, यह समझने के लिये आवश्यक है केवल भारतीय कला-संस्कृति की ओर दृष्टिपात करना।

कुक्कुट-शीर्ष स्तम्भ

डॉ० दुर्गाप्रसाद पाण्डेय

मनुष्य की चेतना अन्तर्मुखी होकर जहाँ सत्य को समझने और अपनाने का प्रयास करती है वहाँ वह परिणत हो जाती है धार्मिक भावना के रूप में और वही बहिर्मुखी होकर अपने को मूर्त करने में कला का रूप धारण करती है। धर्म और कला मानव चेतना के दो पहलू हैं। यही कारण है कि संस्कृति के शैशव से ही मनुष्य ने अपने अन्तस की गहराई में पहुँच कर जिस सौन्दर्य को ढूँढ़ने का प्रयास किया है—जिस सत्य और शिव को अपने जीवन के मूल श्रोत के रूप में अनुभव किया है उसे ही कला के रूप में—साहित्य, संगीत, मूर्तिकला, चित्रकला आदि में मूर्त करने की चेष्टा करता आया है। पाषाण युग के मानव से लेकर आटमिक युग के विजेता तक में यह चिरंतन सत्य प्रविच्छिन्न दिखलाई पड़ता है। कला-कृतियों में विभिन्न युग के मानव के विश्वास और परम्परायें आज भी सजीव हैं। कुक्कुट-शीर्ष स्तम्भ उन्हीं कला-कृतियों में से एक है।[1]

यह अद्वितीय स्तम्भ कानपुर जिले के डेरापुर नामक तहसील के लाला भगत नाम के ग्राम में स्थित है[2]। इस ग्राम में एक टीला है जिसकी लम्बाई-चौड़ाई करीब ३५ एकड़ और ऊँचाई भी करीब ३४ या ३५ फीट है। इसी टीले के उत्तर-पूर्वी किनारे पर एक मन्दिरनुमा कमरे के अन्दर यह स्तम्भ सुरक्षित है। यह ६ फीट ३ इंच लम्बा है। यह अठ-पहलू है। इसके एक पहलू की चौड़ाई ७ इंच तो दूसरे की ६ इंच है। इस स्तम्भ से १८ फीट की दूरी पर लाल पत्थर की बनी हुई एक मुर्गे की आकृति पड़ी है जो ३६ इंच ऊँची है और गुलाई में खुदी है[3]। इसके दोनों पैरों के बीच में कुछ पत्थर का अंश छोड़ा हुआ है इससे जान पड़ता है कि सम्भवतः यह मूर्ति स्तम्भ के शीर्षमंडन (Capital) की तरह स्तम्भ के ऊपर रखी रही होगी और इस स्तम्भ की भी आकृति वैसी ही रही होगी जैसी कि इस स्तम्भ के निचले हिस्से में खड़ी गज-लक्ष्मी के बगल में उत्कीर्ण कुक्कुट-शीर्ष-

---

१. देखिये प्लेट १.

२—पं० माधोस्वरूप वत्स—Archaeological Survey Report for 1929-30, पेज १२२-२३, प्लेट XXXI.

राय साहब प्रयाग दया—A Note on Lala Bhagat Pillar, 'Journal of the United Provinces Historical Society vol. IV. Part 2, July 1930, pp. 38-41.

३. देखिये प्लेट २

स्तम्भ की है[४]। इस अठ—पहलू स्तम्भ के ७ इंच चौड़ाई वाले एक पहलू में ऊपर से नीचे तक आकृतियाँ रिलीफ में बनी हुई हैं[५]। हमें देखना यह हैं कि ये आकृतियाँ किनकी है और इन्हें जिस क्रम से रखा गया है उसका भी क्या कोई विशेष अर्थ है।

आकृतियों में सब से ऊपर दो उड़ते हुए हंसों की आकृतियाँ हैं जिनके गर्दन पर एक लकड़ी जैसी चीज रखी हुई है जिसके सहारे कोई चौकोर वस्तु लटक रही है[६]। उसके नीचे भगवान सूर्य को



प्लेट १

४, ५—देखिये प्लेट १,

६—प्लेट ३,

चार घोड़े के रथ पर बैठा हुआ दिखलाया गया है[७]। सूर्यदेव के दोनों तरफ उनकी दो प्रधान पत्नियों, राज्ञी और निक्षुभा की मूर्तियाँ हैं[८]। भगवान सूर्य के सिर पर एक लम्बा छत्र लगा है[९]। घोड़ों के पैरों के बीच में कुछ कमल की कलियाँ और फूल हैं और रौंदी जाती हुई अन्धकार की वीभत्स प्रतिमा है[१०]। इस स्तम्भ के शिल्पी ने इतनी थोड़ी जगह में भी यह दिखलाना नहीं भूला है कि अन्धकार के विनाश से ही कमल का विकास होता है। अंधकार की आकृति के नीचे तीन स्त्री-मूर्तियाँ हैं जो

७—सूर्य के चार घोड़े वाले रथ का वर्णन संस्कृत के प्रारम्भिक और पौराणिक साहित्य में भविष्य पुराण के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता—भविष्य पु० ब्रह्म पर्व, अध्या० १६६, श्लो० ४। पर, सूर्य की प्राचीन प्रतिमाओं में वे चार घोड़े के रथ पर ही बैठे दिखलाये गए हैं—जायसवाल, Journal of the India Society of Oriental Art. Vol. III. No. 2, pp. 125., pl. XXX, fig. 2. 3.. Bhaja—Furgusson and Bergus—Cave Tempels of India, London 1840, p. 521; Khandagiri—Cambridge History of India, Vol. 1, pl. XXVIII, fig. 75; Bodhagoya—Cunnigham, Vol, III, p. 96; डा० दुर्गा प्रसाद पाण्डेय 'सूर्य', पेज ३६; चार घोड़े चार युगों, चार दिशाओं और दिन के चार भाग—प्रातः, मध्याह्न, अपराह्न और संध्या के द्योतक हैं। देखो— Abbe' Benier—The Mythology and Fables of the Ancients p.36.

८—प्लेट, ३; निक्षुभा को पृथ्वी का रूप माना गया है—निक्षुभा सूयते यस्मादन्नौषधि सुधामृतः। मर्त्यान पितृंश्च देवांश्च तेन भू निक्षुभा स्मृता (भविष्य प्र० अध्या. ८०, श्लोक ६); राज्ञी को देवाचार्यस्य तस्येयम् दुहिता विश्वकर्मणः। सुरेणुरिति विख्याता त्रिषु लोकेषु भामिनी। राज्ञा, संज्ञा च द्यौ त्वष्ट्री प्रभा सैव विभाव्यते—भविष्य पु०अध्या० ८०, श्लोक १६-१७;इन्हीं राज्ञी और निक्षुभा को वेदों में द्यौ और पृथ्वी के नाम से सम्बोधित किया गया है। वैदिक काल की उषा रामायण और महाभारत काल में सुवर्चला के नाम से पुकारी जाने लगी थी।

९—सूर्य की प्राचीन प्रतिमाओं में केवल बोध-गया में पाई जाने वाली प्रतिमा के ऊपर छत्र पाया जाता डा० कुमारस्वामी Ars Asiatic xviii,ha Sculpture de Bodhagaya, pl.xi, paleau 8, pl.cvi, 1-2; Liii.2; xxxiii paleau 64. ऋषी जमदाग्नि ने सूर्यदेव को छत्र भेंट किया था—महाभारत पर्व १३, अध्या-९५-९६।

१०—प्लेट ३; भाजा के गुफा में पाई जाने वाली सूर्य की मूर्ति के रथ के घोड़ों से रौंदी जाती हुई अन्धकार की मूर्ति नग्न स्त्री के रूप में है।

अपने वेश-भूषा तथा भाव-भंगियों से संभान्त स्त्रियाँ जान पड़ती हैं। ये सूर्यदेव की दूसरी पत्नियाँ उषा, प्रत्युषा और छाया की मूर्तियाँ हैं[11]।

उषा और प्रत्युषा की मूर्तियों के नीचे तेरह बौनों की नग्न मूर्तियाँ है जिनके शरीर की अपेक्षा चेहरे और पेट बड़े है तथा आँखे मोटी और लम्बी हैं। सम्भवतः ये अंगुल परिमाण वाले वालखिल्य की मूर्तियाँ हैं। वालखिल्य ऋषिगण सूर्य के अंग रक्षक हैं। सूर्य के मण्डल में रहते हैं और सूर्य की रश्मियों का पान करते हैं। उनको वैहायस भी कहते हैं[12]। उनकी आकृतियां को इस तरह से बनाया गया है कि वे गोल परिधि में खड़े हुए से मालूम पड़ते हैं और शिल्पी ने उन्हें ऐसा सजाकर खड़ा



प्लेट २

११–महाभारत पर्व ३, अध्या ३, श्लो० २००; पर्व १३, अध्या १३६, श्लो० १–५०; अध्या-१४६, श्लो० ५; अध्या ८०, श्लो०४; विष्णु पुराण अध्या० ११; मारकण्डेय पु०-अध्या० ७७, अध्या ७८, श्लो० १५-३२; पद्म पु० अध्या ८, श्लो० ३६--६४; भविष्य पु० अध्या० ८०, श्लोक ४--८०;

१२-महाभारत, पर्व १ अध्या० ३०, श्लो० ७; रामायण बाल्मीकि, काण्ड ३, अध्या० ३५, श्लो० १५ से; श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५, अध्या २१, श्लो० १७;

किया है कि वे परिधि बना कर सूर्य देव और उनकी पत्नियों की रक्षा में तत्पर जान पड़ते हैं[13]। ठीक इनके नीचे बड़ी सुन्दरता से उत्कीर्ण एक नृत्य-निरत मयूर की मूर्ति है[14]। उसके नीचे एक सुपुष्ट हाथी की आकृति है जो अपने सूंड से विकसित एवं अर्धविकसित सनाल कमल को पकड़े हुए है और उसके पैरों के नीचे भी कमल के पुष्प हैं[15]। हाथी की मूर्ति के बाद करीब ११ इंच खाली जगह छोड़कर स्तम्भ पर उत्कीर्ण प्रतिमा गज-लक्ष्मी की है जो एक स्तम्भ के बगल में खड़ी दिखलाई गई है[16]। उत्कीर्ण स्तम्भ के शिर्ष पर कुक्कुट की बैठी हुई आकृति है[17]। गज-लक्ष्मी की प्रतिमा में कला और निर्माण कुशलता का बड़ा सामंजस्यपूर्ण समन्वय है। यह प्रतिमा पटना संग्रहालय में सुरक्षित दीदार गंज से पाई जाने वाली प्रसिद्ध मूर्ति से बहुत कुछ मिलती है[18]। गज-लक्ष्मी और उत्कीर्ण स्तम्भ के बीच में कमल की बेलि जैसी बनी हुई है जिसके सबसे ऊपर के विकसित कमल पर गज लक्ष्मी के दोनों ओर दो हाथी उत्कीर्ण है जो अपने सूंड में पकड़े एक कलस से देवी का अभिषेक कर रहे हैं[19]। उत्कीर्ण स्तम्भ के बिल्कुल जड़ के पास एक लम्बोदर व्यक्ति की आकृति है जो अपने सिर पर एक बड़ा बर्तन रखे हुए हैं[20]।

इन सारी आकृतियों के सजाने के क्रम के संबंध में जो कुछ भी कहा जा सकता है वह सत्य और अनुमान इन दोनों के बीच की ही चीज़ हो सकती है। सूर्य भगवान की जो सैकड़ों प्रतिमाएँ विभिन्न युग की पाई गई हैं उनमें कहीं भी इस तरह का क्रम नहीं है। इस स्तंभ पर उत्कीर्ण उड़ते हुए हंस मिथुन, नाचते हुए मयूर और चलते हुए हाथी के चित्रण को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि इस स्तंभ का निर्माण उस आनन्द और उत्साह की स्मृति को धूमिल न होने देने तथा कृतज्ञता को मूर्त करने के लिये किया गया है जब कि सूर्य और लक्ष्मी की उपासना ने अनावर्षण की भीषणता से जनता की रक्षा की होगी। भारतवर्ष प्राचीन काल से ही कृषि-प्रधान देश रहा है। वर्षा और धूप से कृषि की रक्षा करने वाले सूर्य और धन-धान्य से पूर्ण करने वाली लक्ष्मी की पूजा भारतीयों की धार्मिक परंपरा में प्रधान स्थान रखती हैं।

अब हमें देखना यह है कि क्योंकर यह स्तंभ अनावर्षण से मुक्ति का स्मारक है। संस्कृत कवि परंपरा के अनुसार वर्षा ऋतु के आरम्भ में हंस मानसरोवर जाने के लिए उड़ते हैं[21]। अतः इस स्तंभ पर उत्कीर्ण उड़ते हुए हंस मिथुन वर्षा के आरम्भ को बतलाने लिये हैं जबकि हंस कमल के कोमल किसलय और बिस (जड़) का पाथेय लेकर मानसरोवर की ओर उड़ते हैं बिसकिसलयच्छेद पाथेयवंतः[22]। गर्मी की लू और तपन के बाद आषाढ़ के पहले दिन जबकि आकाश उमड़ते घुमड़ते काले बादलों से घिर जाता है उस समय बादल के मंद्र-गंभीर ध्वनि के साथ आनन्द विभोर होकर अपने इन्द्र-धनुषी परों को फैलाकर दामिनी की मुस्कुराहट एवं मोरिनी की

१३-१४-१५—प्लेट ४; १६—प्लेट १; १७, प्लेट १

१८—J. B. O. R. S., Vol. V. pl. 1, p. १००; १९-२०—प्लेट १।

२१—साहित्य दर्पण ७, २३; २२—मेघदूत ११;

केका के साथ नाचते हुए मयूर भारतवर्ष की प्राकृति के अपने वैभव हैं। वर्षा ऋतु में नाचते हुए मयूर का वर्णन भारतीय कवियों का प्रिय विषय रहा है[२३]। प्राचीन काल से ही हाथी को उन



प्लेट ३

२३—काव्यमीमांसा ११; साहित्य दर्पण ७, २५; E. W. Hopkins, Epic Mytholygy, p. 20;

नव शक्तियों में से एक माना गया है जिनका सृजन के साथ संबंध है[२४]। इसे वर्षा वाले बादल का रूप भी माना गया है[२५]। इरावत, वर्षा का वह बादल जिसमें पनपाने की शक्ति है उसका देवराज इन्द्र के हाथी के रूप में वर्णन किया गया है। ऐरावत नीचे से पानी खींचता है जिसे इन्द्र वर्षा के रूप में पृथ्वी को देकर उसे हरी भरी बना देता है[२६]। यह भारतीय किसानों का साधारण विश्वास है कि इन्द्र का हाथी ऐरावत समुद्र, नदी और तालाब से पानी खींचता है और उसे वर्षा के रूप में पृथ्वी पर बरसा देता है। कथासरित सागर में कहा गया है कि 'हवा का मस्त हाथी पानी के बूंदों को अमृत की बूंदों की तरह बरसाता इधर-उधर दौड़ने लगा[२७]!'

उपरोक्त प्रमाण ही केवल हमारे मन्तव्य की पुष्टि नहीं करते बल्कि संस्कृत साहित्य से ऐसे अनेकों उद्धरण दिए जा सकते हैं जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि सूर्य और लक्ष्मी वर्षा के प्रधान देवता हैं और कृषि का कल्याण उन पर निर्भर है—आदित्य ज्जायते वृष्टिः,[२८] श्रियो वै पर्जन्यो वर्षति[२९] इत्यादि। उपरोक्त प्रमाणों के बिना पर यह बहुत कुछ निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि कुक्कुट-शीर्ष स्तम्भ उस दैवी वरदान का स्मारक है जबकि सूर्य और लक्ष्मी की उपासना के फलस्वरूप खूब वृष्टि हुई होगी और जनता भीषण अनावर्षण के शिकार होने से बच गई होगी। स्तंभ पर उत्कीर्ण कुक्कुट-स्तंभ के जड़ के पास बैठी हुई लम्बोदर आकृति सिर पर रखे हुए बर्तन से यह संकेत करती है कि दोनों की उपासना ने जनता को धन-धान्य से पूर्ण कर दिया था।

स्तंभ पर उत्कीर्ण कुक्कुट-शीर्ष-स्तंभ और लाला भगत स्तंभ के पास पाई जाने वाली कुक्कुट की प्रतिमा, जो कभी इस स्तंभ के शीर्ष पर सुशोभित होती रही होगी, प्राचीन भारतीय स्तंभों की सूची में कुक्कुट शीर्ष-स्तंभ को और जोड़ देती है। सम्राट् अशोक द्वारा निर्मित स्तंभों के शीर्ष पर सिंह, हाथी, वृषभ, चक्र और घोड़े की आकृतियाँ थीं इसका उल्लेख चीनी यात्री हुयेन चांग ने किया है, पर कुक्कुट-शीर्ष-स्तंभ का उदाहरण इस स्तंभ को छोड़कर और कहीं नहीं मिलता। विचारणीय विषय यह है कि कुक्कुट-शीर्ष-स्तंभ को लक्ष्मी की मूर्ति के साथ क्यों खड़ा किया गया है। हिन्दू धार्मिक गाथाओं से हम कोई ऐसा उद्धरण या प्रमाण नहीं निकाल सकते जो यह सिद्ध कर सके कि लक्ष्मी के साथ कुक्कुट का कोई संपर्क है। संस्कृत में कुक्कुट को उषाकर कहा

२४—महाभारत पर्व १, अध्याय ६०, श्लोक ६३ और ६६।

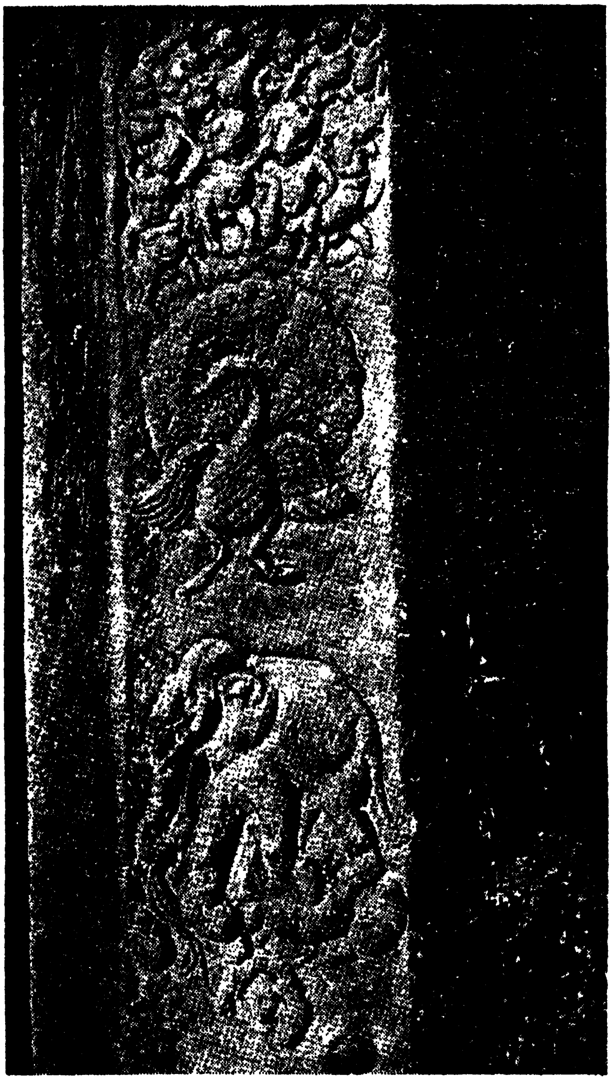
२५—महाभारत, पर्व ६, अध्याय ६५, श्लोक ३४;

२६—महाभारत, पर्व ५, अध्याय ६६, श्लोक ७।

२७—श्री डा० आनन्द कुमार स्वामी के History of Indian and Indonacian Arts से उद्धृत।

२८—रामायण वाल्मीकि, १२, अध्या. २६४, श्लो. ११; २९—शतपथ ब्राह्मण, ७,४,११;

गया है[30] और उषा सूर्य की पत्नी है। श्री और लक्ष्मी को अहोरात्र कहा गया है और उन्हें सूर्य के दोनों पार्श्व में खड़ी रहने वाली उनकी प्रधान पत्नियों के रूप में स्वीकार किया है श्रीश्चते लक्ष्मीश्च



प्लेट ४

३०—शब्दरत्नावली और शब्दकल्पद्रुम, पेज १३३; शायद यह इसलिए है क्योंकि मुर्गा बहुत प्रातःकाल बोलता है। उसके बोलने से ही ऋषि गौतम को उषाकाल हो जाने का भ्रम हो गया था—महाभारत ५, अध्या० १२ श्लोक १ से।

पत्न्यावहोरात्रे[31]। और ऐत्तरेय ब्राह्मण के अनुसार—अहोरात्रे उषा सा नक्ता[32]। (२,४) अहोरात्र का दूसरा नाम है उषा और नक्ता। इन सब के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कभी श्री और उषा एक ही देवता के नाम थे। इस तरह लक्ष्मी के साथ कुक्कुट-शीर्ष स्तंभ यह सोचने का अवसर देता है कि यह स्तंभ उन दिनों की यादगार है जबकि लक्ष्मी और उषा एक ही देवता है[33] यह विश्वास प्रचलित था।

इस स्तंभ पर ब्राह्मी लिपि में दो लेख खुदे हैं। एक लेख है मूर्तियों के साथ और दूसरा है ६ इंच वाले पहलू पर मूर्तिवाले पहलू के बाईं ओर। इन लेखों की लेखन शैली के आधार पर पं० श्री माधव स्वरूप वत्स[34] तथा स्वर्गीय रायबहादुर श्री प्रयाग दयाल जी[35] ने इसे ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का माना है और इसे 'कुमार वर' पढ़ा है। यह कुमार वर कौन थे, इसके विषय में अभी भारतीय पुरातत्व में कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है[36]। जिस टीले पर यह स्तंभ स्थित है उसी पर एक प्राचीन काल का टेराकोटा (मिट्टी की मूर्ति) और ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का मथुरा के क्षत्रप सोडास का एक सिक्का भी मिला है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि कुक्कुट-शीर्ष स्तम्भ का समय ईसा पूर्व प्रथम या द्वितीय शतक है।

३१. वाजसनेयी संहिता, ३१, २२७ अ०; तथा क ३५, २२ अ०।

३२. इसकी तुलना कीजिये शतपथ ब्राह्मण १०,२,६,१६: तैत्तरेय ब्राह्मण, ३,४, १६,४; ऐत्तरेय-ब्राह्मण, ३,४८;

३३. भुम्बादेवी, बंबई, से प्रकाशित एक चित्र में लक्ष्मी के साथ कुक्कुट स्तंभ का चित्र है, इससे जान पड़ता है कि उधर यह विश्वास किसी न किसी रूप में प्रचलित है।

३४. पूर्वोल्लिखित।

३५. पूर्वोल्लिखित पृष्ठ ४०; J. A. S. B., Vol. XXIII, 1929, pl. 12. के साथ तुलना कीजिये।

३६. अरुण ने कुमार कार्तिकेय को एक कुक्कुट भेंट किया था (महाभारत, ९, अध्याय ४५,-श्लोक ५१), क्या यह संभव है कि लेख उसी घटना की ओर संकेत करता है? कुमार कार्तिकेय के साथ कुक्कुट का संपर्क देखा गया है, देखिये Manus. 9 of Cat. Handbook of Indian Museum, part II. p. 337, बनर्जी, Eastern Indian School of Mediaeval Sculptures, pl, LXI, d.

महाराष्ट्र के हरिजन संत

प्रभाकर माचवे

महाराष्ट्र की संत-काव्य-परंपरा पर उसके आसपास के यानी कर्नाटक, तामिलनाड, आंध्र आदि का प्रभाव बहुत पड़ा। 'भक्ती द्राविड ऊपजी, लाये रामानन्द' यह लोकोक्ति भी इसी कारण सार्थक है। रामानन्द उत्तर भारत में आकर बनारस में कबीर आदि के गुरु हुए। प्रो० रा० द० रानडे के मतानुसार श्रीपाद रामानन्द ज्ञानेश्वर के पिता थे। रामानन्द करीब १४०० से १४७० ई० में हुए। यही अपने भक्ति-पन्थ में बैरागियों को, अछूतों को और अहिन्दुओं को लाये। एफ० ई० के० के अनुसार जात-पाँत न मानना रामानन्द पर मुस्लिम प्रभाव का द्योतन करता है। मध्ययुग की समग्र स्वाधीन चिंता के गुरु रामानन्द ही थे ऐसा डा० हजारीप्रसाद जी ने अपनी हिन्दी साहित्य की भूमिका में कहा है। विशिष्टाद्वैती राघवानन्द के शिष्य होने पर भी उन्होंने अपना 'रामावत सम्प्रदाय' चलाया। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'भारतीय मध्ययुगेर' साधना में हरिहरदास की हरिभक्ति प्रकाशिका का एक उदाहरण दिया है जिसके वर्णाश्रम के बंधन न मानने की बात स्पष्ट लिखी है। रामानन्द की परम्परा में सेना नाई, रैदास चमार, कबीर जुलाहा, धन्ना जाट, पीपा राजपूत आदि थे। महाराष्ट्र की संत-नामावली में सेना नाई का नाम मिलता है। उसके पदो में एक अंतर्साक्ष्य है :

आम्ही वारीक वारीक। करूँ हजामत बारीक॥
विवेकदर्पण आयना दावूं। वैराग्य चिमटा हालवूं॥
उदकशांति डोई घोलूँ। अहंकाराची शेंडी पिलूं॥
भावार्थाच्या बगला झाडूं। कामक्रोधनखें काढूं॥
चौवर्णा देऊनी हात। सेना राहिला निवांत॥

(अर्थः हम बहुत बारीक हजामत हर बार बनाते हैं। विवेक दर्पण का आईना दिखाते हैं। वैराग्य का चिमटा हिलाते हैं। उदकशांति सिर पर मलते हैं। अहंकार की शिखा (चोटी) उमेठते हैं। भावार्थ की बग़लें साफ करते है। काम क्रोध के नख काटते हैं। चारों वर्णों को हाथ देकर, सेना शांति से रहा।)

रामानंद की परंपरा का ही यह प्रभाव था कि दर्ज़ी का काम करने वाला वा रास्ते में लूट-पाट करने वाला नामदेव, घर का पिसान, कूटना और महरी का काम करने वाली जनाबाई; मिट्टी के

बर्तन बनाने वाला गोरा कुम्हार; प्याज़ कंद लहसुन मिरची लगाने का बाग़ का काम करने वाला साँवता माली; मकान बनाने का मिस्त्री का काम या मरे हुए ढोर खींचने वाला चोखा महार या मैला; यातिहीन कान्होपात्रा, आदि संतकवियों ने 'वारकरी' पन्थ के रूप में ईसा की तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र को हिला दिया।

दक्षिण भारत में भी नंद या तिरुनलैपोकर नाम का एक 'पराया' जाति का साधु पुरुष तेरहवीं सदी में हुआ। वह बचपन से मृण्मय मूर्तिपूजा करता था। उसकी इच्छा थी तिरुपुनकूर के देवदर्शन वह स्वयम् जाकर करे। वैसे मंदिर के लिए नगाड़े का चमड़ा वह खुद तैयार करता था। एक दिन मंदिर में वह नंदी के पीछे छिप कर देख रहा था तब नंदी कुछ हिला। और आज भी वह नंदी वैसी अवस्था में उक्त शिवमंदिर में है। वह चिदंबर-दर्शन को गया। अधनूर गाँव के लोगों ने उसका भस्मचर्चित रूप देखकर नंद को भूतबाधा हो गई है ऐसा माना। पराया और करुप्पन देवताओं को सौ बकरी, दो सौ मुर्गियाँ और ताड़ी अर्पण करने की बात उन्होंने कही, जिससे दूसरे में भूत आकर बोला। अनावृष्टि से खेत सूख रहे थे। वे वर्षा के और खेती में काम करने के दिन थे। ब्राह्मण जमींदार नंद को देवदर्शन के लिए जाने की अनुमति नहीं देते थे। तब नंद ने शिवनाम लेकर नाचना शुरु किया। दो घंटे में खेत लहलहा उठे। सब लोग यह देखकर चमत्कृत हुए। वहाँ के चिदंबरम् के दीक्षितों को नंद को अग्नि से शुद्ध कर लेने का दृष्टान्त हुआ। अंत में कहा जाता है कि वह शिव में विलीन हो गया। तिरुनीलकण्ठ यलपानार दूसरे हरिजन शैव-संत माने जाते हैं। वैष्णवसंतों में मुनिवाहन तिरुप्पनालवार अन्त्यज माने जाते हैं। वे एक धान के खेत में पड़े मिले ऐसी आख्यायिका है। परंतु गानविद्या में बहुत पटु होने से, उन्होंने निशुलापुरी नामक अछूतों की बस्ती छोड़कर वे श्री रंगक्षेत्र में गये। जैसे यवन हरिदास जगन्नाथपुरी में रहने लगे। वहीं कावेरी के दक्षिणतट पर एक झोंपड़ी बनाकर वे भगवान का नाम गुण कीर्तन करने लगे। एक दिन किसी ब्राह्मण की उन पर दृष्टि पड़ी और उन पर वे बहुत नाराज़ हुए। परंतु तिरुप्पनालवार पर कोई असर नहीं हुआ। वे चुपचाप अपने भजन में लगे रहे। इतने में एक महात्मा उस झोंपड़ी में आये और कंधों पर उठाकर उन्हें ले जाने लगे। यह देख कर वह ब्राह्मण उनके पैरों पर गिरा। मुनिवाहक श्री वत्स के अवतार माने जाते हैं।

संतों के जातिभेद नष्ट करने के महान कार्य को उन से पूर्ववर्ती विचारकों की जाति-वर्णादि के कठोर बंधनों की जकड़बंदी और हमारे स्मृतिकारों के तत्संबन्धी इस्पाती विधान की पार्श्वभूमि में देखना होगा। तभी स्वामी रामानन्द ने अपने 'आनन्द भाष्य' में शूद्रों के वेद पढ़ने के अधिकार को नहीं माना। परन्तु ईश्वरोपासना का अधिकार वे सब को समान भाव से देते हैं। रामानन्द के ही प्रभाव से उसके लिए पहले इतना कठोर वर्णभेद होते हुए संत रैदास इस निस्संकोच भाव से कह सके :

जाती भी ओछी करम भी ओछा कसब हमार।
नीचे से प्रभु ऊँचो कियो है कह रैदास चमार ॥

स्मृतिकारों के विधान में खान-पान और विवाह व्यवहार सम्बन्धी ये बंधन बड़े कड़े थे। उनके विषय में पटना के प्रो० रामशरण शर्मा ने 'मनु याज्ञवल्क्य में शूद्रों की सामाजिक अवस्था' निबंध में बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। उसमें से एक आवश्यक अंश मैं उद्धृत करता हूँ :

'शूद्रों के खानपान के विषय में कहा जा सकता है कि जो तीन वर्णों के लिए निषिद्ध था, उसका व्यवहार वे कर सकते थे। द्विजातियों को सुरा पीने की मनाही थी; क्यों कि पीने पर उन्हें फिर संस्कार प्राप्त करने का नियम है। मनु का कहना है कि एक बार भी मदिरापान करने से ब्राह्मण का ब्राह्मणत्त्व चला जाता है और वह शूद्र की श्रेणी में चला आता है। इसीलिए ब्राह्मण को कभी मदिरापान नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का कथन है कि सुरा पीने पर ब्राह्मणी पतिलोक को नहीं जाती; किन्तु इस लोक में कुत्ती, गीधनी और शूकरी की योनि में जन्म लेती है। 'मिताक्षरा' के मतानुसार यह नियम द्विजातियों पर ही लागू है और यदि वे सुरापान करें तो उन्हें प्रायश्चित करना चाहिए; किन्तु शूद्र भार्या के ऐसा करने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है।'

विवाह-सम्बन्धों पर भी बड़े बड़े प्रतिबन्ध थे। प्रो० शर्मा लिखते हैं कि :

'विभिन्न प्रकार के प्रतिषेधात्मक कार्रवाइयों के होने पर भी उच्चवर्ण और शूद्रों के बीच विवाह-संबन्ध और यौन-संबन्ध अवश्य होते थे, क्योंकि ऐसे लोगों की, जिनका जन्म वर्णसंकर के रूप में हुआ है, एक बहुत बड़ी सूची मिलती है। शूद्रों से उनका स्थान कुछ छोटा है और उन्हें असत् शूद्र बतलाया गया है। मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार इन शूद्रों के नाम दिये जाते हैं—शूद्र-कन्या से ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न पुत्र का नाम 'निषाद' अथवा 'पारशव' और क्षत्रिय के द्वारा उत्पन्न पुत्र का नाम 'उग्र' बतलाया गया है। इस संबन्ध में याज्ञवल्क्य बतलाते हैं कि शूद्र-कन्या से वैश्य द्वारा उत्पन्न पुत्र को 'करण' कहते हैं। शूद्र पुरुष, वैश्य और क्षत्रिय तथा ब्राह्मण स्त्रियों से क्रमशः आयोगव, क्षत्तृ और चांडाल का जन्म होता है। चांडाल मनुष्यों में सबसे हीन है। उसी प्रकार ब्राह्मण के द्वारा 'उग्र' कन्या से 'आवृत' नाम का पुत्र होता है, और अम्बष्ठ-कन्या से 'आभीर' नाम का पुत्र उत्पन्न होता है। ब्राह्मण के द्वारा 'आयोगवी' नामक कन्या से 'धिग्वण' नामक पुत्र होता है। निषाद के द्वारा शूद्रा से उत्पन्न को 'पुक्कस' कहते हैं और निषादी से जो शूद्र के द्वारा पुत्र उत्पन्न होता है वह 'कुक्कुटक' कहलाता है। 'क्षत्तृ' से 'उग्रा' द्वारा उत्पन्न पुत्र 'श्वपाक' कहलाता है और 'वैदेहक' से अम्बष्ठी, के द्वारा उत्पन्न पुत्र को 'वेण' कहते है। उसी प्रकार सूत, वैदेह, चांडाल, मागध, क्षत्तृ तथा आयोगव अपनी अपनी जाति, अपनी माता की जाति और उच्च वर्ण की स्त्रियों के द्वारा सदृशवर्ण को जन्म देते हैं। इस प्रकार के उत्पन्न पुत्र 'हीन' बतलाये गये हैं।

रक्त-मिश्रण तथा वर्ण-मिश्रण के फलस्वरूप और भी बहुत-सी जातियों का जन्म बतलाया गया है। दस्यु के द्वारा आयोगवी से 'सैरन्ध्र' होता है, वैदेह के द्वारा आयोगवी से ही 'मैत्रेयक' पैदा होता है, निषाद के द्वारा 'मार्गव' अथवा 'दाश' जन्म लेता है। उसे आर्यावर्त्त-देश के

रहने वाले 'कैवर्त्त' कहकर पुकारते हैं। निषाद के द्वारा वैदेही से 'कारवार' (चर्मकार) उत्पन्न होता है और वैदेहक के द्वारा कारवार अथवा निषाद स्त्री से क्रमशः 'अन्ध्र' और 'मेद' उत्पन्न होते हैं। वे सब गाँव के बाहर बसते हैं। वैदेह स्त्री से चांडाल और निषाद के द्वारा क्रमशः 'पांडुसोपाक' (बाँस से जीविका करने वाले) और 'आहिण्डक' पैदा होते हैं। निषाद के द्वारा पुक्कसी से 'पापात्मा श्वपाक' का जन्म होता है। यह सदा सज्जनों की निन्दा और घृणा का पात्र है। चांडाल के द्वारा निषाद 'अन्त्यावसायी' का— जो श्मशान में रहकर अपनी जीविका कमाता है—जन्म होता है। इसी प्रकार वर्ण-मिश्रण से दो प्रकार की संतान होती है—अनुलोमज और प्रतिलोमज। अनुलोमज वे हैं जिनके पिता क्रम से ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय हैं और जिनकी माता क्षत्रिया अथवा वैश्य है ऐसे पुत्रों को यज्ञोपवीत का अधिकार है, वे द्विजधर्मी हैं। किन्तु द्विजाति से उत्पन्न सूत आदि पुत्रों की गणना प्रतिलोमज में है; वे शूद्रधर्मी हैं; उनका यज्ञोपवीत नहीं होता है। मनु ने शूद्र के साथ यौन-संबन्ध से उत्पन्न इतनी जातियों का नाम गिनाया है कि पता चलता है—उस समय बाहरी आक्रमण अथवा आंतरिक विप्लव के कारण देश में काफी रक्त-मिश्रण हुआ होगा। मनु का समय ईसवीपूर्व ३०० वर्ष से लेकर २०० ई० तक माना जाता है। इस बीच यवनों, पह्लवों, शकों, कुषाणों आदि ने इस देश पर आक्रमण किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इन नये आक्रान्ताओं के आने से मनु के सामने उन्हें समाज में स्थान देने की, एक नई समस्या खड़ी हुई। वर्ण-व्यवस्था के आधार को सुरक्षित रखते हुए उन्होंने अपने ढंग से इन जातियों की उत्पत्ति का कारण खोजकर निकाला। रोम और ग्रीस के समान भारतवर्ष में भी विदेशियों को समाज में निम्न स्थान मिला और वे शूद्रों की कोटि में रखे गये। इस प्रकार मनु ने बतलाया है कि यज्ञोपवीत आदि क्रियाओं के लोभ से और ब्राह्मणों की अवहेलना तथा प्रायश्चित के नहीं करने से ये क्षत्रिय-जातियाँ धीरे-धीरे इस लोक में शूद्र की श्रेणी में आ गई हैं। इनके नाम हैं पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, और खश। यहाँ हम इस प्रश्न पर नहीं विचार कर रहे हैं कि ये लोग कौन थे इतना कह देना पर्याप्त होगा कि इनमें से अधिकांश विदेशी योद्धा थे और इसलिए मनु ने उनको क्षत्रियों के समान समझा परन्तु चूँकि उनमें से बहुतेरों ने ब्राह्मण स्थापित वर्णव्यवस्था और उनकी सर्वोच्चता को स्वीकार नहीं किया, इसलिए वे शूद्रों की श्रेणी में रखे गये। कुछ समय के बाद, जब उनमें से बहुतों ने बाध्य होकर प्रचलित सामाजिक व्यवस्था को अपना लिया, तो ब्राह्मणों ने योद्धा-वर्ग के रूप में, समाज में, उनके स्थान को स्वीकार किया और आगे जाकर भारतीय इतिहास में राजपूत के नाम से प्रसिद्ध हुए। परन्तु इतना स्पष्ट है कि आर्यावर्त्त की भूमि पर जब उनका प्रादुर्भाव हुआ तो मनु ने उनकी ओर घृणा का रुख अख्तियार किया। कभी-कभी तो वे उन्हें शूद्रों से भी हीन समझते हैं। उनकी ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं कि ये सारी जातियाँ, क्रिया लोप के कारण, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से बाहर हो गई हैं, और चाहे ये आर्य-भाषा बोलें अथवा म्लेच्छ-भाषा, ये सब दस्यु कहे जाते हैं। यहाँ इस पर ध्यान देना चाहिए कि मनु की दृष्टि में भाषा के द्वारा, बोलनेवाले की, जाति निश्चित नहीं होती थी।

मनु ने भी आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है, 'ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच। श्रेष्ठता के अनुसार इनमें ब्राह्म आदि प्रथम चार ब्राह्मणों के लिए हैं, 'राक्षस' क्षत्रिय के लिए है और 'आसुर' शूद्र के लिए है। इस स्थल पर मनु यह नहीं बतलाते हैं कि बाकी दो प्रकार के विवाह किन लोगों के लिए हैं। किन्तु उनके विचारानुसार ब्राह्मण क्रम से छः विवाह कर सकते हैं, क्षत्रिय अन्तिम चार और वैश्य तथा शूद्र के लिए आसुर, गांधर्व और पैशाच—तीन प्रकार के विवाह हैं। यहाँ वैश्य भी शूद्रों की कोटि में रखे गये हैं। धन, विद्या और प्रभाव के कारण उच्च वर्ण के पुरुष अधिक स्त्रियों को रख सकते थे।'

इस समाजिक परिपार्श्व में संतों का कार्य देखने पर उनके अभिभूत साहस, स्पष्टवादिता, निर्भीक स्वाधीन-चिंता और त्यागमय निष्ठा से मन अभिभूत हो जाता है। इस वर्ण व्यवस्था की इस्पाती कारा को तोड़ कर वे आगे बढ़े।

महाराष्ट्र में जो हरिजन संत हुए उनमें पाँच कवि और दो कवयित्रियाँ प्रधान हैं। उनके मूल गुरु ज्ञानेश्वर थे जो स्वयम् जातिभेद न मानने वाले थे। 'मराठी साहित्य का इतिहास' में प्रो० गोडवाले ने उनके बारे में कहा है :

'शूद्रों के लिए भी उन्होंने मोक्ष का मार्ग खोला। वर्णाश्रमधर्म की मूल रचना में हिन्दू-समाज के प्रत्येक अंग का कर्त्तव्य एवं दायित्व नियत था और प्रत्येक जाति को समाज का एक आवश्यक अग माना जाता था, किन्तु मध्ययुग में शूद्रों की अवस्था हिन्दू समाज में अत्यन्त शोचनीय हो रही थी। शूद्र जाति में जन्म लेना ही एक घोर पातक था, किन्तु गीता के आधार पर ज्ञानदेव ने शूद्रों को विश्वास दिलाया :

> या लागी पापयोनीहीं अर्जुना। की वैश्य शूद्र अंगना।
> मातें भजती सद्पा। माझिया येती।

उत्तरी भारत में जो यवनों का आक्रमण हुआ था उससे ज्ञानदेव परिचित थे और यादव-वंशज राजाओं को उन्होंने जताया :

> म्हणोनि स्वधर्म सांडील। तयातें काल दंडील।
> चोर म्हणूनि हरील। सर्वस्व जयाचें।

कर्मकाण्ड के सदोष पथ का हिन्दूधर्म अनुसरण कर रहा था, किन्तु ज्ञानदेव ने उसे लोक-कल्याण के सच्चे कर्म की ओर लगाया। प्रो० फाटक ज्ञानदेव को एक राष्ट्रीय नेता मानते हुये कहते हैं—'उत्तरी भारत में इस्लाम के आने से जो राजकीय आक्रमण और धार्मिक संक्रमण हुआ था उसके कारण साधारण जनता किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रही थी, पर गीता का आधार लेते हुये

ज्ञानदेव ने जनता में आत्मविश्वास का निर्माण किया।' (प्रो० न० र० फाटक: ज्ञानेश्वर आणि ज्ञानेश्वरी)

इस सारी परम्परा में प्रमुख कवि हैं नामदेव। उनके विषय में बहुत अधिकृत जानकारी नहीं मिलती। लक्ष्मण नारायण गर्दे ने 'कल्याण' के सन् १६३८ के संत- अंक में उनके बारे में लिखा था: (पृ० ४६३--६५)

'इनका जन्म सम्वत् १३२७ में कार्तिक शुक्ल ११ रविवार को सूर्योदय के समय हुआ। ये बड़े विट्ठलभक्त थे। वे 'शिंपी' थे। राजपूताने में नामदेव को लोग छींपी कहते हैं। किन्तु वहाँ एक ही जाति के लोग दर्ज़ी और छींपी कहलाते हैं। नामदेव अटारह वर्ष पंजाब में रहे, पीछे पंढरपुर लौट आये। पंढरपुर में श्रीविट्ठल मन्दिर के महाद्वार की सीढ़ी पर सम्वत् १४०७ विक्रमी में अस्सी वर्ष की अवस्था में नामदेव ने शरीर त्यागा।'

श्री विनयमोहन शर्मा ने अपने 'नामदेव और उनकी हिन्दी कविता' लेख (विश्वभारती, त्रयमासिक पत्रिका अप्रैल-जून १६४७; पृष्ठ ८२-६३) में नामदेव की गुरु परम्परा बताते हुए नामदेव के ही शब्दों में कहा है—'हम डा० ईश्वरीप्रसाद के इस मत से सहमत नहीं हैं कि नामदेव पर मुसलमानी प्रभाव पड़ा है। गोरखनाथ को महाराष्ट्र में नाथ-मत के प्रचार का श्रेय दिया जाता है। मराठी में गोरखनाथ का 'अमरनाथ सम्वाद' नामक ग्रन्थ है जिसके दृष्टांत और प्रतीक 'ज्ञानेश्वरी' के उदाहरण और प्रतीक से बिलकुल मिलते हैं। नामदेव के गुरु 'खेचर' प्रसिद्ध नाथपन्थी थे। इस पन्थ के वाह्य चिह्न हैं:

'शैली, शृंगी, कंथा, झोली विभूति लगाया तन मो।
कोटिचंदका तेज झुलत हैं, चलो आपने गत मो॥'

मेखला, शृङ्गी, कन्था, कर्णमुद्रा, कौपीन, पुंगी, व्याघ्राम्बर, खड़ाऊँ और झोली के साथ कान छिदाना भी इनका वाह्याचार है। इसी से इनको 'कनफटा' भी कहते हैं। भिक्षा के समय एकतार बजाते और 'अलख निरंजन' कहते हैं। भोजन के पूर्व पुंगी बजाकर भोजन करते हैं। ये मूर्तिपूजा कर्मकाण्ड, तीर्थ, व्रत एवं ऊँच-नीच-भेद की तीव्र निन्दा करते हैं। वारकरियों ने नाथ-मत की आभ्यान्तर धारा को अपना कर गृहस्थाश्रम में ही भक्ति की सहज-साधना का प्रचार किया।

नामदेव कहते हैं:

'आनीले कागद, काटीले गूडी आकास मधे भरमी अले
पंचजना सिउ बात बतउ आ, चीत सु डारि राखि अले

मनु राम नाम बेधी अले।
आनीले कूंभ भराइले ऊदक राजकुआरि पुरंदरीए

हसत बिनोद बिचारकरति है, चितुसु गागरि राखि अले ।
मंदरु एकु दुआर दस जाके, गऊ चरावन छाड़ि अले ।
पाँच कोस पर गऊ चरावत चीतसु बछड़ा राखि अले ।
कहत नामदेव सुनहु तिलोचन, बालकु पालन पउढ़ी अले ।
अंतरि बाहरि काज बिरूधी, चीतसु बारिकि राखी अले ।

तीर्थ-स्नान की अनावश्यकता पर नामदेव कहते हैं :

तीरथ देखिन जल महि पैसड, जीअ जंत न सतावउगो
अठसठि तीरथ गुरु दिखाए घट ही भीतर नाउगो ।

बंगाल का 'सहजिया-सम्प्रदाय' महाराष्ट्र का वारकरी पंथ ही जान पड़ता है । दोनों का मूल नाथ-पंथ में है ।

ज्ञानदेव ने वारकरी पंथ को महाराष्ट्र से आगे नहीं बढ़ाया । नामदेव ने उसका उत्तर भारत में प्रचार कर कबीर, नानक, रैदास आदि सन्तों के लिये 'निर्गुण-पंथ' की भूमिका तैयार की. पर ज्ञानदेव-नामदेव ने जिस मत को जनता में प्रतिष्ठित किया था उसका बीज आठवीं सदी में ही योगी सिद्धनाथ बो चुके थे ।

महाराष्ट्र ज्ञानकोष के अनुसार वारकरी संतकवि श्री नामदेव कन्हाड (सतारा) के पास नरसिवामणी गाँव में जन्मे—इसे आजकल नये नरसिंहपूर या कोभ नरसिंगपूर कहते हैं । बाप का नाम रामा शेट और मां का गोणाबाई था । अपने जन्म के बारे में वे लिखते हैं :

गोणाई राजाई । दोघी सासूसुनान ।
दामा नामा जाणा । बाप लेक ॥
नारा महादा गोंदा । बिठा चौघे पुत्र ॥
जन्मले पवित्र । त्यांची वंशीं ॥
लाडाई गोडाई । येसा साखराई ।
चौघी सना पाही । नाम दाच्या ॥
लिंबाई ती लेकी । आऊ बाई बहीण ।
दासी बडी जनी । नामयाची ।

पीढ़ियों से चलनेवाले पेशे में नामदेव को जरा भी रुचि नहीं थी । इसलिये बाद में वह विठ्ठलभक्त बना । बिसोबा खेचर नामदेव का गुरु था । बिसोबा खेचर को मूर्तिपूजा मान्य नहीं थी 'पाषाणाचा देव बोले चिना कधीं । हरी भवव्याधि कैंवी घडे ।' (तुकारामतात्याप्रत, अभंग १६१

अमर गाथापंचक नामदेव गाथा, अभंग १५५) यह उपदेश किया। नामदेव कहते हैं—'तुम्हिया सत्ते ने, वेदांसि बोलखो, सूर्यास्ति चला में माहीम्न बाक :

व्रत तप न लगे कंने सर्वथा। तल्मा तुम्हां तीर्था ।
सर्वांभूती लाहे एक वासुदेव। पुसोनिया ठाव अहंते का।
तोचि साधु बोलखावा निका। मरते अईका मायाबद्ध।

अतः करण शुद्धि, नम्रता, आत्मसमर्पण, क्षमा, ईश्वरभक्ति नामदेव के उपदेश का सार है। 'नामदेव' ने हिंदी में भी कुछ अभंग लिखे हैं। सिक्खों के मुख्य आदिग्रन्थ ग्रंथसाहब में नामदेव के अभंग हैं। और सिक्ख नामदेव को बहुत मान देते हैं। पंजाब में गुरदासपुर जिले में घुमना में नामदेव की एक समाधि भी है।

नामदेव के ग्रन्थों की संप्रदायशुद्धगाथाएँ आपटे ने छापी हैं वह अविश्वसनीय है। [या. इ. सं. मं. १८३३] क्योंकि उसमें [१] विष्णुदास नामा [साके १५२७] के अभंग नामदेव के नाम पर कहे गये हैं।

आदि ग्रंथो में भी नामदेव की जो बानी मिलती है उसके विषय में डाक्टर श्रीधर व्यंकटेश केतकर ने (महाराष्ट्र ज्ञानकोष भाग ७ पृष्ठ (आ०) १०७ पर लिखा है कि यह सिक्खों के पाँचवे गुरु अर्जुन ने बाबा नानक और दूसरे धर्म सुधारकों के लेख संकलित करके बनाया। वैसे अर्जुन का काल ईस्वी १५८१ से १६०६ है, परन्तु इस ग्रन्थ में बाद में तेगबहादुर के पद और गुरु गोविन्द सिंह का एक दंहा इसमें जोड़ा गया। आदिग्रन्थ में साधारणतया सिक्खगुरू भगत और भट्टों को बानी एकत्रित है। भगतों में निम्न लोगों की रचनाएँ है :

वेणी, भीकन, धन्ना, फरीद (शेख), जयदेव, कबीर, नामदेव, पीपा, रामानन्द, रविदास, सधना सैणु, सूरदास, त्रिलोचन।

नामदेव इनमें पहला मराठी अभंग कवि है और वही इस ग्रन्थ का सबसे पुराना लेखक जान पड़ता है। कबीर के दोहे जो इस ग्रन्थ में हैं। वे तो सर्व प्रचलित ही हैं। गीतगोविन्द का रचियता जयदेव अद्वैत की ओर मुड़ा। रामानुज सम्प्रदायी रामानन्द और भक्त सूरदास के भी अध्यात्म पर पद इस ग्रन्थ में जोड़े गये।

सिक्ख पंथ और महाराष्ट्र के भागवत पन्थ का निकट सम्बन्ध है। ज्ञानेश्वर के पिता विट्ठल कबीर और नानक दोनों ही रामानन्द के शिष्य थे और वे इस तरह से गुरु बन्धु थे। नामदेव उनका आदिकवि था।

ग्रंथारम्भ में जप या जपजी का, सोदर 'आस और अजूरी रागमें साथं प्रार्थना' सोपुरखु सोहिला, गोरी, आस और धनासरी रागों में सोने से पहली की प्रार्थना' आदि उपासना संग्रह है

राग ग्रन्थ का मुख्य भाग है। वे ३१ हैं। पहले चार राग उसमें महत्त्व के हैं। बाद में पुनरावृत्ति विशेष है। अन्त में भोग है जिसमें अनेक भाषाओं के कवियों की रचनाओं की पचमेल खिचड़ी है। उदाहरण के लिए नामदेव ने पुरानी मराठी में रचना की तो त्रिलोचन ब्राह्मण ने नामदेव का अनुकरण किया है। जयदेव की भाषा संस्कृत और आधुनिक हिन्दी का संमिश्रण है। कबीर और उनके शिष्यों ने पुरानी हिन्दी में लिखा है।

ग्रन्थ छन्द भी प्राचीन प्राकृत के समान हैं या कुछ नये बनाये गये हैं। उदाहरणार्थ— दोहरा, दुपदा, त्रिपदा, चौपदा, पंचपदा, अष्टपदी, श्लोक, डरवणा, छन्ट पउरी, सवाईया और गाथा वृत्त मिलते हैं। भाषा के उदाहरण हैं :

श्लोक :

कतंच माता कतंच पिता कतंच बनिता बिनोद सुतहं ॥
कतंच भ्रात मीत हित बन्धव, कतंच मोहु कुटुम्ब ते ॥
कतंच चपल मोहिनी रूपं पेखंते त्यागं करोती ॥
रहंत संग भगवान सिमरनु नानक लब्ध्यं अच्चुत तमह्

गाथा :

कपुर पुहुप सुगंधा, पास मानुख्य देहं मलीयं ॥
मज्जा रुधिर दुरगंधा नानक अथि गरबंण अग्यातणं ॥

नामदेव के बाद के महत्त्वपूर्ण हरिजन संतों में गोरा कुम्हार, सांवता माली और चोखा मेला थे। इनमें पहले दो के बारे में लक्ष्मण नारायण गर्दे ने परिचय दिये हैं :

'श्रीज्ञानेश्वरकालीन संतों में वयस में सबसे बड़े गोराजी कुम्हार थे। इनका जन्म तेरढोकी स्थान में संवत् १३२४ में हुआ। इन्हें सबलोग 'चाचा' कहा करते थे। ये बड़े विरक्त, दृढ़ निश्चयी और ज्ञानी भक्त थे। इनकी दो स्त्रियाँ थी। भजनानन्द में तल्लीन होना इनका ऐसा था कि एक बार इनका एक नन्हा बच्चा इनके उन्मत्त नृत्य में पैरोंतले कुचलकर मर गया, पर इन्हें इसकी कुछ भी सुध न हुई! इससे चिढ़कर इनकी सहधर्मिणी संती ने इनसे कहा कि अब आज से आप मुझे स्पर्श न करें। तबसे इन्होंने उन्हें स्पर्श करना सदा के लिए त्याग ही दिया। संती को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और बड़ी चिन्ता हुई कि इन्हें पुत्र अब कैसे हो, और कैसे इनका वंश चले। इसलिए उन्होंने अपनी बहन रामी से इनका विवाह करा दिया। विवाह के अवसर पर श्वसुर ने इन्हें उपदेश किया कि दोनों बहनों के साथ एक-सा व्यवहार करना। बस, इन्होंने नवविवाहिता को भी स्पर्श न करने का निश्चय कर लिया। एक रात को दोनों बहिनों ने इनके दोनों हाथ पकड़ कर अपने बदनपर रक्खे। इन्होंने इन दोनों हाथ को पापी समझकर काट डाला। इस तरह की कई बातें इनके विषय में प्रसिद्ध हैं। काशी आदि की यात्राओं से लौटते हुए श्रीज्ञानेश्वर-नामदेवादि संत इनके यहाँ ठहर गये थे। सब संत

एक साथ बैठे हुए थे पास ही कुम्हार की एक थापी पड़ी हुई थी । उसपर मुक्ताबाई की दृष्टि पड़ी उन्होंने पूछा, 'चाचा जी ! यह क्या चीज है ?' गोरा जी ने उत्तर दिया, यह थापी है, इससे मिट्टी के घड़े ठोंककर यह देखा जाता है कि कौन घड़ा कच्चा है और कौन पक्का ।' मुक्ता बाई ने कहा, 'हम मनुष्य भी तो घड़े ही हैं, इससे क्या हम लोगों की भी कच्चाई पक्काई मालूम हो सकती है ?' गोराजी ने कहा, हाँ, हाँ, क्यों नहीं ।' यह कहकर उन्होंने थापी उठायी और एक-एक संत के सिर पर थपकर देखने लगे । और संत तो यह कौतुक देखने लगे, पर नामदेव बिगड़े । उन्हें यह संतों का और अपना भी अपमान जान पड़ा । गोराजी थपते-थपते जब इनके पास आये तो इनको बहुत बुरा लगा । गोराजी ने इनके भी सिर पर थापी थापी और बोले, संतों में यही घड़ा कच्चा है' और नामदेव से कहने लगे' 'नामदेव ! तुम भक्त हो, पर अभी तुम्हारा अहंकार नहीं गया; जबतक गुरु की शरण में नहीं जाओगे तबतक ऐसा ही कच्चे रहोगे ।' नामदेव को बड़ा दुःख हुआ । वे जब पण्ढरपुर लौट आये तब उन्होंने श्री विठ्ठल से अपना दुःख निवेदन किया । भगवान् ने उनसे कहा 'गोराजी का यह कहना तो सच है कि श्रीगुरु की शरण में जबतक नहीं जाओगे, तबतक कच्चे रहोगे । हम तो तुम्हारे सदा साथ हैं ही; पर तुम्हें किसी मनुष्य देहधारी पुरुष को गुरु मान कर उसके सामने नत होना होगा, उसके चरणों में अपना अहंकार लीन करना होगा ।' भगवान् के आदेश के अनुसार नामदेव जी ने श्रीविसोबा खेचर को गुरु माना और गुरूपदेश ग्रहण किया । अस्तु, इस प्रकार गोरा जी कुम्हार बड़े अनुभवी, ज्ञानी, भक्त और संत थे । उनके अभंगों में वेदान्त के पारिभाषिक प्रचुरता से आये हैं । और अनाहत ध्वनि, 'सतरहवीं का उदक' 'खेचरीमुद्रा' आदि अनुभव के संकेत भी मिलते हैं ।

गोरा कुम्हार के बारे में मुक्ताबाई का एक मराठी पद है :

'गोरा जुनाट पैं जुना ।
हाती थाप टणें अनुभवाचें ।।
परब्रह्म म्हातारा निवालाला अंतरी ।
वैराग्याचे वरी पाल्हाललला ।।
सोहं शब्दें विरक्ति उरली ।
पाती अणुभरी पाहिलें पणा ।।
म्हणे मुक्ताबाई घालूं या लोटांगणा ।
जाऊं या शरण अव्यक्तासी ।।'

[गोरा पुराना बूढ़ा, पर उसके हाथों में अनुभव की थापी है । बूढ़ा परब्रह्म अन्तर में शीतल है । वैराग्य पर वह रीझ गया है । सोहं शब्द में विरक्ति बँची है, अणुभर प्रथम रूप पाते हैं । मुक्ताबाई कहती है हम साष्टांग नमस्कार करें और अव्यक्त की शरण जायें ।]

गोरा कुम्हार की तरह से ही साँवता माली भी एक महत्त्वपूर्ण संतकवि है । वे भी अपढ़ थे । गर्दे जी उनके बारे में कहते है :

'पण्ढरपुर से दस-बारह मील पर अरणभेंडी नामक एक ग्राम है। सांवता यहीं के रहने वाले थे, इनका जन्म शाके ११७२ में हुआ था। इनके पिता का नाम परसुबा और माता का नांगिता-बाई था। ये माली का काम करते और वनमाली श्री विट्ठल को भजते थे। एक बार श्री ज्ञानेश्वर जी और श्री नामदेवजी श्री विट्ठल भगवान् के संग संत कूर्मदास से मिलने जा रहे थे। अरणभेंडी स्थान के समीप जब आप लोग आये तब भगवान् ने इन दोनों महात्माओं से कहा कि 'तुम लोग जरा ठहर जाओ, मैं अभी साँवता से मिलकर आता हूँ।' यह कहकर भगवान् साँवता के पास पहुँचे और बोले, 'साँवता! तू मुझे जल्दी कहीं छिपा दे, दो चोर मेरे पीछे पड़े हैं।' साँवता ने तुरन्त खुरपे से अपना पेट चीरा और उसमें भगवान् को छिपा कर ऊपर से एक चादर ओढ़ ली। इधर ज्ञानदेव जी और नामदेव जी भगवान् की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जब बहुत काल बीत गया तब दोनों साँवता के यहाँ गये। साँवता नाम में मग्न थे, इससे यह निश्चय हो गया कि भगवान् यहीं कहीं छिपे हैं। ज्ञानदेव जी और नामदेव जी दोनों ने साँवता भैया से प्रार्थना की कि 'भाई भगवान् के दर्शन तो करा दो।' साँवता ने भगवान् को बाहर निकाला। तब सभी प्रेम से गद्गद हो गये। साँवता सर्वत्र सब पदार्थों के अन्दर एक भगवान् को ही देखा करते थे। भगवन्नाम में भी उनकी बड़ी विलक्षण निष्ठा थी। एक अभंग में उन्होंने कहा है—'नाम का ऐसा बल है कि मैं अब किसी से भी नहीं डरता और कलिकाल के सिर पर डंडे जमाया करता हूँ। वि॰ल नाम गाकर और नाच कर हम लोग उन वैकुण्ठ-पति को यहीं अपने कीर्तन में बुला लिया करते हैं। इसी भजनानन्द की दिवाली मनाते हैं और चित्त में उन वनमाली को पकड़कर पूजा किया करते हैं। साँवता कहता है कि भक्ति के इस मार्ग पर चले चलो, चारों मुक्तियाँ द्वार पर आ गिरेंगी।' साँवताजी ने शाके १२१७ के आषाढ़ कृष्णा १४ को समाधि ली।

इस संतमालिका में सबसे शानदार हैं चोखा मेला या महार। ये धेड़ भी कहलाते हैं। धेड़ जाति के विषय में जो जानकारी मिलती है वह इस प्रकार है :

'गुजरात, राजपूताना, काठियावाड़ और कच्छ में धेड़ लोग हैं। संख्या १६११ में १ लाख १८ हज़ार थी। इनमें महार नहीं आते। कराची के धेड़ अपने को राजपूत कहते हैं। यह मूलतः अनार्य जाति के हैं। मोटा-झोटा कपड़ा बुनना, भारवहन और कभी-कभी राह दिखना इनके पेशे हैं। इनकी १४ उपजातियाँ हैं। मातंग सब में श्रेष्ठ समझे जाते हैं। दीपक के आसपास वधूवर प्रदक्षिणा करते हैं। शादी गारुडी (सपेरे) जैसी उन्हीं के द्वारा होती है। विधवा का पुनर्विवाह होता है। मांसाहारी हैं; गौ-भैंस का मांस भी खाते हैं। कोरी, पारधी, भंगी इन लोगों के हाथ का अन्न नहीं खाते। मुसलमान हज्जाम को छोड़कर सब मुसलमानों के हाथ का अन्न खाते हैं। इनके देवता गणपति माता, मारुति और नरसिंह हैं। कच्छ के मघयवाल ब्राह्मण इनके हाथ का खाना खाते हैं। गुजरात के पहाड़ी इलाकों में धरद लोगों और दक्षिण कर्नाटक के दाएदे लोगों का धेड़ों से बड़ा साथ है। उनमें चावड़ा, चासिया, चौहान आदि उपनाम होते हैं। मारवाड़ में मारुधेड़ और महाराष्ट्र के महार धेड़ होते हैं। चासिया, कुसिया के अलावा दस और भेद होते हैं। ये युरोपीय और पारसियों के संसर्ग से गोरे होते जा रहे हैं (बॉम्बे गॅजेटियर पु० भाग १, पृ० ३३६)। ये

युरोपियनों के यहाँ चपरासी, सईस और बावर्ची का काम करते हैं। धेड़ स्त्रियाँ सुन्दर सुघर होती हैं। भाषा अशुद्ध गुजराती है। स्त्रियाँ गले में किड़िया या काँच की मणिमालायें पहनती हैं। नाक में काँच की मोरनियाँ और हाथों में हस्तिदाँत की चूड़ियाँ और पैरों में चाँदी के कड़े पहनती हैं। वे मरे जानवर घसीट कर ले जाते हैं। धेड़ लेव और देव दो भाइयों के वंशज माने जाते हैं। पहले थूकने के लिये ये मटकियाँ गले में बाँधते थे और रास्ते में जो पैरों के निशान उभरते थे, उन्हें मिटाने के लिए हाथों में वृक्षों की टहनियाँ ले जाते थे। अधिकतर धेड़ बीजमार्गी, कबीरपंथी और रामानंदी है। कुछ हरिबाबा के अनुयायी और कुछ स्वामीनारायणपंथी हैं। उनके कुल देवता नहीं होते। उनके देवालय गाँव के बाहर होते हैं। बच्चे का नाम पाँचवें दिन रखते हैं। इनमें खिमो और शिवो दो साधु हो गये (बाम्बे गॅज़ेटियर पु० ६ भा-१; सेन्सस आफ इंडिया १६११; पु० ७। अलोनी—लग्नविधि और समारोह।)

इस जाति का यह आज का रूप है। पता नहीं चोखा मेला के समय में क्या दशा रही होगी। उस समय चोखा ने कहा था :

हीन याती माझी देवा।
कैसी घड़े तुझी सेवा॥
मजदूर-दूर हों म्हणती।
तुज भेटू कवण्या रीति॥
माझा लागताची कर।
सिंतोडा घेताती करार॥
माझा गोविंदा गोपाला।
करुणा भाकी चोखा मेला॥

[अर्थ : मेरी जाति हीन है। हे भगवान! तेरी सेवा कैसे करूँ? मुझे दूर-दूर होने के लिए कहते हैं। तुझे किस तरह से मिलूँ? मेरा हाथ लगते ही ये सवर्ण नहाते हैं। हे मेरे गोविंदा गोपाला! चोखामेला करुणा माँगता है।]

'संत काव्य समालोचना' ग्रंथ के लेखक प्रो० गं० ब० ग्रामोपाध्ये के अनुसार उस समय महारों का काम लगान वसूली भी होता था, उसके विषय में चोखा ने एक रूपक लिखा था :

कोपटी तलपठी गाई
हाडाची बेडी पडेल पायी।
तोंड चुकविलीं इज्जत जाई।
मग यांबोलिया।
काय जी माय बाप।
ओहत पाटील बाजी।

घावड़ी चलाना काजी ।
ऐसे सांगत आलों आजी ।
बहुत बाकी थकली जी ।
की जी माय बाप ॥

हिमायत ये थें न चले काही ।
दुस्तर वार्ता पुढें भाई ।
घरते पाय खाली डोई ।
नव महीने हौईल की जी माय बाप ॥

दासी जनाबाई के अभंग बहुत भावपूर्ण हैं। परन्तु उनमें तत्कलीन समाज स्थिति के अंदाज कम मिलते है। इन्हीं संतो पर अर्हत्, अवधूत आदि संप्रदायों की छाया पड़ी। और अलखनामी वैरागी भी इन्हीं से निकले। अतः उनके विषय में कुछ जानकारी जो कई ग्रंथों से प्राप्त हुई, मैं परिशिष्ठ रूप में इस लेखक अन्त में दे रहा हूँ :

१. अर्हत्

'अर्हत्' पहुँचे हुए व्यक्तियों को कहते थे। वेदोत्तर काल में ब्राह्मण से अध्यात्मिक उच्चता में समानता का अधिकार बतलाने वाले अर्हत् कहलाने लगे। वेदों में अर्हत् अग्निविशेष है (ऋ० ६, ६४, १.) जैन, बौद्ध दोनों ने इस शब्द का उपयोग किया है। आरम्भिक बौद्धग्रन्थों में निर्वाण की अन्तिम अवस्था के अर्थ में पालि भाषा का 'अर्हत्' प्रयुक्त हुआ है। 'मग्गफलत्थ' उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता था। जिसमें सम्यक् दृष्टि सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् सम्यक् कर्मान्त, सम्यकं आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, तथा सम्यक् समाधि हो। इस अष्टमार्ग में जिसने परिपूर्णता प्राप्त की हैं (संयुक्त ४, ५१; पुग्गल, ७३)। अर्हत् दुष्ट मनोविकारों से दूर रहता है (मज्झिम, १, २१०)। विनयपत्रिका में कहा गया है कि बौद्ध के पहले पाँच शिष्यों को सचेतन प्राणियों में बसने वाले पाँच शरिरिक और मानसिक गुणसमूहों में अनात्मता दिखाई दी तब वह अर्हत् बना (१, १४)। थरगाथा (२६६) में कहा गया है कि राहुल ने इंद्रिय-भोगेच्छा, पुनर्जन्म और अज्ञान इन तीन आसवों पर विजय प्राप्त की तब वह अर्हत् बना। प्रत्येक अर्हत् को संबोधि प्राप्त होती है। संबोधिक सात सात होते हैं—स्मृति, धर्मविजय, बल, प्रीति, शान्ति, एकाग्रता और समाधि। बुद्ध जब जीवित थे तब के अर्हत् पुरुषों के लिखे २६४ सूक्त और अर्हत् स्त्रियों के लिये ७३ सूक्त मिलते हैं। इनमें से १५ को तीन 'विज्जा, प्राप्त थी। अंगुत्तर-निकाय १–४५२ में ऐसे अर्हतों की सूची है। दीघनिकाय में तेरह संवादों में से दस में अर्हत् का विवेचन है। बुद्ध को जो तत्त्व उपलब्ध हुए थे वे ये थे : वस्तु, स्मृत्युपस्थान, चासूमम्मप्पाधान-चतुःऋद्धिपाद। पंच-अभिज्ञा, पंच-इंद्रिय, पंचबल, सप्तबोधि और अष्टांगमार्ग।

विनयपीटक[२–२४०]में सात समुदायों को धम्म विनय के रत्न कहा गया है। ये सब मिलकर १७ गुण बनते हैं। वे ही अर्हतपद प्राप्त मनुष्य के अन्तर्शान के मार्ग हैं। ईसा की तीसरी शती के बाद कोई अर्हत् बना हो ऐसा उल्लेख नहीं। मज्झिमनिकाय में ११२ वें संवाद में नये अर्हत् पदेच्छु से छः प्रश्न पूँछते थे। इनके जो सही जवाब दे वही अर्हत् कहलाता था ललितविस्तर या महावस्तु में यह शब्द कहीं-कहीं मिलता। केवल बुद्ध या उसके आरम्भिक शिष्यों का विशेषण यह शब्द माना गया हैं। दिव्यावदान में यह शब्द पुराने अर्थ में प्रयुक्त है (अशोक के भाई वीताशोक की कथा में) सद्धर्मपुण्डरीक में यह शब्द १५-२० बार आया है, परन्तु वहाँ बुद्ध से अर्हत् की स्थिति कम मानी गई है।

(२) अवधूत

'अवधूत' के सम्बन्ध में महाराष्ट्र ज्ञानकोश खंड ७, पृष्ठ (अ) ५८३ पर यह जानकारी मिलती है—ज्ञानेन्द्रसरस्वती अवधूत सातारा जिला में विटे गाँव के कुलकर्णी थे। वे चैतन्य संप्रदायी थे, इनका पूर्वनाम भैरव था। ज्योतिलिंग और यमुनाबाई के ये पुत्र थे। इनके ग्रंथों के कारण ज्ञानसागर नाम उन्हें दिया गया। उनकी गुरुपरंपरा इस प्रकार से थी :

कृष्ण चैतन्य
|
तुलसी
|
अद्वय
|
चिद्घन
|
नागेश — नराबाई
नराबाई
|
शिव चैतन्य — ज्योतिलिंग
ज्योतिलिंग
|
अवधूत (१७३४ शाके से पूर्व

इनका कुलदेवता क्षेत्रपाल, गोत्र विश्वामित्र और ग्रन्थ ज्ञानसागर था जिसका रचना काल शक १७३४ और ज्ञानसागरानन्द का रचना-काल शके १७६४ माना गया है।

(२) निरंजन के मूल पुरुष चितोत्पत्ति थे। वे चिता से निकले ऐसी आख्यायिका वि[illegible] है। उनके पुत्र सिद्धेश्वर, उनके पुत्र विश्वेश्वर, और उनकी परम्परा में श्रीधर और श्यामराव मि[illegible]

हैं। अवधूत अपना गुरु गोविन्द मानते हैं। स्वयं को अवधूत गिरिराज कहते हैं। इनके ग्रंथ हैं: कपिलगीता, मूलस्तंभ, अभंग, फटके आदि। रचनाकाल शके १६३०।

अवधूत एक साधु विशेष के वर्ग का भी नाम है। उसे औघूत, अब्धूत, अतीत भी कहते हैं। अवधूत और अतीत में कुछ अन्तर है। अतीत दुनिया से गया हुआ पुरुष है तो अवधूत वह है जिसने जात-पाँत तोड़ दी है या फेंक दी है। अवधूतों में शैव और वैष्णव दोनों पंथ के लोग मिलते हैं। परन्तु अतीत अधिकांश शैव होते हैं। परन्तु रिस्ले के 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ़ बेंगाल' के अनुसार बिहार में कुछ वैष्णव अतीत भी मिलते हैं।

शैव अवधूत अत्यन्त विरक्त होते हैं। कम से कम कपड़े पहनते हैं और खुले अंगों को मिट्टी मल कर जटा बढ़ाते हैं। मौनव्रताचरण करके भिक्षा पर निर्वाह करते हैं। धूनी रमाते हैं। कनफटे जोगियों के संप्रदाय का आदि पुरुष गोरखनाथ को अवधूत भी अपना गुरु मानते हैं। 'गोरखबोध' और 'गोरखनाथ की गोष्ठी' में गोरख को अवधूत उपपद लगाया गया है। बहुत से अवधूत दत्त को अपना उपास्य मानते हैं।

वैष्णवों में रामानन्द ने रामानुज के अनुयायियों में जातिभेद आदि छुड़वाकर बड़ा सुधार किया तब उन्हें 'अवधूत' उपाधि दी। रामानुजी अवधूत राम और हनुमान को बहुत मानते हैं। हापकिन्स (रिलिजन्स आफ इंडिया) और क्रुक्स (दि ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज़ एण्ड औध, १८९६) के अनुसार अवधूत शब्द सब प्रकार के जातिबंधनों से मुक्ति दर्शाने के लिए प्रयुक्त होता है।

(३) अलखनामी

अलखगीर या अलखिया भी इन्हें कहते हैं। अलक्ष्य नामन्, अलक्ष्यगिरि मूल रूप होंगे। दसनामी शैवपंथक गोसाईं जाति के नाम है। उत्तर भारत के कई शैव बैरागी यह नाम प्रयुक्त करते हैं। 'अलख जगाने वाले' कहलाते हैं। ये अलखिया गोरखपंथियों की तरह कनफटे नहीं होते। परमात्मा इनके मतानुसार अगोचर है। मेजर पौलेट कृत गॅजेटियर आफ़ बीकानेर (प्र० १८७९) के अनुसार बीकानेर का अलखगीर पंथ एक चमार ने स्थापित किया था। उसके अनुयायियों को लालगीर भी कहते हैं। वे मूर्तिपूजा के विरोधी थे, अलक्ष्य की उपासना अपने अनुयायियों से करायी। ये हिंसा के विरोधी, दानधर्म करने वाले, परलोक या मरणोत्तर अवस्था न माननेवाले लोग हैं। शरीर के साथ सब नष्ट हो जाता है। शरीर भी पंचमहाभूतों में विलय हो जाता है, ऐसा उनका मत था। स्वर्ग-नरक, सुख-दुख मनुष्य में इसी जन्म में होता है। अलखिया की वेशभूषा विचित्र होती है। बदन में लम्बा कम्बल का अंगरखा, सिर पर गोल या नोकदार टोपी। वे भीख नहीं माँगते। किसी के दरवाज़े पर जाकर 'अलख कहो! अलख को लख्यो!!' एक खास आवाज़ में चिल्लाते हैं। तब भीख किसी

ने दी तो ले लेते हैं। वर्ना चले जाते हैं। लालगीर के काल का पता नहीं लगता। शंकराचार्य के शैव शिष्य 'जीर' उपनाम लगाते थे। तुलसी के एक पद में अलखिया से उसके हुए वाद-विवाद का उल्लेख है। अलखिया के सदृश एक अर्वाचीन पंथ मुकुन्ददास का १८५० ई० में उड़ीसा में मिलता है। १८७५ में मुकुंददास मर गया तब संबलपुर में इस पंथ के थोड़े अनुयायी बचे हैं। (संदर्भ—एच.एच. विल्सन—एसेज़ आन दि रिलीजन आफ़ हिंदूज़, इं-अं-पु० २२ (नोट्स आन तुलसीदास); प्रेसीडिंग्ज़ आफ दि बंगाल एशियाटिक सोसायटी (१८८०); ग्रीयर्सन का ए-रि-ए. में अलखनामी लेख।

इस प्रकार के कई पंथ हैं जिनकी विस्तार से चर्चा यहाँ अनावश्यक है। परन्तु महाराष्ट्र में और अन्यत्र जातिभेदहीन समाज को माननेवाले इन सन्तों का कार्य बहुत महान् कार्य रहा है। उसका नये सिरे से अध्ययन, समाज-शास्त्र और मानववंश-शास्त्र की वैज्ञानिक तुला पर तोल कर होना चाहिये।

भारत की विदेश नीति

मदनगोपाल

भारत को स्वतंत्र हुये केवल पाँच छः वर्ष हुए हैं अभी यह कहना तो कठिन है कि देश की विदेश नीति की परम्पराएँ पक्की हो गई हैं। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि धीरे-धीरे भारत की विदेश नीति का ढाँचा बन रहा है।

भारत की पराधीनता में तो हमारा दुर्भाग्य था परन्तु स्वाधीनता मिलने पर यह सौभाग्य की बात थी कि विश्व में हमारे देश का कोई शत्रु नहीं था। सारे देशों का हमारे प्रति मैत्री-भाव था। भारत के वर्तमान कूटनीतिक सम्बन्धों का उत्तरदायित्व हमारे पर ही है।

हमारी विदेश नीति का आधार उन सिद्धांतों पर है जिनकी घोषणा स्वाधीनता से पूर्व कांग्रेस ने की थी। दूसरे शब्दों में हमारी विदेश नीति की नींव आदर्शवाद है। इसी नींव पर हम राष्ट्रीय सम्पन्नता का प्रसाद खड़ा कर रहे हैं। हमारी विदेश नीति आदर्शवाद और वास्तविकता का सम्मिश्रण है।

भारतीय विदेश नीति के चार मुख्य अंग उल्लेखनीय हैं :

(१) पराधीन देशों के (विशेषतया एशिया और अफ्रीका महाप्रदेशों के) स्वतन्त्रता संग्राम का समर्थन ;

(२) मानव जाति के मूल सिद्धान्तों का अनुसरण ;

(३) एशियाई देशों से मैत्री; और

(४) विश्व में शान्ति स्थापित करना।

अभी तक एशिया के कई देश और लगभग सारा अफ्रीका, साम्राज्यवाद के शिकंजे में जकड़े पड़े हैं। वहाँ स्वाधीनता संग्राम जारी है। और जहाँ कहीं स्वतन्त्रता संग्राम जारी है वहाँ भारत ने पराधीन जातियों के मानव अधिकारों का समर्थन किया है।

हिन्देशिया के स्वाधीनता संग्राम में तो भारत ने विशेष भाग लिया। अमेरिका हालैंड को हवाई जहाज़, टैंक, बन्दूकें और अन्य शस्त्र दे रहा था। इन्हीं शस्त्रों को हालैंड हिन्देशिया भेजता और इनका ही प्रयोग कर डच सेना हिन्देशिया के निवासियों पर अत्याचार कर रही थी। भारत ने

निर्भीकता से डच अत्याचारों के विरुद्ध आवाज़ उठाई। दिल्ली में एशियाई देशों का एक समारोह बुलाया गया, जिसने हिन्देशिया के स्वाधीनता संग्राम का समर्थन किया। अन्त में हिन्देशिया स्वतन्त्र हुआ और उसने खुले शब्दों में अपने को भारत का ऋणी स्वीकार किया।

ऊटाकमन्ड में हुए 'एकाफे' के समारोह में भारत ने प्रस्ताव रखा था कि हिन्दचीन की दोनों सरकारों को (हो-ची-मिन्ह और बाओ दाई द्वारा बनाई गई फ्रांसीसियों के हाथ में कठपुतली सरकारों को) इसमें भाग लेने का अवसर मिलना चाहिये।

कुछ कारणों से (जिनका शीतयुद्ध से विशेष सम्बन्ध है) विवश मलय और हिन्दचीन के स्वतन्त्रता संग्राम में भारत उनकी सहायता नहीं कर पाया है।

अफ्रीका महाप्रदेश में लीबिया को स्वाधीनता दिलाने के लिये भारत ने पूरी कोशिश की। जब ट्यूनीसिया और मोरक्को में फ्रांसीसी दमन चक्र चला तब भी भारत ने इसकी स्वाधीनता के प्रश्न को संयुक्तराष्ट्र संघ के सामने रखा।

मानवता के सिद्धान्तों पर भारत टस से मस नहीं हुआ। जब दक्षिण अफ्रीका ने दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका को हड़प किया तब भारत ने इसका विरोध किया और माँग की कि वहाँ जनमत हो। असफलता का उत्तरदायित्व संयुक्तराष्ट्र की अपनी कमज़ोरी थी।

दक्षिण अफ्रीका में एशियाई लोगों के प्रति वर्णभेद की जो नीति अपनाई जा रही है उसका भी भारत ने ज़ोर से विरोध किया और इस प्रश्न को भी संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने रखा।

भारतीय प्रस्ताव का सम्बन्ध केवल प्रवासी भारतीयों से ही नहीं था। बल्कि सारे एशियाई देशों से। एशियाई ही क्यों अफ्रीकियों का भी इससे सम्बन्ध था। दिसम्बर १९५२ में संयुक्तराष्ट्र संघ ने भारत के आग्रह पर एक कमीशन की नियुक्ति की जो वर्णभेद कानूनों की जाँच करेगी।

भारतीय सभ्यता का आधार सहनशीलता पर है १९४७ की काली घटनाओं को छोड़ कर भारतीय इतिहास में कोई उदाहरण नहीं मिलता, जहाँ भारतीयों ने सहनशीलता न दिखाई हो। भारत हिटलरी सिद्धान्तों का समर्थन नहीं कर सकता।

एशियाई देशों से भारत का पुराना सम्बन्ध रहा है। गत चार पाँच वर्षों में इस संबन्ध को घनिष्ठ करने का प्रयत्न किया गया है। हिन्देशिया के स्वाधीनता संग्राम में भारत ने जो भाग लिया उसका हमने ऊपर उल्लेख किया है। बरमा में भी जब आतंक बढ़ा तो भारत ने श्री नू की सरकार को सहायता देने पर रज़ामन्दी प्रकट की।

भारत के प्रधानमंत्री श्री नेहरू के हिन्देशिया दौरे के परिणाम स्वरूप भारत, बर्मा और हिन्देशिया की विदेश नीति में बहुत थोड़ा अन्तर है। इसके तीन उदाहरण महत्वपूर्ण हैं—कम्युनिस्ट चीन और कोरिया युद्ध की ओर नीति और जापानी शान्ति सन्धि।

चीन की वास्तविक सरकार को संयुक्त राष्ट्र संघ में शामिल करने के लिए भारत ने इतना प्रयत्न किया, जितना रूस को छोड़कर, किसी अन्य देश ने नहीं किया। इसी प्रयत्न के कारण भारतीय अमेरिकी मैत्री सम्बन्ध इतने घनिष्ठ नहीं बने रहे जितनी आशा थी।

कोरिया में युद्ध छिड़ जाने पर भारत ने और उसके साथ-साथ अन्य कई देशों ने प्रयत्न किया कि युद्धाग्नि कोरिया तक ही सीमित रहे। जब अमेरिकी (नाम मात्र संयुक्त राष्ट्र की) सेना ३८ वें अक्षांश को पार करने वाली थीं, तब भारत ने अमेरिका को चेतावनी दी थी कि ऐसा करने का परिणाम केवल एक ही होगा, अर्थात् चीन को युद्ध में भाग लेने पर बाध्य करना। ऐसा ही हुआ। अमेरिका ने भारत की चेतावनी की परवाह नहीं की ज० मैकार्थर जिसने (चाणक्य की तरह) प्रण कर रखा है कि कम्युनिज्म को हरा कर ही वह अपनी वर्षों पुरानी टोपी को बदलेंगे, वे उत्सुक थे कि अमेरिकी सेना चीन के अन्दर घुस जाये। अमेरिका सेना को आदेश हुआ और वह ३८ वें अक्षांश को पार कर गईं। चीनी स्वयंसेवक उत्तरी कोरिया की सहायता करने लगे।

कौन अपने पड़ौसी के मकान को जलते देखकर सहायता नहीं करेगा? अमेरिकी सेना को बड़ी तेज़ी से पीछे हटना पड़ा। चीनी और उत्तरी कोरियाई सेना तेजी से दक्षिण की ओर बढ़ रही थी और ३८ वें अक्षांश को पुनः पार करने की सम्भावना थी। भारत ने चीन तथा कोरिया से अपील कि इस बार ३८ वें अक्षांश को पार न किया जाये। उन्होंने भारत की आवाज़ को सुना और ३८ वें अक्षांश पर आकर रुक गईं। शान्ति की बातचीत का का वातावरण स्थापति हुआ, रूस का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और युद्ध विराम वार्ता आरम्भ हुई।

इस प्रकार कोरिया युद्ध के हर (Stage) क्षण में भारत ने प्रयत्न किया कि युद्धाग्नि सीमित रहे।

भारत का यह मत रहा है कि चीन को संयुक्तराष्ट्र में बुलाये बगैर कोरिया युद्ध के बन्द होने की कोई संभावना नहीं। सुदूरपूर्व में भी शान्ति स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि चीन को संयुक्तराष्ट्र में अपना स्थान मिले।

इसी ध्येय से भारत ने दूसरे एशियाई देशों के समर्थन को प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न किया कि चीनी सरकार को मान्यता दी जाये। बहुत सारे देशों ने ऐसा ही किया।

जब जॉन फास्टर डल्लस ने जापान के साथ शान्ति का मसविदा तैयार किया तो भारत ने इसकी कुछ धाराओं का विरोध किया। इन धाराओं के आधीन अमेरिका ने जापान में अपने सैनिक और हवाई अड्डे रखे है।

भारत ने अमेरिकी शान्ति सन्धि पर तो हस्ताक्षर नहीं किये। परन्तु जापान को (सीमित) स्वतंत्रता मिलने पर बधाई दी, उससे मैत्री स्थापित की और वहाँ अपना राजदूत भेजा। भारत की धारणा थी कि जापान पर किसी प्रकार का दबाव न डाला जाय। शान्ति-सन्धि के समय तो

श्री डल्लस ने कहा था कि जापान को अपनी नीति निर्धारित करने का पूर्ण अधिकार होगा। पीकिंग तथा 'बे मुल्की नवाब' च्यांग काई शेक इन दोनों में से जिस सरकार को वह चाहे मान्यता दे सकता है। वास्तव में जापान को इतनी स्वतंत्रता नहीं दी गई। जैसा बाद में जापानी संसद में बतलाया गया। श्री डल्लस के दबाव के कारण ही जापान को फारमूसा सरकार को मान्यता देनी पड़ी थी। जिस दृष्टिकोण के कारण भारत ने शान्ति सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार किया था, वह ठीक निकला।

सैनिक मापदंड के अनुसार तो भारत शक्तिशाली राज्य नहीं है, परन्तु भौगोलिक और ऐतिहासिक स्थिति के कारण उसे एक 'बड़ी शक्ति' का रूप धारण करना पड़ा है। भारत के अधिक महत्त्व का एक कारण यह भी है कि जनसंख्या के नाते यह एशिया में दूसरा देश है। चीन के कम्युनिस्ट बन जाने पर जनतंत्रीय देशों के लिए यह आवश्यक हो गया कि एशिया की दूसरी सब से बड़ी शक्ति को वे विशेष महत्व की दृष्टि से देखें। दक्षिण एशिया में केवल भारत ही एक ऐसा देश है जो स्थिर है, जहाँ आतंक नहीं।

जब भारत स्वाधीन हुआ तब शीतयुद्ध[तनातनी] आगे बढ़ चुका था। (शीतयुद्ध का आरम्भ हीरोशीमा पर बम डालने की तिथि से ही समझना चाहिये)। 'शीत युद्ध' की ओर भारत का एक विशेष रवैया रहा है और इसी रवैये से भारत की विदेश नीति की जानकारी मिलती है।

'शीत युद्ध' मुख्यतया अमेरिका और रूस के बीच है। दूसरे देशों को तो इस युद्ध में घसीट लिया गया है। भारत का मत है कि कम्युनिज़्म को अमरीकी [सैनिक] तरीके द्वारा नहीं रोका जा सकता। कम्युनिज़्म को हराने का एक मात्र तरीका यह है कि गरीबी और बीमारियों को दूर किया जाय। इसीलिये भारत इस तथ्य पर ज़ोर देता है कि गरीब देशों को सहायता देकर उनका आर्थिक स्तर ऊँचा किया जाय।

भारत और विश्व के पिछड़े क्षेत्रों के आर्थिक स्तर को ऊँचा करने के लिए यह ज़रूरी है कि विश्व में शान्ति स्थापित हो। शान्ति मानव जाति के हित की चीज़ है। संसार के किसी भी देश के निवासी युद्ध नहीं चाहते। परन्तु फिर भी 'शीत युद्ध' दिनबदिन बढ़ता जा रहा है और इससे विश्व शान्ति को खतरा बढ़ता जा रहा है।

भारत के सामने सबसे महत्वपूर्ण काम राष्ट्र-निर्माण है। पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने के लिए यह अत्यावश्यक है कि विश्व में शान्ति हो। इसलिए विश्व में शान्ति स्थापना भारत की विदेश नीति का सर्वप्रथम ध्येय है।

प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर निर्णय करने से पहले भारत यह सोचता है कि उसके निर्णय से विश्व शान्ति की सम्भावना घटती है या बढ़ती है।

भारतीय रियासतों और रजवाड़ों के विलयकरण के पश्चात् भारत के सामने अपने ही देश में विदेशी उपनिवेशों का प्रश्न उठा। जब ब्रिटेन जैसी महान शक्ति को भारत छोड़ना पड़ा तो फ्रांस

और पुर्तगाल जैसे द्वितीय व तृतीय श्रेणी की शक्तियों की क्या मज़ाल कि वह अपने उपनिवेशों को लिये बैठे रहें। यदि भारत चाहे तो दो तीन घंटे में ही इनका सफ़ाया कर सकता। परन्तु उसने शान्ति और सहिष्णुता के रास्ते को ही अपनाया है।

केवल पाकिस्तान ही एक ऐसा देश है जिससे भारत के सम्बन्ध ठीक नहीं रहे। परन्तु इसका उत्तरदायित्व पाकिस्तान पर है। तीन वर्ष हुए भारत ने पाकिस्तान के सामने एक प्रस्ताव रखा था जिसके अनुसार दोनों देश इस बात की घोषणा करते कि भविष्य में आपस के झगड़ों को निपटाने के लिये शांतिपूर्ण तरीकों को प्रयोग में लाया जायेगा। परन्तु पाकिस्तान नहीं माना। उसके बाद भी कई बार इस प्रस्ताव का उल्लेख किया गया है। परन्तु पाकिस्तान का रवैया नहीं बदला। इसका मुख्य कारण यह है कि पाकिस्तान की जड़ें ढीली हैं। अस्वाभाविक तरीकों से ही वह अपने आपको जीवित रख सकता है।

पाकिस्तानी समाचार पत्रों ने भारत के विरुद्ध बड़ा ज़हर उगल कर जनता को भारत के विरुद्ध उकसाने का प्रयत्न किया। पाकिस्तान के हिन्दू निवासियों को भगा देने का विशेष प्रयत्न किया गया है। इसके विपरीत भारत में शान्तिमय वातावरण रहा है। हमारा गणराज्य सैक्यूलर है। भारत में सब सम्प्रदायों के लोग शान्तिपूर्वक रहते हैं।

नहरों के पानी के मामले में व काश्मीर के मामले में भारत ने बहुत नर्मी से काम लिया है जिस के परिणाम-स्वरूप देश भर में उसकी नीति की कड़ी आलोचना भी हुई है। परन्तु भारत अपने शान्तिमय रास्ते से नहीं हटा।

काश्मीर के सम्बंध में तो भारत ने बड़ी उदारता से काम लिया है। १६४७ में काश्मीर भारत से मिल गया था। पाकिस्तान को इस पर बड़ा भारी दुःख हुआ और उसने पठान लुटेरों को उकसा कर अपनी सैनिक सहायता से उन्हें काश्मीर भेजा जहाँ उन्होंने भीषण अत्याचार किये। भारतीय सेना ने काश्मीर के एक बड़े भाग को पाकिस्तानी लुटेरों से मुक्ति दिलाई। विशेषज्ञों के मतानुसार यदि भारतीय सेना को एक सप्ताह और मिल जाता तो सारा काश्मीर मुक्त हो जाता। परन्तु भारत ने अपनी उदारता के कारण युद्ध बन्द करने का प्रस्ताव रखा जो स्वीकृत हुआ गत पाँच वर्षों में विरामवार्ता चलती रही है, परन्तु निष्फल। भारत की नर्मी की नीति का पाकिस्तान पर उल्टा ही प्रभाव पड़ा है।

अन्य रियासतें भी भारत से मिल गई थीं। काश्मीर की स्थिति भी दूसरी रियासतों की सी थी। परन्तु भारत ने अपनी उदार और शान्तिपूर्ण नीति का अनुसरण करते हुए ही इस प्रश्न को स्वयं संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने रखा था। संघ ने भारत के और अपने दुर्भाग्य से भारत और पाकिस्तान को तराज़ू के दो पलड़ों में रख कर तौलने का प्रयत्न किया और झुकाव पाकिस्तान की ओर रखा। इसका एक कारण तो ब्रिटेन और अमेरिका की भारत के प्रति अप्रसन्नता थी। इन दोनों देशों को भारत की स्वतंत्र निष्पक्ष नीति पसन्द नहीं। ये तो चाहते हैं कि भारत उन के गुट में मिल कर रूस के विरोधी दल से मिल जाए। आज भी भारत का (काश्मीर का) एक अंग पाकिस्तान

दबाये बैठा है, परन्तु शान्ति स्थापना के ध्येय से ही भारत ने इस सम्बंध में कुछ नहीं किया । भारत ने (ब्रिटिश) राष्ट्र-मंडल की सहायता से भी इस प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न किया परन्तु यह भी निष्फल।

भारत एक गणराज्य है। उसे नरेशों की संस्था में बिल्कुल विश्वास नहीं है । फिर भी वह राष्ट्रमंडल का सदस्य है । यह भी केवल इसीलिये कि राष्ट्रमंडल संस्था शान्ति की स्थापना में सहायक हो सकती है।

संयुक्तराष्ट्र आज भी यूरोपीय और अमेरिकी झगड़ों में उलझा हुआ है । एशियाई मामले तभी इसके सामने आते हैं जब यरोपीय व अमेरिकी देशों का इनसे सम्बंध हो । जिस संस्था में दक्षिण अमेरिका के २१ प्रतिनिधि १०-१२ करोड़ लोगों का प्रतिनिधित्व करते हों वहाँ ५० करोड़ चीनियों का एक प्रतिनिधि और ३५ करोड़ भारतीयों का भी एक ही प्रतिनिधि हो यह अन्याय नहीं तो क्या है ? संयुक्त राष्ट्र संघ आदर्श का पात्र नहीं है । भारत के साथ काश्मीर के मामले में तो उसने अन्याय किया ही है। फिर भी भारत संयुक्तराष्ट्र संघ का समर्थन करता है क्योंकि संयुक्तराष्ट्र संघ शान्ति स्थापित करने में सहायक हो सकता है।

इसी कारण भारत के आदर और सम्मान में वृद्धि हुई है । संसार भर के शिक्षित लोग भारत से बहुत कुछ आशा रखते हैं और उस पर टिकटिकी बांधे बैठे हैं । उनका विश्वास है कि जहाँ रूस और अमेरिका एक दूसरे से टक्कर लेने के लिये तैयार बैठे हैं वहाँ भारत की नीति से ही शान्ति स्थापित हो सकती है । इसीलिये कई बार भारत का नाम एक पंच के रूप में भी लिया जा चुका है।

भारतीय अनुसूचित जातियाँ

लक्ष्मीदास म० श्रीकान्त

हिन्दु समाज में किसी व्यक्ति की प्रतिष्ठा जीविका या व्यवसाय को निश्चित करने में जाति-पाँति अब भी सब से महत्वपूर्ण साधन है। भारत के बाहर और कहीं पर भी इस प्रकार की वृहद् जाति व्यवस्था नहीं पाई जाती। भारत में ऐसे सब व्यवसाय जिनमें यथाशक्ति गन्दे कार्य करने पड़ते है जैसे कि चमड़े को रंगना, खाल निकालना, चमड़े का समान बनाना, गलियों में झाड़ू लगाना, मल-मूत्र इत्यादि साफ करना, अनुसूचित जातियों, जिन्हें हरिजन भी कहते हैं, या दूसरी जाति के जिम्मे कर दिये जाते हैं। ताजे प्राप्त आँकड़ों के अनुसार उनकी संख्या लगभग ५ करोड़ है। यह व्यवसाय समाज के कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक है, चूँकि इनमें गन्दी और बदबूदार चीजों का हाथ से छूना पड़ता है, इसलिए कोई भी गैरहरिजन व्यक्ति नियमानुसार उक्त कार्यों में से किसी एक को भी अपने व्यवसायों के रूप में नहीं अपनायेगा। ऐसा करना उसकी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल होगा। हरिजनों में भी ऊँच और नीच का विचार है, लेकिन भंगी उनमें सबसे नीच हैं। प्रत्येक जाति कुछ दूसरी जातियों को अपने से नीचा समझने का विशेषाधिकार रखती है लेकिन भंगियों का या उनके समान उत्तर भारत में हलालखोर, बिहार में डोम और मद्रास में मदारू के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है, वह सब से नीचतम समझे जाते हैं।

भंगी ही समाज को जीवित रखता है। समाज के लिए भंगी वही काम करता है जो माँ अपने बच्चे के लिए करती है। जिस प्रकार माँ अपने बच्चे की सफाई करती है और उसके स्वास्थ्य का ध्यान रखती है उसी प्रकार भंगी भी सफाई द्वारा समस्त समाज की रक्षा और भलाई करता है। हरिजनों में भंगी सब से अधिक तिरस्कृत है क्योंकि उसका कार्य सबसे नीच समझा जाता है। यह शब्द महात्मा गांधी के हैं और कोई भी इस वक्तव्य की सच्चाई से इन्कार नहीं कर सकता।

अपनी आदतों से मजबूर होने के कारण हरिजन ने अपना आत्म-सम्मान यहाँ तक खो दिया है कि वह अपने कार्य को, जिसको करने के लिये उसकी जाति बाध्य की गई है, अभिशाप समझने की अपेक्षा एक विशेषाधिकार समझता है और उससे छुटकारा पाने के स्थान पर उसकी हिफाजत करना चाहता है। खेतों या कारखानों में कोई दूसरा काम ढूँढने की उसकी हिम्मत ही नहीं पड़ती। इससे उसका मस्तिष्क कुंठित हो गया है तथा शरीर में आलस्य भर गया है, और वह अपनी परि-स्थितियों से निस्पृह हो गया है। यहाँ तक कि वह अपने बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का भी प्रबन्ध नहीं कर सकता।

उपग्राम आसनसोल (बंगाल) के ईसाई धर्म प्रचारक श्री एफ० जी० विलियम्ज ने अपनी पुस्तक 'ग्रामीण-घरेलु सफाई' (Rural Home Sanitation) में लिखा है, 'यह अभिशाप भारतीय समाज से अवश्य दूर होना चाहिये।' आप आगे लिखते हैं, 'जब वह अछूत और स्थानीय कार्यों के जो समुदाय गन्दगी में लिपटे रहते हैं, दूर कर दिये होते तो हमलोग इस जाति व्यवस्था को दूर करने में बहुत आगे बढ़ गये होते। यदि सब धर्म प्रचारक संस्थाएँ अछूतपन दूर करने वाली समितियाँ, आश्रम तथा हितकारी समुदाय सच्ची लगन से अछूतपन के इस प्राथमिक कारण को दूर करने के लिए आन्दोलन में सच्ची लगन से लग जाय तो हम अपने देश से अछूतपन का एकदम दूर करने में काफी सफल हो सकेगें।' अतः हमें इस प्रश्न के मूल में समाजिक समस्याओं की विद्यमानता अनुभव करनी चाहिये। अपने आदर्श को जो वास्तव में देश में सामाजिक क्रान्ति के समान है प्राप्त करने का मार्ग अति कठिन तथा लम्बा है। पिछली कुछ दशाब्दियों के अन्दर हमारे देश में अनेक क्रान्तिकारी शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है। जनता के विचारों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ रहा है और गत ३० वर्षों के अन्दर महात्मा गांधी के भागीरथ प्रयत्नों से अछूततारूपी राक्षस अपनी मृत्यु की घड़ियाँ गिन रहा है। उसे ऐसी घातक चोट लगी है कि वह अब कभी पुनर्जीवित नहीं हो सकता। महात्मा गांधी द्वारा चलाया हुआ अछूतोद्धार आन्दोलन अब भी जारी है।

छूआछूत संविधान द्वारा नियम-विरुद्ध घोषित कर दिया गया है और हमें देश के कोने-कोने से इस दूषित भावना को निकाल देना चाहिये। विभिन्न राज्यों के दौरे में अब तक मुझे ऐसा कोई भी दृष्टान्त देखने को नहीं मिला जहाँ सड़कें या सरकारी स्कूल हरिजनों के लिए निषिद्ध हो दूसरे पहले दक्षिण में तो कहीं-कहीं पर किसी हरिजन की छाया से ही लोग अपवित्र हो जाते थे, और इसलिए खास-खास गलियों में हरिजनों का प्रवेश निषिद्ध था। लेकिन ३० वर्षों के दौरान में अछूतोद्धार की तीव्रप्रगति के कारण अब यह बात प्राचीन काल की घटनाएँ सी हो गई हैं।

हरिजनों के लिए सबसे बड़ी बाधा और कठिनाई यह है कि वह दुकानों, जलपान गृहों, भोजनालयों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश नहीं कर सकते अथवा कुओं, तालाबों और स्नान करने के घाटों तथा विश्रामालयों का प्रयोग नहीं कर सकते। कुछ राज्य सरकारों ने छुआछूत को पुलिस द्वारा हस्तक्षेप किये जाने योग्य अपराध घोषित करके इन कठिनाइयों और अयोग्यताओं को दूर करने के लिये कानून बनाए हैं। संविधान में निर्धारित आधार-भूत सिद्धान्तों के अनुसरण में केन्द्रीय सरकार भी ऐसे कानून बनाने का विचार कर रही है। लेकिन कार्य-क्षेत्र के अनुभव से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि बिना शक्तिशाली जन मत के, कानून हमें बहुत आगे नहीं बढ़ा सकते। गैर सरकारी संस्थाएँ अनुसूचित जातियों के कल्याण तथा प्रगति के लिए और छुआछूत दूर करने के उद्देश्य से जनमत तैयार करने तथा उसे मजबूत करने के लिए पहले से ही कार्य कर रही हैं, इसके लिए उन्हें आर्थिक सहायता दी जानी चाहिये। दूसरे साथ ही हरिजनों को अपने अधिकार जताने में और हिम्मत दिखानी चाहिए। यदि राज्य सरकारें ऐसे गाँवों की सूची रखें, जिनमें हरिजन अब भी सामाजिक अयोग्यताओं के आधीन हैं, जैसे कि सार्वजनिक कुएँ, तथा तालाबों से पानी भरना या सार्वजनिक जलपान गृहों तथा भोजनालयों (होटलों) न जा सकते हों तो, काफी लाभ होगा।

मेरा ऐसा अनुभव है कि सरकारी तथा अन्य विभागों में सुरक्षित नौकरियों के सम्बन्ध में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जन जातियों के व्यक्ति पर्याप्त संख्या में उत्तरदायित्वपूर्ण उच्च पदों के लिए अब भी आगे नहीं बढ़ रहे हैं। इसके साथ ही कई सरकारी विभागों ने नौकरियों में ऐसे व्यक्तियों के सुरक्षित अनुपात के प्रति अत्यन्त उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण अपनाया है। नौकरियों के लिए अनुसूचित जातियों तथा जन जातियों को उत्साहित करने में उच्च पदाधिकारी इतनी दिलचस्पी नहीं दिखा रहे हैं जितनी कि उनसे आशा की जाती है। ऐसी कोई भी व्यवस्था नहीं जिसमें अर्द्धवार्षिक जाँच हो सके कि अनुसूचित जन जातियों के लिए सुरक्षा का जो अनुपात निश्चित किया गया है उसका ध्यान नियुक्तियाँ करते समय रखा गया है अथवा नहीं।

किन्तु अनुसूचित जन जातियों की समस्या कुछ विषयों में अनुसूचित जन जातियों की समस्या से भिन्न और आवश्यक है। कई पीढ़ियों से वह समाज और सरकार दोनों से उपेक्षित रही है और समय समय पर उन्हें पहाड़ी इलाकों और जंगलों में रहने के लिए बाध्य किया गया है। फलतः वह तथारक्षित सभ्य संसार से अलग रहीं और उनसे सम्बन्ध स्थापित करने का मार्ग अगम्य बना दिया गया। ताज़े प्राप्त आंकड़ों के अनुसार जन जातियों की जन संख्या लगभग १ करोड़ ८० लाख है। (१६४१ की जन गणना के अनुसार आदिवासियों की जन संख्या २,४७,१२००० थी) इन जातियों का सम्बन्ध संस्कृति के विभिन्न स्तरों से है और उनके रीति-रिवाज, रहन-सहन आदि भिन्न-भिन्न हैं। सन् १६३१ की भारतीय जन गणना ने तथा रक्षित आदिवासियों की समस्या को साधारण जनता के सामने प्रस्तुत करने का पहला सुअवसर प्रदान किया। इसके पहले के लेखकों के प्रयत्नों से यह सफलता नहीं मिल सकी थी। भारत सरकार के मानव-शास्त्र के निर्देशक डाक्टर बी० एस० गुहा अपने लेख 'आदिवासी तथा उनका प्रशासन' (Aboriginals and their administration) में जिसे सन् १६४६ में उन्होंने भारत सरकार को दिया था लिखते हैं कि :

'भारत की आदिवासी जन संख्या ठीक तीन क्षेत्रों में विभक्त की जा सकती है जैसे—१. उत्तर पूर्वी २. केन्द्रीय तथा ३. दक्षिणी क्षेत्र जिसकी जनसंख्या लगभग ढाई करोड़ है। एक दम ठीक संख्या अनिश्चित है क्योंकि सन् १६४१ की जन संख्या के अनुमानित आंकड़े सही नहीं हैं। उत्तर पूर्वी क्षेत्र में वह जन जातियाँ सम्मिलित हैं जो हिमालय के निचले क्षेत्र और आसाम तथा भारत के उत्तर पूर्वी सीमा के सटे हुए भागों में जो अविभाजित भारत में बंगाल की खाड़ी तक फैले हुएथे, रहते हैं। केन्द्रीय क्षेत्र आदिवासियों का सबसे बड़ा अड्डा है और यह विन्ध्या, सतपुड़ा, महादेव-मैकल तथा अजन्ता और पूवी घाट तक फैला हुआ है। इनमें मुख्य मुंडा, गौंड और संथाल आदि हैं। दक्षिणी १६ अंक्षाश उत्तर से नीचे है और इसमें चेन्चुस आदिजन जातियाँ हैं। दक्षिणी क्षेत्र में उत्तर मूल भाषा छोड़ दी गई है और मलयालम, तेलगू और तामिल इत्यादि भाषाएँ टूटे फूटे रूप से बोली जाती हैं।'

इतना होने पर भी निम्नलिखित विशेषताएँ भारत की अनुसूचित जन जातियों में एक समान पाई जाती हैं :

(१) जीवन निर्वाह का आदिम ढंग।

(२) सुदूर और दुर्गम स्थानों में निवास।

(३) घुमुत्तु (खानाबदोश) आदतें और मदिरा तथा नृत्य के लिए अनुराग।

यह जन-जातियाँ अनुसूचित जन-जातियों से अधिक पिछड़ी हुई हैं और आजकल की कतिपय अनुसूचित जातियों के समान सजग और शक्ति सम्पन्न होने में उन्हें बहुत समय लगेगा। इसलिए अनुसूचित जन-जातियों में ऐसे शिक्षित और योग्य व्यक्ति बहुत ही कम हैं जो सरकारी नौकरियों के शौक़ीन हों और राज्य विधान सभाओं में अपना उचित भाग ले।

इस समस्या को हल करने का तरीका हमें बहुत सोच समझ कर और सुनियमित रूप से अपनाना चाहिए। इस सम्बन्ध में यहाँ फिर डाक्टर गुहा के लेख का उद्धरण देना आवश्यक है। डाक्टर गुहा ने लिखा है कि 'आदिवासी लोगों के प्रशासन की समस्या अति जटिल है, एक ओर उन्हें एकदम पृथक रखना हमारी गलती है क्योंकि पृथकता से स्थिरता और बर्बादी आ जाती है और दूसरी ओर उनसे अव्यवस्थित सम्बन्ध स्थापित करना उन जातियों के लिए ही हानिकारक है। जैसा कि आस्ट्रेलिया, मेलेनेशिया और अमरीका में आदिम जातियों की तीव्र गति से घटती हुई जन-संख्या से यह स्पष्ट है। प्रशासन की वर्त्तमान नीति से जन जातियाँ और सामाजिक व्यवस्था की भी रक्षा करनी चाहिए और दूसरे साथ ही ऐसे रास्ते और तरीके निकालने चाहिए जिसमें जन जातीय जनता क्रमशः अपने को आजकल की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप बना सकें और बिना किसी अनुचित हेर-फेर के साधारण जीवन के साथ धीरे-धीरे एकीकरण स्थापित कर सकें। आदिवासियों के स्वास्थ्य वर्द्धक, उत्साहपूर्ण और राग-रंगमय जीवन को सुधार और प्रगति के नाम पर किसी प्रकार की पुरुषार्थहीन और गतिशून्य नहीं बना देना चाहिए।

ब्रिटिश सरकार के संरक्षण में ईसाई धर्म प्रचारकों ने जन जातीय सम्प्रदायों में कल्याण केन्द्र आरम्भ कर दिये थे और उन्हें ईसाई बनाकर उनकी हालत बदलने का प्रयत्न किया था। उन्हें कम से कम इतना श्रेय तो दिया ही जा सकता है कि सुदूर और दुर्गम क्षेत्रों में उन्होंने अनुसूचित जन जातियों के कल्याण के लिए पहला कदम उठाने के नाते वह इस कार्य में सब से आगे थे। स्वराज्य आन्दोलन के दिनों में स्वर्गीय ठाकुर बप्पा के सद्प्रयत्नों से यह फल हुआ कि कांग्रेस द्वारा अपनाये गए रचनात्मक कार्य में जन जातियों का सेवा कार्य सम्मिलित किया गया था। अतः निस्सन्देह निस्पृह समाज सेवा के कार्य में अग्रणी कहे जा सकते हैं। ठाकुर बप्पा ने विभिन्न राज्यों में जैसे बम्बई, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बिहार, आसाम, जन जातियों के लिये कल्याण केन्द्रों को स्थापित किया। यह भी सत्य है कि श्री ठाकुर बप्पा ने बिना किसी वैज्ञानिक पृष्ठभूमि के राज्यों के लिए एक पंच वर्षीय योजना तैयार की थी क्योंकि उन्हें इस सिद्धान्त में दृढ़ विश्वास था कि सर्वेन्टस आफ इन्डिया सोसाइटी (Servants of India Society) के प्रमुख नेता श्री गोखले को भी बहुत प्यारा था 'एक कदम भी मेरे लिए काफी है।' विभिन्न राज्य स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इन योजनाओं को कार्यान्वित कर रहे हैं और केन्द्र से उन्हें पर्याप्त आर्थिक सहायता मिल रही है। इन

विभिन्न योजनाओं को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पुनर्व्यवस्थित करने के लिए मैंने समाजिक सेवा मार्ग भारतीय सम्मेलन द्वारा नियुक्त जन जातीय उपसमिति के अध्यक्ष के रूप में प्रसिद्ध मानव शास्त्रियों और अनुभवी सामाजिक कार्यकर्ताओं से निम्नलिखित दो विषयों पर उनके विचार आमन्त्रित किये।

(१) भारत के विभिन्न राज्यों में अनुसूचित जन-जातियों से सम्बन्धित अनेक समस्याओं के उचित हल का जवाब दें।

(२) जन जातीय कल्याण कार्य-क्षेत्र में विभिन्न राज्यों की सरकारें तथा सामाजिक सेवा संस्थाओं (Social Service Institutions) की अनेक योजनाओं के व्यवहारिक कार्यक्रम के लिए कार्यान्वय से प्राप्त अनुभव के आधार पर सामान्य रूप से रचनात्मक सुझाव दें।

इस उप-समिति की रिपोर्ट तैयार हो गई है और सम्मेलन के अध्यक्ष के सन्मुख प्रस्तुत भी की गई थी, देहली में मानव-शास्त्रियों तथा विभागों के ऐसे अध्यक्षों जो इस प्रकार के कार्य में अभिरुचि रखते हैं और ऐसे सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का जो जन जातीय कल्याण कार्यों में सक्रिय रूप से संलग्न हैं का एक सम्मेलन विचार विनमय के पश्चात जन जातियों की कल्याण योजनाओं के प्रति एक सामान्य नीति अपनाने के लिए बुलाने का प्रस्ताव किया गया था।

भारत के स्वतन्त्र इतिहास में वह स्वर्ण-दिवस था जब हमारे संविधान निर्माताओं ने पिछड़ी हुई जातियों जैसे अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों के सामाजिक आर्थिक तथा शिक्षण हितों की रक्षा के लिए संविधान में विशेष व्यवस्था की थी। संविधान के अनुच्छेद ३३८ के अनुसार अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जन जातियों के आयुक्त (कमिश्नर) का पद बनाया गया और १८ नवम्बर १९५० से इस पद का कार्य आरम्भ हुआ।

श्री जगजीवन राम तथा राष्ट्रीय नौकरी-व्यस्थापन नियोजन

कान्ति भूषण शर्मा

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की एक विशिष्ट विशेषता यह थी कि वे विभिन्न समुदायों तथा भारत के विभिन्न क्षेत्रों से ऐसे विशिष्ट एवं योग्य व्यक्तियों को छाँट कर अपने सम्पर्क में रखते थे कि बाद में वे राष्ट्र-नायक के रूप में परिवर्तित हो जाते थे। कदाचित् यह सब कुछ किसी जादू के द्वारा हो जाता हो, कभी-कभी तो वे विषाद की गहन परिस्थितियों में भी ऐसे व्यक्तियों को खोज लेते थे। कदाचित् श्री जगजीवन राम भी इसी प्रकार के स्मरणीय अनुसंधानित व्यक्तियों में से एक हैं। गांधी जी ने यह खोज १९४६ में लार्ड माउण्टबेटन के समय में अंतरिम सरकार में सम्मिलित करने के लिए बिहार से की। बिहार के सभा-सचिव द्वारा केन्द्रीय मंत्री का कार्य योग्यता-पूर्वक करना, जबकि उनके अन्य अनेकों सहयोगी वर्षों से जनता के परिचित थे—एक आश्चर्यजनक बात थी। इसके पश्चात् श्री जगजीवन राम को १९४७ में प्रथम राष्ट्रीय सरकार में तथा १९५२ में नये विधान के अनुसार निर्वाचित जन-प्रतिनिधि सरकार में भी स्थान दिया गया। भारत के राष्ट्रीय इतिहास के स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् के अध्याय में कदाचित ही किसी अन्य व्यक्ति ने इतने सुन्दर ढंग से अपना पृष्ठ लिखा है, जितना कि परिगणित जाति के केवल ४६ वर्ष की आयु के राजनीतिज्ञ श्री जगजीवन राम ने। केवल ६ ही वर्षों में अपने गुण, कठिन परिश्रम तथा समय-समय पर विचार किये जाने वाले विषयों पर पूर्ण अधिकार होने के कारण आज वे देश के प्रशासन में एक दृढ़ स्तम्भ हैं।

१९४६ में श्री जगजीवन राम द्वारा केन्द्रीय मंत्रि-मण्डल में श्रम मंत्री के रूप में शपथ ग्रहण करना तथा युद्ध से लौटने वाले सैनिकों के पुनर्वास एवं उन्हें नौकरी दिलाने के उद्देश्य से राष्ट्रीय नौकरी-व्यवस्थापन नियोजन का जन्म दोनों ही बातें एक साथ हुईं। मई १९५२ तक जबकि उन्होंने केन्द्रीय संचार मंत्रालय का कार्य-भार सम्भाला, वे इस विभाग की कार्यवाही का निरीक्षण करते रहे। इस नियोजन की स्थापना एक नवतारक द्वारा एक नवीन, किन्तु पेचीदा मार्ग का पथ-प्रदर्शन किया जाना सिद्ध हुआ। एक का इतिहास दूसरे का भी इतिहास है। जिस दिन से श्री जगजीवन राम ने श्रम मंत्रालय का कार्य-भार सम्भाला है उसी दिन से वे प्रशासनिक विवरण एवं विषयाधिकार की योग्यता का प्रदर्शन करते ही रहे हैं। उनके साथ केवल दो ही सप्ताह कार्य

करने के पश्चात् तत्कालीन डायरेक्टर जनरल श्री आर० एच० सालोवे, आई. सी. एस. ने कहा था, 'उनके साथ काम करने में भी बड़ा आनन्द मिलता है। वे सुई की भाँति तेज़ और चट्टान की भाँति दृढ़ हैं।' १६४७ के अन्त में प्रारम्भिक एशियन रीज़नल कान्फ्रेंस में उनके कार्य से यह सिद्ध हो गया कि श्रम सम्बन्धी मामलों को तय करने में वे देश के किसी अन्य व्यक्ति से कम नहीं। इस समय तक वे नवजात नौकरी-व्यवस्थापन नियोजन में जन-सेवा की भावना भर चुके थे। इसी कारण इतने थोड़े काल ही में इस नियोजन के सदस्य भविष्य में राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करने के सम्बन्ध में सोचने लगे थे। यह सब अधिकांशतः मंत्री महोदय के ठोस एवं फलीभूत निर्णयों के परिणाम स्वरूप ही हुआ था। विभाजन के पश्चात् की समस्याओं ने पश्चिमी पाकिस्तान से पंजाब आने वाले असंख्य अवासित लोगों पर विपत्ति के बादल छा दिये। इन बेघर लोगों को रोज़गार दिलाने में सहायता देने के उद्देश्य से पंजाब के कई जिलों में नये नौकरी दिलाने वाले कार्यालयों की स्थापना, तथा देहली, उत्तर प्रदेश एवं बंगाल में कार्यालयों की संख्या में विस्तार करने का निर्णय किया गया। इस प्रकार इस नियोजन को (जो कि छोटे स्तर पर किसी दूसरे ही उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये स्थापित किया गया था) बहुत अधिक काम सौंप दिया गया। इससे इस बाल-नियोजन का रूप बदल कर प्रौढ़ एवं पुष्ट हो गया। स्वयं मंत्री के नेतृत्व में इस नियोजन ने पंजाब, उत्तर प्रदेश, देहली और बंगाल में बेघर लोगों के पुनर्वास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

प्रगति, उन्नति और सेवा का आदेश नियोजन के सभी सदस्यों को दिया गया था। ऐसा देखा गया कि प्रभावशाली सेवा के लिये सभी प्रकार के नौकरी चाहने वाले लोगों को एम्प्लायमेंट एक्सचेंज में रजिस्टर किया जाये और उन्हें नौकरी दिलवाने में आवश्यक सहायता दी जाये। थोड़े ही समय बाद इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण निर्णय के द्वारा एम्प्लायमेंट एक्सचेंजों का द्वार सभी प्रकार की नौकरियों के लिए खोल दिया गया। १६४८ के प्रारम्भ में, इस निर्णय ने ही राष्ट्रीय नौकरी-व्यवस्थापन नियोजन की नींव डाली। यह कदम दुनियाँ के प्रगतिशील विचारों के साथ कदम मिलाकर चलने तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के १६४८ के नौकरी व्यवस्थापन नियोजन सम्बन्धी विचार विमर्श को ध्यान में रखते हुए उठाया गया।

इस सभा में निम्न निर्णय किये गये थे :

'१. अंतर्राष्टीय श्रम संगठन के सभी सदस्य जिनका इस सभा से सम्बन्ध है, अपने-अपने देश में निश्शुल्क जनता के लिए नौकरी व्यवस्थापन नियोजन की व्यवस्था करेंगे।

२. नौकरी व्यवस्थापन नियोजन का प्रारम्भिक कार्य, जनता तथा दूसरे सम्बन्धित व्यक्तिगत समुदायों के सहयोग से (जहाँ आवश्यक हो) पूर्ण रूप से सबको काम दिलाने तथा उत्पादक तत्त्वों की पूर्ण उन्नति एवं उपयोग के उद्देश्य से राष्ट्रीय कार्य-क्रम में जहाँ तक सम्भव हो सके नौकरी व्यवस्थापन संगठन को महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने का प्रयास करे।'

भारत को आधुनिक सुरक्षात्मक देश सिद्ध करने के लिए बेरोज़गार लोगों को नौकरी दिलाने के सम्बन्ध में परामर्श देने एवं मार्ग-दर्शन के लिए नौकरी-व्यवस्थापन नियोजन प्रमुख आवश्यकता है। १६४८ में श्री जगजीवन राम की अध्यक्षता में प्रादेशिक श्रम-मंत्रियों की कान्फ्रेंस में निश्चय किया गया कि एम्प्लायमेंट एक्सचेंजों तथा प्रशिक्षण केन्द्रों का देश में स्थायी रूप से संचालन किया जाये। केवल प्रस्ताव पास करके ही काम समाप्त नहीं हो गया, बल्कि एम्प्लायमेंट एक्सचेंजों की उपादेयता बढ़ाने का सर्वत्र प्रयास किया गया। केन्द्रीय श्रम-मंत्रालय के दृढ़ प्रयास के कारण ही १६४६ में उन पदों के अतिरिक्त, जिनकी नियुक्ति यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन द्वारा होती है, शेष सभी सरकारी नौकरियों की नियुक्ति के लिए एम्प्लायमेंट एक्सचेंजों के द्वारा अनिवार्य रूप से किये जाने का आदेश दे दिया गया। इस आदेश ने स्वतः ही एम्प्लायमेंट एक्सचेंजों के महत्व, कार्य एवं उत्तर-दायित्व पर प्रकाश डाल दिया। फलतः सरकारी कार्यों के लिए कर्मचारियों को रजिस्टर करने तथा योग्य व्यक्तियों की सिफ़ारिश करने का कार्य एक सरकारी व्यवस्थापन को सौंप दिया गया। इस समय कुल सरकारी कर्मचारियों की संख्या रेल-कर्मचारियों तथा भारतीय सशस्त्र सेना के व्यक्तियों के अतिरिक्त लगभग ६ लाख से भी अधिक अनुमान की जाती है। १६५२ में केन्द्रीय सरकार के आधीन कार्यों में देश भर में ८७,२६२ व्यक्तियों ने एम्प्लायमेंट एक्सचेंजों के द्वारा नौकरी प्राप्त की। इससे इस नवोदित संस्था में केवल ३ वर्ष की छोटी सी अवधि में ही विश्वास की मात्रा एवं श्री जगजीवन राम द्वारा दिए गए नेतृत्व की स्पष्ट झाँकी दृष्टिगोचर होती है।

जिस समय श्री जगजीवन राम ने कार्य-भार सम्भाला, देश भर में केवल ६६ एम्प्लायमेंट एक्सचेंज तथा ११, प्रशिक्षण केन्द्र (जो केवल भूतपूर्व सैनिकों के लिये थे) कार्य कर रहे थे, इन पर प्रतिवर्ष ६ करोड़ से भी अधिक रुपये का खर्च किया जाता था। १६४७ के अन्त में भारत में ६८ एम्प्लायमेंट एक्सचेंज (जिनमें १५ जिला नौकरी-व्यवस्थापन कार्यालय भी हैं) तथा १६६ प्रशिक्षण केन्द्र (तृतीय-श्रेणी के भूतपूर्व सैनिकों के लिये) संचालित थे तथा इन पर चार करोड़ के लगभग रुपये व्यय किये गये। इसके बाद के आने वाले वर्ष भारत सरकार के लिए, विशेष कर आर्थिक मामलों में बहुत ही चिन्ताजनक थे, इसलिए सर्वत्र ही बचत की आवश्यकता थी। इस कारण इस संस्था को भी काफी हानि उठानी पड़ी और कई बार छँटनी भी करनी पड़ी। १६४६-५० में यह व्यय केवल ३३ प्रतिशत ही कर दिया गया, १६५१ में पुनः ४५ लाख रुपये की कटौती कर दी गई। इधर कटौती तो की जा रही थी, परन्तु एम्प्लायमेंट एक्सचेंजों की संख्या जो १६४७ में केवल ६८ थी १६५२ के अन्त तक १३१ तथा १६६ प्रशिक्षण केन्द्र (जो तृतीय श्रेणी में भूतपूर्व सैनिकों को शिक्षण देने के लिये थे) अब राष्ट्रव्यापी ६२ केन्द्रों में परिवर्तित हो चुके थे, जहाँ १०,००० व्यक्तियों को २ वर्ष के लिये प्रशिक्षण दिया जा रहा था। एक्सचेंजों की बढ़ती हुई संख्या के साथ ही कार्य की मात्रा भी बढ़ती गई। १६४८ में ८,७०,६०४ तथा २,६०,०८८ व्यक्तियों की तुलना से १६५० में १२,१०,३५८ तथा ३,३१,६६१ व्यक्तियों को क्रमशः रजिस्टर किया गया तथा नौकरी दिलाई गई। एक्सचेंजों में कार्य करने वाले व्यक्तियों की संख्या कम कर देने पर भी अधिक कार्य होता रहा। प्रायः लोग इस कारण बहुत ही थक जाते थे। श्री जगजीवन राम



इण्डिया हाउस, लन्दन के स्वागत आयोजन में श्री जगजीवन राम, साथ में श्री वेलोडी (१९४७)



'बौन' जर्मनी में श्री जगजीवन राम वहाँ के श्रम-मंत्री श्री हेर स्टार्क के साथ (१९५०)

ने अधिकांश एक्सचेंजों का स्वयं निरीक्षण किया तथा वहाँ के अधिकारियों से कठिनाइयों के होते हुए भी निरन्तर कार्य किये जाने के लिए प्रेरणा दी। उनके व्यक्तिगत उदाहरण के कारण अधिक से अधिक सफलता मिलती ही गई। इस संगठन की लोक-प्रियता इस बात से सिद्ध है कि १९४८ में एक्सचेंजों की सहायता प्राप्त करने वाले उद्योग-पतियों की अधिकतम संख्या केवल ३९१९ थी, जबकि १९५० तथा १९५१ में ऐसे लोगों की औसतन संख्या क्रमशः ५५९९ तथा ६३६४ थी। उद्योगों के व्यक्तिगत क्षेत्रों में इस संगठन से पूर्ण लाभ उठाने के लिए विशेष जोर दिया गया। वैधानिक एवं प्रशासनिक आधार की अनुपस्थिति में इस कार्य में सदैव सफलता प्राप्त करना इतना सुगम नहीं है। परन्तु कदाचित व्यक्तिगत सम्बन्धों के फलस्वरूप ही (जो कि बहुत ही कठिन कार्य है, क्योंकि एक उप-क्षेत्रीय एम्प्लायमेंट एक्सचेंज की सीमा में औसतन १०,००० वर्गमील का क्षेत्र आता है) एक्सचेंज की सहायता लेने वाले उद्योग-पति १९५० में ५८ प्रतिशत थे। सभी क्षेत्रों में समान कार्य करने के उद्देश्य से नई दिल्ली में श्री जगजीवन राम के आदेश से १९४९ में केन्द्रीय निरीक्षक मण्डल की स्थापना की गई।

योग्य व्यक्तियों को उपयुक्त नौकरी दिलाने के साथ-साथ औद्योगिक आवश्यकताओं की निरन्तर पूर्ति के लिए लोगों को व्यावसायिक एवं विशेषज्ञ शिक्षण एवं प्रशिक्षण इस योजना का एक प्रमुख अंग है। इस उद्देश्य की पूर्ति को ध्यान में रखकर १९५० में यह निर्णय किया गया कि ५९ प्रशिक्षण केन्द्रों में डायरेक्टोरेट जनरल आफ रिसैटलमेंट एण्ड एम्प्लायमेंट १०,००० के लगभग व्यक्तियों को प्रशिक्षण दें। भूतपूर्व सैनिकों को व्यावसायिक एवं विशेषज्ञ प्रशिक्षण देने की योजना इस प्रकार १९५० में समाप्त हो गई और इसका स्थान 'वयस्क नागरिक प्रशिक्षण योजना' ने ले लिया। जो निस्सन्देह राष्ट्र निर्माण के कार्य में एक महत्वपूर्ण योजना है। १९४९ में कोनी, मध्यप्रदेश में प्रधान-कर्मचारियों (फोरमैन) तथा प्रबन्धकर्त्ताओं (सुपरवाइजर्स) के प्रशिक्षण के लिए एक केन्द्रीय प्रशिक्षण संस्था भी संस्थापित की गई।

राष्ट्रीय नौकरी-व्यवस्थापन नियोजन की नौका को अनेक बार भीषण तूफानों से टक्कर लेनी पड़ी, परन्तु कप्तान श्री जगजीवन राम के आदर्श उसके सामने थे, जिन्होंने प्रत्येक तूफान से टक्कर लेने में सहायता की। आज हम ऐसी स्थिति में हैं जहाँ से आशा की किरणें स्पष्ट दिखाई दे रही हैं। भारत सरकार ने हाल ही में एक समिति की नियुक्ति इस बात की जाँच-पड़ताल करने के लिये की है कि क्या नौकरी-व्यवस्थापन नियोजन को समाप्त कर दिया जाये या इसका कार्य चलता रहे, यदि हाँ, तो किस रूप में? आशा की जाती है कि समिति की जाँच के परिणाम अनुकूल ही होंगे। यह प्रथम श्रम-मंत्री श्री जगजीवन राम के लिए, जिनके नेतृत्व में इस नियोजन ने इतनी उन्नति की, एक महान उपहार होगा।

श्री जगजीवन राम और श्रम

पृथ्वीनाथ कौल

श्री जगजीवन राम के लिए परिचय की आवश्यकता नहीं। वे भारत के करोड़ों दलित व्यक्तियों के प्रथम-श्रेणी के नेता रहे हैं। श्रम-मन्त्री के रूप में अपने पाँच वर्ष के कार्य-काल में उन्होंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति श्रम-सम्बन्धी समस्याओं को हल करने में लगादी।

श्रम-विधान की दृष्टि से, पहले भारतीय राज्यों का १९४७ में भारतीय संघ में प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। केन्द्र द्वारा पारित श्रम-विधियों की सीमा प्रविष्ट राज्यों पर लागू कर दी गई। केन्द्र द्वारा १९५२ से पूर्व पारित किये गए अधिनियम केवल उन राज्यों में लागू थे जो 'क भाग' और 'ग भाग' के राज्य कहलाते हैं। 'ख भाग राज्य-विधि अधिनियम, १९५१' को पारित करके केन्द्रीय अधिनियम जम्मू और काश्मीर राज्य को छोड़ कर 'ख भाग' के शेष सभी राज्यों पर लागू कर दिये गए।

सबसे पहला जो अधिनियम पारित हुआ, वह 'न्यूनतम वेतन अधिनियम' था, जो कृषि तथा अधिक परिश्रम के उद्योगों में काम करने वाले मज़दूरों के वेतन तथा कर्म-परिस्थितियों का नियमन करता है। डॉक (नौकागारों) के श्रम का प्रश्न एक भिन्न अधिनियम द्वारा हल किया गया। व्यापार संघ (संशोधन) अधिनियम ने व्यापार संघ संस्थाओं को प्रभावशाली बनाया और नियोजकों को इसके लिए बाध्य किया कि वे ऐसी संस्थाओं का संगठन करें और उनसे समझौते की बातचीत करें। श्रम सम्बन्धों का नियमन करने के लिए औद्योगिक विवाद अधिनियम (इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट) पारित किया गया। सामाजिक संरक्षण के लिये नियुक्त-राज्य-बीमा अधिनियम पारित किया गया। जो कम महत्त्व का नहीं है और अन्त में औद्योगिक श्रमिकों के लिए काम की उचित्त परिस्थितियों को निश्चित करने के हेतु कारखाना अधिनियम का पुनर्लेखन किया गया।

कारखाना अधिनियम, १९४८

१९३४ के अधिनियम के सूक्ष्म निरीक्षण से पता चला कि मूल अधिनियम में बहुत से दोष थे। कर्मियों की रक्षा, स्वास्थ्य और कल्याण सम्बन्धी उपबन्ध अपर्याप्त थे और छोटे कारखानों में नियुक्त कर्मी उसकी सीमा से बाहर थे। अधिनियम के व्यवहार से यह स्पष्ट हो गया कि उसमें आमूल पुनरीक्षण की आवश्यकता है। इसलिए सम्पूर्ण अधिनियम का फिर से अध्ययन और गठन किया गया। ३० जनवरी १९४८ को विधेयक की पुनःस्थापना करते हुए, श्री जगजीवन राम ने

उसमें किये गये मोटे परिवर्तनों की ओर निर्देश करते हुए उसका सारांश प्रशंसनीय ढंग से समझाया। उन्होंने कहा :

'इस विधेयक का प्रयोजन केवल कारखानों के काम की परिस्थितियोंसे सम्बन्धित विधान का समाहार करना ही नहीं है वरन उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण नवीन विषयों का प्रवेश भी है।'

'अब सुझाव यह है कि कारखानों से सम्बद्ध विधान उन सब औद्योगिक संस्थाओं को लागू किया जाय जहाँ, यदि वहाँ बिजली से काम होता है, तो दस या अधिक कर्मी काम करते हैं और दूसरे सब मामलों में बीस या अधिक काम करने वाले हैं। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप नियन्त्रण में आने वाले संस्थानों की संख्या तिगुनी हो जाने की संभावना है। जिन कर्मियों को कारखाना अधिनियम के उपबन्ध लागू होंगे उनकी संख्या तुरन्त ही २५ लाख से बढ़कर ३५ लाख हो जायगी। इसी आशय से इसकी परिभाषा का विस्तार किया गया है।'

'......मैं यह समझता हूँ और मुझे विश्वास है कि माननीय सदस्य इस विषय में मुझसे सहमत होंगे कि स्वच्छता, वायुसंचार, प्रकाश, पीने के पानी की पूर्ति, सफाई की सुविधाओं के उपबन्ध, मशीनों की रोक, काम के घंटे, आराम का साप्ताहिक दिवस, बालकों की नियुक्ति के निषेध और किशोर अवस्था वालों के लिए काम के घंटों में कमी से सम्बन्ध रखने वाले विनियम सभी कारखानों को लागू होने चाहिए, वहाँ काम करने वालों की संख्या चाहे जितनी हो।'

'....रक्षा के उपायों का काम में लाना तब तक स्थगित नहीं किया जा सकता जब तक कि नियमों में उनका उपबन्ध नहीं कर दिया जाता। एकमात्र संतोषजनक विधि यह है कि कारखाने के मालिकों पर, उनके कारखानों के कर्मियों की रक्षा को निश्चित करने के लिए समस्त आवश्यक उपाय करने का स्पष्ट और निर्दिष्ट दायित्व डाल दिया जाय।'

'एक और महत्त्वपूर्ण उपबन्ध जिस की ओर मैं ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, वह है जो धारा ७ के अन्तर्गत है और कारखानों के निरीक्षक-विभाग द्वारा कारखानों की इमारतों के स्थान, बनावट और विस्तार के सम्बन्ध में जाँच का उपबन्ध करना है...'

'कर्मियों की भरती की उम्र हमने १२ से १३ वर्ष कर दी है। वे युवक जो वर्त्तमान १७ वर्ष की आयु के बजाय १८ वर्ष की आयु पूरी नहीं कर चुके होंगे, किशोर समझे जायेंगे।'

'जो कर्मी छः महीने नौकरी दे चुके हैं उन के लिए छुट्टी का उपबन्ध करने के अभिप्राय से सवेतन छुट्टी से सम्बद्ध अध्याय का पुनरीक्षण किया गया है। यह एक नया उपबन्ध है।'

'..हमने अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघठन के औद्योगिक स्वास्थ्य-नियम संग्रह के उतने उपबन्धों का परिपालन करने का प्रयत्न किया है जो भारत की स्थिति में सम्भव हो सकते हैं।.....,जब

"यह विधान विधि (कानून) का रूप ले लेगा तो हमारी विधान-सूची में एक ऐसी कारखाना विधि सम्मिलित हो जायगी, जिसका यदि ठीक पालन हुआ तो उससे मज़दूरों के कार्य की स्थिति में मार्के की बात और निश्चित सुधार होगा।'

यह विधेयक संविधान सभा ने २८ अगस्त १९४८ को स्वल्प संशोधनों के साथ पारित किया और २३ सितम्बर, १९४८ को उस पर भारत के गवर्नर जनरल की अनुमति प्राप्त हुई और १ अप्रैल, १९४९ को उसका प्रवर्तन हुआ।

न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम, १९४८

१९४३ में स्थायी श्रमिक समिति ने तथा १९४४ और १९४५ में त्रिपक्षीय श्रमिक सम्मेलन ने कर्मियों की निम्नतम मज़दूरी निर्धारित करने की आवश्यकता पर विचार किया था। तदनुसार ११ अप्रैल १९४६ को न्यूनतम मज़दूरी विधेयक केन्द्रीय विधान सभा में पुनःस्थपित किया गया और १९४८ में उपनिवेशक विधान-मण्डल ने उसे पारित किया। १५ मार्च १९४८ को उसे गवर्नर जनरल की अनुमति प्राप्त हुई।

यह अधिनियम कुछ नियुक्तियों में जहाँ 'कठिन परिश्रम लेने की प्रथा अधिक प्रचलित है अथवा जहाँ श्रम के दुरुपयोग का अधिक अवसर मिल सकता है' न्यूनतम मज़दूरी निर्धारित करने का उपबन्ध करता है। यह अधिनियम जम्मू व काश्मीर को छोड़ कर भारत के सब राज्यों को लागू होता है, और उन सरकारों को अधिकार देता है कि वे इस को किसी भी उद्योग पर लागू कर सकती हैं। परामर्शदात्री समितियों और परामर्शदात्री मण्डलियों (Boards) के लिए भी उपबन्ध किया गया है।

यह अधिनियम न्यूनतम मज़दूरी (संशोधन) अधिनियम १९५० द्वारा संशोधित हुआ और कृषि को छोड़कर दूसरी नियुक्तियों के सम्बन्ध में मज़दूरी की न्यूनतम दर निर्धारित करने की तारीख १५ मार्च १९५१ तक बढ़ा दी गई। १९५१ के अधिनियम १६ द्वारा यह अवधि कृषि को छोड़ कर अन्य नियुक्तियों के लिए ३१ मार्च १९५२ तक तथा कृषि-श्रमियों के लिए ३१ दिसम्बर १९५३ तक बढ़ा दी गई।

५ मार्च १९५३ को वर्तमान श्रम-मन्त्री श्री वी० वी० गिरि ने संसद् में कुछ विशेष अनुसूचित नियुक्तियों की न्यूनतम मज़दूरी निर्धारित करने की कालावधि बढ़ाकर ३१ दिसम्बर १९५३ तक करने के सम्बन्ध में एक विधेयक पुनःस्थापित किया।

भारतीय व्यापार संघ (संशोधन) अधिनियम, १९४७

यदि हम १९२८ व १९४२ में किये गये स्वल्प परिवर्तनों की बात छोड़ दें तो १९२६ का व्यापार संघ अधिनियम ही, जिसका प्रवर्तन १ जून १९२७ को हुआ, भारत के व्यापार संघों के विनि-



(बाईं ओर से) मि० जौफरी गेन, मि० ज्यो. हार्न, (सेक्रटरी, स्टैवडोर्स एंड डोकर्स यूनियन, लन्दन) श्री ए. एन. सिन्हा, श्री जगजीवन राम, श्रीमती मैनिंग, मि० मैनिंग, मि० ऐरिक टर्पिन, श्रीमती कैसीनेडर सीलोन, श्री दयाराम बेरी, श्री मैनिंग के बच्चे (सामने की पंक्ति में)

(लन्दन, जुलाई १९५०)



अखिल भारतीय दलित-जाति संघ की कार्यकारिणी समिति के सदस्य

रामेश्वर अग्निभोज, खाण्डेकर, जगजीवन राम, नारायण स० काजरोलकर, जमुना राम, भगवत प्रसाद, मेवालाल, पृथ्वी सिंह आज़ाद, रामानन्द दास, श्री कुमैया, डॉ० धर्म प्रकाश, चंधोले, कन्हैयालाल वाल्मीकि

यमन के लिए मूलभूत अधिनियम रहता आया है; परन्तु इस अवधि में मान्यता का प्रश्न नियोजकों और व्यापार संघों के बीच बराबर विवाद का प्रधान कारण बना रहा।

१९४७ संशोधन अधिनियम ने प्रतिनिधि संघों को नियोजकों द्वारा अवश्य मान्यता प्रदान किये जाने के संबन्ध में वैध उपबंध कर दिये। इस अधिनियम ने कुछ विशेष आचरण, मान्यता प्राप्त संघों के लिए, और कुछ अन्य आचरण नियोजकों के लिए, अनुचित निर्धारित कर दिये। संघों के संबन्ध में ऐसा उपबंध किया गया कि उनकी मान्यता वापस लेली जाय और नियोजकों के लिए दण्ड के रूप में एक हज़ार तक का जुर्माना नियत कर दिया गया।

औद्योगिक विवाद अधिनियम, १९४७

१९४६ में श्री जगजीवन राम ने केन्द्रीय विधान मण्डल में औद्योगिक विवाद विधेयक पुनः स्थापित किया जो मार्च १९४७ में अधिनियम के रूप में पारित हुआ। १९४७ के इस औद्योगिक विवाद अधिनियम ने १९२९ के व्यापार विवाद अधिनियम को निरस्त कर दिया। उसने भारत प्रतिरक्षा नियमों के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों को कायम रक्खा और औद्योगिक विवादों के निवारण तथा समाधान के लिए दो नई संस्थाओं की स्थापना का उपबन्ध किया। ये हैं कर्म-समितियाँ और औद्योगिक न्यायाधिकरण। कर्म-समिति प्रत्येक ऐसे संस्थान में स्थापित होनी चाहिए जिसमें १०० या अधिक कर्मी नियुक्त हों। जनोपयोगी सेवाओं के समस्त विवादों में समाधान को आवश्यक बनाकर यह अधिनियम समाधान सामग्री को एक नया रूप देने का प्रयत्न करता है। यह समाधान तथा निर्णय की कार्यवाही के दौरान में हड़ताल और तालाबन्दी का भी निषेध करता है।

१९४९-५२ के दौरान में इस अधिनियम में बहुत से संशोधन किये गये। अनुभव से यह मालूम हुआ कि नियोजकों के मार्ग में-विशेषतया महाजनी और बीमा कम्पनियों के मामले में—विवादों के निर्णय से भारी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। ऐसे कम्पनियों को उन व्यवसायों की सूची में सम्मिलित करने के उद्देश्य से, जिनके लिए केवल केन्द्रीय सरकार ही मंडली (बोर्ड), न्यायालय और न्यायाधिकरण स्थापित करने में सक्षम है, अप्रैल १९४९ में औद्योगिक विवाद (महाजनी व बीमा) अध्यादेश, १९४९, प्रख्यापित किया गया। एक दूसरा अध्यादेश २९ अक्तूबर १९४९ को प्रख्यापित किया गया जिसका स्थान दिसम्बर १९४९ में उसी वर्ष के अधिनियम ५५ ने ले लिया।

औद्योगिक विवाद (अपील न्यायाधिकरण) अधिनियम

औद्योगिक विवादों तथा अन्य प्रासंगिक विषयों के सम्बन्ध में अपील न्यायाधिकरण की स्थापना का उपबन्ध करने के लिए ११ अप्रैल १९५० को संसद् में एक विधेयक पुनःस्थापित किया गया और वह उसी वर्ष पारित हो गया। यह १९५० का अधिनियम ४८ हुआ। इससे १९४७ औद्योगिक विवाद अधिनियम में कुछ संशोधन हुआ।

औद्योगिक विवाद (संशोधन तथा अस्थायी उपबन्ध) अधिनियम, १९५१

यूनाइटेड कमर्शल बैंक और उसके कर्मचारियों व नियोजकों के मध्यवर्ती विवाद में अखिल भारतीय बैंक विवाद न्यायाधिकरण द्वारा दिये गये निर्णय को भारत के सर्वोच्चम न्यायालय ने अमान्य कर दिया। इस निर्णय के परिणाम स्वरूप २७ जून १९५१ को औद्योगिक विवाद (संशोधन तथा अस्थायी उपबन्ध) अधिनियम पारित किया गया।

न्यायाधिकरण में रिक्त स्थानों की पूर्ति से सम्बन्ध रखने वाले मामलों को इस अधिनियम द्वारा निकाल दिया गया।

औद्योगिक विवाद (संशोधन) अधिनियम, १९५२

औद्योगिक विवाद अधिनियम १९४७, औद्योगिक विवाद (संशोधन) अधिनियम द्वारा फिर संशोधित किया गया, जो ४ मार्च १९५२ को पारित हुआ।

सेवायुक्त राज्य बीमा अधिनियम, १९४८

१९२७ में अपने दशवें अधिवेशन में अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक सम्मेलन ने कर्मियों के स्वास्थ्य बीमे के सम्बन्ध में दो अभिसमय (conventions) अंगीकार किये। तदनुसार भारत सरकार ने औद्योगिक कर्मियों के लिए एक स्वास्थ्य योजना बनाने को प्रोफेसर बी० पी० आदरकर को नियुक्त किया। ऐसा मालूम हुआ कि यद्यपि विभिन्न प्रसूति–हित–अधिनियम तथा कार्मिक-प्रतिकर अधिनियम सामाजिक सहायता के विधान थे, उनमें से कोई भी सामाजिक बीमे का सिद्धांत पुनः स्थापित नहीं करता था।

यह अधिनियम स्वास्थ्य, बेकारी, प्रसूति, अस्वास्थ्य और नियुक्ति-क्षति बीमे के सम्बन्ध में एक पूर्ण विधान पुनःस्थापित करने का, प्रथम प्रयास निरूपित करता है। समस्त बीमा किये हुए कर्मियों को यह पाँच प्रकार के लाभ प्रदान करता है: अस्वास्थ्य-हित, प्रसूति-हित, नियोग्यता-हित, आश्रित-हित और उपचार-हित।

सरकार ने सेवायुक्त-राज्य-बीमे का एक महानिर्देशक (डाइरेक्टर जनरल) नियुक्त किया और सेवायुक्त-राज्य-बिमा-नियम की स्थापना की जिसका उद्घाटन ६ अक्टूबर १९४८ को हुआ। उद्घाटन करते हुए श्री जगजीवन राम ने कहा :

'यह एक विशाल भवन का कोण प्रस्तर है जो (भवन) आर्थिक मुक्ति के इच्छुक एक स्वतन्त्र देश को बनाना आवश्यक है।'

सामाजिक बीमा योजना से कर्मियों को पाँच प्रकार के लाभ हुए हैं और वाणिज्य सम्बन्धी योजना के विपरीत इसका परिव्यय, नियोजक नियुक्त, और राज्य को करना पड़ता है। ये सभी

कर्मचारी जिनका परिश्रमिक ४०० रू० मासिक से अधिक नहीं है इस अधिनियम के क्षेत्र में आ जाते हैं।

जम्मू और काश्मीर को छोड़ कर इस अधिनियम का विस्तार सम्पूर्ण भारत में कर दिया है।

सेवायुक्त-भविष्य निधि अधिनियम, १९५२

आवश्यक भविष्य निधि (प्राविडेन्ट फण्ड) की स्थापना कारखाने के कर्मचरियों की सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कार्यवाही है। इसका उपबन्ध करने के लिए भारत सरकार ने १५ नवम्बर १९५१ को सेवायुक्त भविष्य निधि अध्यादेश (नं० ८, १९५१) प्रख्यापित किया। यह अध्यादेश उन सब कारखानों को लागू हुआ जिसमें ५० या अधिक व्यक्ति नियुक्त हैं और विभिन्न श्रेणियों के कर्मियों के लिऐ भविष्य निधि की स्थापना करने के लिए योजना बनाने की, केन्द्रीय सरकार को, यह अध्यादेश शक्ति प्रदान करता है। यह योजना नियुक्त-भविष्य-निधि योजना कहलाती है। इस योजना के अनुसार नियोजक और नियुक्त—प्रत्येक को उस राशि का१/१६ अंशदान देना पड़ता है जो नियुक्त को उसके मूल मज़दूरी और महंगाई के भत्ते के रूप में दी जाती है।

इस अध्यादेश का स्थान १९५२ के अधिनियम १९ ने लिया जो ५ मार्च १९५२ को पारित हुआ। यह ६ बड़े संगठित उद्योगों में अंशदान वाली भविष्य निधियों की स्थापना का उपबन्ध करता है।

नौकागार (डॉक) कर्मी (नियुक्ति विनियमन) अधिनियम, १९४८

नौकागार के कर्मियों की नियुक्ति की रीति आकस्मिक होने के कारण उनको भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए मार्च १९४८ में नौकागार कर्मी (नियुक्ति विनियमन) अधिनियम पारित किया गया।

यह अधिनियम महापत्तनों के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को और अन्य पत्तनों (बन्दरगाहों) के संबंध में राज्य सरकारों को नौकागार-कर्मियों के पंजीयन (रजिस्ट्रेशन) की शक्ति प्रदान करता है जिससे नियुक्ति अधिक नियमित हो सके और नौकागार-कर्मियों की नियुक्ति, जिसमें पारिश्रमिक की दर, काम के घंटे और सवेतन छुट्टी सम्मिलित हैं, विनियमित हो सके।

भारतीय वणिक नौ-वहन (संशोधन) अधिनियम, १९४९

१९२३ में वणिक-पोत-विधि के समाहरण तथा वणिक-नौ-वहन संबंधी विभिन्न विषयों के विनियमन के लिए भारतीय वणिक नौ-वहन अधिनियम पारित किया गया।

१९४९ में यह अधिनियम भारतीय वणिक-नौवहन (संशोधन) अधिनियम द्वारा संशोधित हुआ जो पत्तनों में, सामुद्रिक श्रमिकों को पूर्ति के विनियमन के लिए नाविक नियुक्त कार्यालय स्थापित करने का उपबंध करता है।

यह अधिनियम भारतीय वणिक्-नौ-वहन [संशोधन] अधिनियम, १९५१ द्वारा फिर संशोधित हुआ। इस अधिनियम के अनुसार कोई व्यक्ति किसी नाविक को नियुक्त नहीं कर सकता और न उसे किसी जलयान में समुद्र पर ले जा सकता है, जब तक कि उस नाविक के पास, उसकी शारीरिक योग्यता के सम्बन्ध में, निर्धारित प्राधिकारी द्वारा प्रदत्त प्रमाणपत्र न हो।

यह अधिनियम १४ वर्ष से कम उम्र के लड़कों की, सभी जलयानों में, जो भारत में पंजीबद्ध हों अथवा विदेशों को जा रहे हों, नियुक्ति का, तथा १८ वर्ष से कम उम्र के युवकों की ट्रिमर या स्टोकर (झोंकने वाले) के रूप में नियुक्ति का निषेध करता है। कोई भी १८ वर्ष से कम उम्र का व्यक्ति किसी भी रूप में समुद्र पर नियुक्त नहीं किया जा सकता और न ले जाया सकता है जब तक कि वह अपनी शारीरिक योग्यता का डाक्टरी प्रमाणपत्र पेश न करे। यह अधिनियम मज़दूरी में कटौती, नाविक को अग्रिम धन देने तथा स्वास्थ्य, कल्याण और सामाजिक सुरक्षा का भी विनियमन करता है।

खान अधिनियम, १९५२

१९२३ के भारतीय खान अधिनियम में बहुत सी त्रुटियाँ और कमियाँ थीं। उसके पूर्णतया पुनर्निरूपण की आवश्यकता थी। खानों में काम के घंटे, मज़दूरी, स्वास्थ्य और सुरक्षितता का विनियमन करने के लिए मार्च १९५२ में खान अधिनियम पारित किया गया, जिसे १५ मार्च १९५२ को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हुई, और १ जुलाई १९५२ को जिसका प्रवर्तन हुआ।

यह अधिनियम पर्यवेक्षकों की नियुक्ति और प्रमाणित करने वाले डाक्टरों की नियुक्ति तथा खनिज-मंडलियों और समितियों के संबंध में उपबंध करता है। स्वास्थ्य और सुरक्षितता, काम के घंटों और परिसीमाओं, सवेतन छुट्टी आदि के संबंध में भी उपबंध किये गये हैं। यह अधिनियम अतिरिक्त काम के लिए भी मज़दूरी की दर निर्धारित करता है जो धरातल पर काम करने वालों के लिए साधारण दर की ड्योढ़ी हो और धरती के नीचे काम करने वालों के लिये दूनी।

कोयला खान श्रमिक कल्याण निधि अधिनियम, १९४७

कोयला-क्षेत्रों में कल्याण-कार्य पर अत्यधिक ध्यान देने की आवश्यकता थी। इसलिए केन्द्रीय सरकार ने कोयला खान श्रमिक कल्याण निधि का संगठन करने के लिए ३१ जनवरी १९४४ को कोयला खान श्रमिक कल्याण निधि अध्यादेश प्रख्यापित किया। इस से कोयला खानों में नियुक्त कर्मियों के कल्याण के उपायों के लिए वित्तदान के लिए उद्योगों के उत्पादन पर उपकर के उद्ग्रहण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया।



सन् १९४७ में कांग्रेस महासभा की कार्यसमिति के सदस्य के रूप में श्री जगजीवन राम बगल में पट्टाभि सीतारमैया और बीच में देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसाद



श्री राजगोपालाचार्य और श्री नेहरू के साथ श्री जगजीवन राम



लॉर्ड तथा लेडी माउण्टबेटन के साथ श्री जगजीवन राम (२० अगस्त, १९४७)

इस अध्यादेश का स्थान कोयला-खान श्रमिक कल्याण-निधिअधिनियम १९४७ ने लिया जिसका प्रवर्तन १४ जून १९४७ को हुआ। इस अधिनियम ने कोयला-खान उद्योग में नियुक्त श्रमिकों के कल्याण के उपबन्ध वृद्धि की। १९४४ के अध्यादेश के मुख्य उपबंधों को इसने पूर्ववत् कायम रक्खा, किन्तु निधि की वित्तीय सहायता और प्रशासन के सम्बन्ध में परिवर्तन कर दिये। कोयला खानों से भेजे जाने वाले प्रत्येक टन कोयले और कोक के उद्ग्रहीत उपकर क्रमशः एक आना और चार आना से बढ़ाकर चार आना और आठ आना कर दिया गया। कोयला खान श्रमिक आवास मंडली के गठन का उपबन्ध भी किया गया।

इस अधिनियम के उपबन्धों के अधीन एक कोयला खान श्रमिक आवास तथा साधारण कल्याण निधि स्थापित की गई जिसके दो खाते थे, आवास खाता; और साधारण कल्याण खाता। यह अधिनियम अप्रैल १९४९ में संशोधित हुआ और इस सशोधन के द्वारा कोयला खान श्रमिक आवास मंडली के कृत्यों में वृद्धि की गई। उत्पादन-शुल्क की दर बढ़ा कर तिगुनी कर दी गई।

कोयला खान भविष्य निधि तथा बोनस योजना अधिनियम १९४८

कोयला खनन सम्बन्धी त्रिपक्षीय औद्योगिक समिति ने जनवरी १९४८ में, कोयला खनकों के लिए एक केन्द्रीय अनिवार्य भविष्य निधि की स्थापना की प्रस्थापना की। तदनुसार २३ अप्रैल १९४८ को भारत सरकार ने कोयला-खान भविष्य निधि और बोनस योजना अधिनियम का प्रख्यापन किया। इस अधिनियम का स्थान ३ सितंबर १९४८ को कोयला खान भविष्य निधि तथा बोनस योजना अधिनियम १९४८ ने लिया। इसको ३ सितम्बर १९४८ को भारत के गवर्नर जनरल की अनुमति प्राप्त हुई।

यह अधिनियम केन्द्रीय सरकार को कोयला खानों के कर्मियों के लिए कोयला खान भविष्य निधि योजना और बोनस योजना बनाने की शक्ति प्रदान करता है—जिसमें कोयला खान-निधि में सम्मिलित होने वाले नियुक्तों की दशा, वे शर्तें जिन पर वे मुक्त किये जा सकते हैं और अंशदान (Contribution) की दर, समय और अदाई की रीति निर्धारित की गई हों। निधि का प्रबन्ध करने के लिए एक न्यायाधिकृत मंडली (Board of Trustees) स्थापित करने का उपबंध भी किया गया।

अभ्रक खान श्रमिक कल्याण निधि अधिनियम १९४६

भारत से निर्यात किए जाने वाले समस्त अभ्रक पर उपकर का उद्ग्रहण करके एक निधि स्थापित करने का उपबन्ध करने के लिए १९४६ में अभ्रक खान श्रमिक कल्याण निधि अधिनियम पारित किया गया।

२ जनवरी १९४८ को इस अधिनियम के प्रशासन के लिए सरकार ने नियम बनाये और दो परामर्शदात्री समितियाँ स्थापित की—एक बिहार में और दूसरी मद्रास में। राजस्थान और अजमेर में

भी परामर्शदात्री समितियों के स्थापन का उपबंध करने के लिए जनवरी १९५२ में इन नियमों में संशोधन किया गया।

उद्भिद्-क्षेत्र (Plantation) श्रमिक अधिनियम १९५१

श्रम अनुसंधान समिति (१९४६) ने पृथक् 'उद्भिद्-क्षेत्र श्रम-संहिता' अधिनियमित करने की सिफ़ारिश की थी। १९४७ में केंद्रीय सरकार ने उद्भिद्-क्षेत्र उद्योग की समस्याओं पर विचार करने के लिये एक उद्भिद्-क्षेत्र त्रिपक्षीय औद्योगिक समिति की स्थापना की। इस समिति ने कर्मियों को उचित मज़दूरी देने की भी सिफारिश की। इस समिति ने निर्णय किया कि इन क्षेत्रों में १२ वर्ष से कम आयु के बच्चों की नियुक्ति का विरोध होना चाहिए।

तदनुसार एक उद्भिद् श्रम विधेयक की पांडुलिपि तैयार की गई और उस पर सितम्बर १९४९ में त्रिपक्षीय उद्भिद्-क्षेत्र सम्मेलन ने और नवम्बर १९५० में उद्भिद्-क्षेत्र औद्योगिक समिति ने चर्चा की। संसद में जून १९५१ में यह विधेयक पुनःस्थापित किया गया और अक्तूबर १९५१ में वह अधिनियमित हुआ। इस अधिनियम पर २ नवम्बर १९५१ को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हुई।

इस अधिनियम के उपबंध अधिकतर १९४८ के कारख़ाना अधिनियम पर आधृत हैं। यह उद्भिद्-क्षेत्र कर्मियों के काम की शर्तों, स्वास्थ्य और नियुक्ति का विनियमन करता है। और बातों के साथ-साथ इस अधिनियम ने वयस्कों के लिए सप्ताह में काम के ५४ घण्टे और किशोरों तथा बालकों के लिए ४० घंटे नियत किये। १२ वर्ष से कम के बच्चों से तथा स्त्रियों और बच्चों से रात में सन्ध्या के ७ बजे से प्रातःकाल के ६ बजे तक काम लेना निषिद्ध कर दिया गया।

विधान के सम्बन्ध में

केन्द्र में प्रथम राष्ट्रीय मन्त्री परिषद् के कार्यभार संभालने से पूर्व श्रम सम्बन्धी विधान नगण्य था। तब से साधारण चुनावों के बाद नई राष्ट्रीय मन्त्रि परिषद् के बनने के समय तक समय-समय पर अधिनियमों की एक शृंखला पारित हुई। इस विधान का पुनरीक्षण दो मुख्य बातों पर निर्देश करता है, पहली बात यह है कि श्रमिक वर्ग की सहायता के उद्देश्य से संपूर्ण विधान का प्रणयन श्रममन्त्री के रूप में श्री जगजीवन राम के द्वारा हुआ। इस देश में हमारे श्रमिक वर्ग के लाखों व्यक्तियों की दशा में सुधार करने में वे एक गतिशील शक्ति रहे हैं।

इस विधान के सम्बन्ध में दूसरी बात देश में आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना करना रहा है। यह श्रमिकों, नियोजकों और सरकार के सहयोग से हो सकता है। सरकार ने उद्योग और श्रम की एक संयुक्त परामर्शदात्री मण्डली स्थापित की जिसमें नियोजकों और कर्मियों—दोनों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे और सभापति स्वतन्त्र व्यक्ति था। उद्योग और श्रम के मध्य सहयोग और समझौते की भावना की वृद्धि करने के लिए यह कार्यवाही जुलाई १९५१ में की गई। इस प्रकार के त्रिपक्षीय

निकायों का कर्तव्य औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार करना और उसके द्वारा आर्थिक लोकतन्त्र के आधार को दृढ़ करता रहा है।

भारतीय संविधान मौलिक अधिकारों और राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों के उपबन्धों के द्वारा श्रमिक वर्ग के हितों की रक्षा की गारंटी करता है। ये देश में आर्थिक लोकतंत्र स्थापित करने के लिए प्रवृत्त हैं। श्री जगजीवन राम इस क्षेत्र में सदा एक रक्षक के रूप में रहे हैं। श्रममन्त्री की हैसियत से उनका कार्य स्मरण योग्य है और श्रम विधान पुनःस्थापित करने का श्रेय एकमात्र उन्हीं को है। परन्तु श्री जगजीवन राम इतने विनयशील हैं कि वे उस श्रेय में श्रमिक वर्ग को भी भागीदार रखते हैं। वे कहते हैं :

'मैं सर्वांश में इस श्रेय का अधिकारी नहीं बनना चाहता। मैं·······इस देश के श्रमिक वर्गों को, उनकी देशभक्ति और कर्तव्य पालन की भावना के लिए हार्दिक बधाई और निश्छल धन्यबाद देता हूँ। वही एक चीज़ है जिसने हमें और हमारी शक्ति को सहारा दिया है। मैं उनके लिए कोई ठोस कार्य करने के श्रेय का दावा नहीं कर सकता। कीमतों के बढ़ जाने पर और दूसरी बहुत सी कठिनाइयों के होते हुए भी उन्होंने औद्योगिक संधि का पालन किया और अत्यन्त सचाई और ईमानदारी के साथ किया।'

आर्थिक लोकतन्त्र के सम्बन्ध में बोलते हुए श्री जगजीवन राम ने इसको स्पष्ट किया है :

'हमारा ध्येय और नीति सुविदित रही है। स्वयं संविधान में उसका समावेश कर दिया गया है। इसलिए मेरा कार्य सरल हो गया है। हम सहकारी संस्थाओं के मण्डल का प्रतिपादन करते हैं और हमको औद्योगिक लोकतन्त्र के लिए ही नहीं आर्थिक लोकतन्त्र के लिए प्रयत्न करना है। यह मार्ग है जिस पर मैं इस देश के श्रमिक वर्गों को ले जाने की कोशिश कर रहा हूँ। आज यदि कभी कभी लोगों को ऐसा मालूम देता है कि मैं यहाँ कहीं श्रमिक वर्गों के प्रति कुछ कठोर हो जाता हूँ तो इसका कारण यह है कि मैं उनको उत्तरदायी बनाना चाहता हूँ और उनको उस उत्तरदायित्व का प्रत्यक्ष अनुभव कराना चाहता हूँ जो भविष्य में उन पर आने वाला है। कुछ सुख, थोड़ी सी सुविधाएँ अथवा मज़दूरी में तनिक सी वृद्धि श्रमिक वर्गों की समस्याओं का हल नहीं हैं। ये तो केवल कुछ शांति देने वाले हैं। हमको आर्थिक लोकतन्त्र का विकास करना है और हमें श्रमिक वर्गों को उसके लिए पूर्णतया सन्नद्ध करना है। वह लक्ष्य है जहाँ श्रमिक वर्गों को ले जाना चाहता हूँ।

छोटा नागपुर के कुछ लोकगीत

माया गुप्त

बिहार के लोकगीत अन्य राज्यों के लोक गीतों की तरह जन्म लेकर सारे जीवन को परिव्याप्त करके चलते हैं। हमारे यहाँ की जनता का जीवन बहुत ही इकरस है, पेट भर कर अन्न नहीं मिलता, फिर भी इन लोक गीतों की बदौलत जनता के जीवन में कुछ न कुछ विचित्रता बनी रहती है। इस दृष्टि से देखा जाय तो लोकगीत वह शक्ति है जो हमारी सब तरह से पीड़ित, पददलित जनता की कमर को टूटने नहीं देती। जो लोग इन गीतों में पले हैं, या जो लोग लोकगीतों में पले हुए लोगों को बहुत पास से देखते रहे हैं, वे ही समझ सकते हैं कि ये लोकगीत किस प्रकार का जादू सा असर रखते हैं। उनकी आवाज़ कानों में पड़ते ही गाँव के लोगों के बुझेहुए चेहरे जल उठते हैं, आँखों में दिव्य आदिम ज्योति आ जाती है, हृदय में गुदगुदी पैदा होती है।

बात यह है कि जन्म से इन गीतों को सुनते-सुनते वे उनमें जितना अर्थ लेते हैं, जितना उनमें दूसरों को कभी नहीं मिलेगा। दूसरे तो केवल शब्दार्थ लेंगे, पर उन शब्दों के साथ बचपन की, ऐसा मालूम होता है कि जन्म जन्मान्तर की जो स्मृतियाँ छिपी हुई हैं, वे दूसरों को कैसे मालूम होंगी। लोकगीतों का जन-जीवन में क्या स्थान है, यह लोकगीतों को छापे के शीतल हरफों में पढ़ने से ज्ञात नहीं होगा। उनके द्वारा उत्पन्न वातावरण को हृदयंगम करने के लिए यह आवश्यक है कि उसी वातावरण में यदि पैदा न हुआ जाय तथा उसे मां के दूध के साथ पिया न जाय या उसमें जिया न जाय, तो कम से कम उन्हें उसी वातावरण में सुना जाय, जहाँ वे गाये जाते हैं। आल इंडिया रेडियो इसलिए धन्यवादार्ह है कि अब सब लोगों को नियमित रूप से प्रत्येक राज्य के लोकगीत सुनाई पड़ सकते हैं। शब्द से जहाँ तक हो सकता है रेडियो के जरिये से यह वातावरण लोगों तक पहुँचाया जा रहा है।

पहले मैं सोहर गीत से शुरू करूँगी। सोहर गीत नवजात शिशु से सम्बन्ध रखता है। गरीब की झोंपड़ी से लेकर धनी की हवेली तक सर्वत्र सोहर का प्रचलन है। पड़ोस की स्त्रियाँ तथा गोतिनें याने रिश्तेदारी की स्त्रियाँ एकत्र होकर सोहर गाती हैं, और संगीत के जरिये से शिशु को तथा उसकी माता को अभिनन्दित करती हैं।

मेरा ऐसा अनुमान है कि सोहर के गीत स्त्रियों की रचना हैं। युग युग से स्त्रियाँ उन्हें परिवर्द्धित और संरक्षित करती आ रही हैं। भाषा और भाव देखने से यही ज्ञात होता है कि न मालूम

कितने युगों से कितनी ही जननियों की छाप इन पर पड़ी है। वे स्वप्न में रंगीन हैं, और कल्पना का घोड़ा तेज़ी से दौड़ाता है। एक सोहर यों है :

अठाहिं कंठ कुंइववा पातले मिले पानी
वांही सुन्दरी नारी चुकोवा में जल भरे।
घोड़ा चढ़ल आये राजा बेटा
पानी के प्यासा राजा मांगे पानी,
कहे—कंठ मेरा सूखल ई।

इसी गीत में आगे जो कुछ आता है, उसकी थोड़ी व्याख्या की आवश्यकता है। वह इसलिए कि लोकगीतों में प्रश्न के बाद उत्तर, और उत्तर के बाद प्रश्न बिना किसी तरह की सूचना दिये चलता है। जो उससे परिचित है, वह तो समझ लेता है कि यहाँ प्रश्न शुरू होता है, और यहाँ उसका अन्त होता है और उत्तर शुरू हो जाता है। इसी सोहर में वह राजा या राजकुमार पानी पीकर पूछता है :

केकर होहि तुहि बहुआ, केकर बेटिया।

इस पर वह स्त्री शायद कुछ मसखरेपन से या कि तिरस्कार करती हुई कहती है :

बाप क बेटिया ससुर पतुहिया
आपन बालम क सुन्दरी नारी।

इतना कहने पर भी शायद वह राजा या राजकुमार मानता नहीं है, तब उसी साँस में वह अपनी सास से कहती है :

मांचिया बैठल तुहि सासु
कुइयां पर उतरल मुसाफिर आलि बोलें मोरे।

इस पर सास पूछती है :

कौन बरन घोड़वा कौन बरन असवारा।

इस पर बहू कहती है :

लाल बरन घोड़ा सबज रंग साज बाज
सांवर बरन असवारा।

इस पर सास यह समझ जाती है कि यह उसी का बेटा है, परदेश से लौटा है। वह कहती है :

बाप खाहु, भइया खाहु, पुतहे बहुरिया
वही लागे बेटवा हमार।

इस पर बहू कहती है :

मत सासु भइया खाहु, मत सासु बाप
लरकई में भइले बियाह कैसे चिन्हैं सवामि।

इस गीत में ग्राम्य-जीवन का पूरा नक्शा सामने आ जाता है। लड़कपन में ब्याह होना, यहाँ तक कि पति-पत्नी का अपरिचित होना, सास और बहू का सम्बन्ध यह सब सामने आ जाता है। साथ ही रोमांस की भी कमी नहीं है क्योंकि परदेश से आये हुए पति को राजा या राजपुत्र करके देखा जाता है।

यह गीत सन्तान के जन्म पर क्यों गाया जाता है, यह समझना कठिन नहीं है। यद्यपि इसमें सन्तान का उल्लेख नहीं है, फिर भी इसमें जिस रोमांस का उल्लेख है, उससे सन्तान के जन्म का सम्बन्ध स्पष्ट है।

एक गीत यह है :

कौन बन उपजल नारियल
कौन बन जाफल, कौन बन गुलाब
गुलाबे चुनरी रंगैबे।
बाप बन उपजल नारियल
भइया बन उपजल जाफल
सैंया बन उपजल गुलाब
गुलाबे चुनरी रंगैबे।

प्रत्येक घर में जो लड़का पैदा होता है, वह उस घर के लिये रामचन्द्र का जन्म है, रामायण की कथा में राम के जन्म पर क्या-क्या उत्सव हुआ था, और क्या-क्या खुशियाँ मनाई गई थीं, यह सब को मालूम है, पर यहाँ तो नवजात शिशु के लिए एक खाट भी नहीं है। इस पर गरीबों की चीख के रूप में यह गीत सुनिये :

खटिया जोहैते खटिया न मिले
काहे (कौन) खटिया सुतैबे (शयन कराब) माय
राम जनम लैले।
खटिया खोजैते, खटिया न मिले,
तो सोनाक खटियै सुतैबे माय
राम जनम लैले।
कापड़ खोजैते कापड़ न मिले,
काहे कापड़ राम पिंधैबे माय
राम जनम लैले।
रेशम कापड़ राम पिंधैबे
राम जनम लैले।
सोनाक छुरियै राम नारा कटैबे

राम जनम लैले।
दीयरा खोजैते, दीयरा न मिले
काहे दीयार करबै इंजोर माय
राम जनम लैले।
सोनाक दीयरैं करब इंजोर घर
राम जनम लैले।

ऊपर के गीत में गरीब मां के अरमानों का बहुत मार्मिक चित्रण है। वह नवजात शिशु राम है, फिर भी उसके लिए न खटिया है, न कपड़े हैं, और न कोई वस्तु है। शिशु को राम बताकर अज्ञात गीत रचयित्री या रचयित्रियों ने जो रस पैदा किया है, वह सैंकड़ों शब्दालंकारों से उत्पन्न नहीं हो सकता था।

शिशु का इस प्रकार चुम्बनों से स्वागत होता है :

अंगिया चुमे टोपिया चुमे
और चुमे गोरे गोरे गाल
घुंघुर घुंघुर बाल मोरे लाल के
पइयां चुमे, मुंहवा चुमे और चुमे गाल
आहा मोर लाल।

बच्चे के ननिहाल से मिठाइयाँ आई हैं, बच्चे की दादी उन्हें देख रही है। यदि आधे आधे लड्डू बाँटे जाते हैं, तो उनसे उँगली दुखती है, पर पूरा नहीं दिया जा सकता। इसी दुविधे का यह चित्रण है :

नैहर से आइल पचास लड्डुवा,
आंगन खड़ी खड़ी सासु निरखै
उनते तो दियाल नहीं जाय
आध तोड़ाते मोर अंगुली दुखाय
पर सौंसे दियाल नहीं जाय।

छोटा सा चित्र है, पर इस गागर में ग्राम्य-जीवन का पूरा चित्र आ गया है। पग-पग पर गरीबी अपनी छाया छोड़ जाती है, फिर भी अरमानों की कमी नहीं है।

आंगन में बतासा लुटा देबै
डगरिन बुलैबे सोहर गावन को
सोहर गावन से कसर मसर करिहैं,
सहज से सीधा उठा लैबे।

यहाँ यह बता दिया जाय कि डगरिन से हमारे छोटा नागपुर में हिजड़ों या हिजड़ियों का बोध होता है। गीत का वक्तव्य यह है कि यदि उन्होंने आकर गाने से कुछ मुँह मोड़ा, तो फौरन उनका सीधा उनसे छीन लिया जायेगा। केवल हिजड़ों को ही धमकी नहीं है, आगे इस गीत में सास को भी धमकी है। बात यह है कि सन्तान प्राप्ति से गर्विता माता यह समझती है कि अब वह घर में कोई है, इसलिए :

सासू से आस सोंठ घोटन के
उनकर मचिया लान दैबे
सोंठरी घोटन में कसर मसर करिहै
सहज से मचिया उठा लैबे।

छठ पर्व छोटा नागपुर का एक विशेष पर्व है, यों तो ये सारे भारत में मनाया जाता है। छोटा नागपुर में और शायद सारे बिहार में यह विश्वास प्रचलित है कि इस पर्व के मनाने में कोई कसर होगी, तो कोढ़ हो जायेगा। छठ पर्व जो गीत गाये जाते हैं, वे अन्य अवसरों पर भी गाये जा सकते हैं।

नीचे एक गीत दिया जाता है जो भक्त और देवता के बीच में प्रश्नोत्तर के रूप में है। सरल भक्त का सरल देवता से सम्वाद है :

गाईक बचवा दूध जुठौले,
अरघिया कैसे देबो ?
गाईक बछवा हमर सिर जल,
अरघिया हम लेबो।
मालिन बेटिया फूल जुठौलो
अरघिया कैसे देबो ?
डोमिन बेटिया सूप जुठौलो,
अरघिया कैसे देबो ?
मालिन बेटिया हमर सिरजल
डोमिन बेटिया हमर सिरजल,
अरघिया हम लेबो।

इस प्रकार से इस गीत में एक तरह से देवता से पेशगी क्षमा माँग ली गई है कि सम्भव है सारी बातें आचार उपचार त्रुटिशून्य न हों। इस गीत का एक सामाजिक अर्थ यह भी है कि कथित छोटी जातियाँ यहाँ तक कि पशु भी देवता के निकट छोटा नहीं है।

छठ का एक गीत और लीजिये :

चारि पहर राति जलथल सेवलु
सेवलु चरन तोहार, हे छठ देव

दरसन देहु आपन।
मांगु मांगु तिरिया, कौन फल मांगु
आज के मांगल फल पाऊँ।
आपन ले मांगु अवध सिंदुर
जनम जनम एहिआत।[1]
प्रात दरसन देहु हे आदित
दरसन देहु आपन।
पोथि पढ़न के बेटा मांगू,
गोड़ लगन के पुतहु,
सुपलि खोलनि के बेटी मांगु,
पढ़ल पंडित दामाद।
बाहर मांगु गैया भैंसिया,
भीतर सोहन भंडार।
ससुर ले मांगु अन[2] धन लछमी
नैहर सहोदर भाई।
प्रात दरसन देहु हे आदित
दरसन देहु आपन।

एक और गीत लीजिये जो सवेरे के समय अर्घ्य देते समय गाया जाता है :

काहे के उजे कोठर कोठरी
काहे सने लागल किवार
सोने के उजे कोठर कोठरी
रुपे लागल किवार।
आदित भजले मनु बाजतई झंझकार
यह पैसी सुतवे आदित देव,
अब जो भेली बिहान।
जगावे आदित देव के माता,
उठ बेटा भेलै बिहान
कुष्ठी[3] लोग चरन धैले हैं,
उनकर करह विचार।
अंधरा पुकारे पहर रात,

---

१. एहिआत—सुहाग, २. अन—अन्न, ३. कुष्ठी—कोढ़ी

लंगड़ा भजस है पहर रात
अंधरै आंखि दिहो, कोढ़िया के काया,
निर्धने धनरा बहुत
हरषेते सब घर चलि जेतो
बाजत घनि झंकार।

इस गीत में पहले तो आदित देव के घर का वर्णन किया गया है और बताया गया है कि वहाँ सोने से कमरे बने हैं, और दरवाज़े चाँदी के बने हैं। फिर यह कल्पना की गई है कि आदित्यदेव की माता उनसे कह रही है कि जगकर अपने भक्तों की भलाई करो, अन्धों को आंख दो इत्यादि। इसमें सबसे मजे की जो बात है, वह यह है कि आदित्यदेव को एक तरफ बहुत धनी करके कल्पना की गई है, और साथ ही उन्हें एक अल्हड़ लड़के की तरह समझा गया है, जो देर तक सोता रहता है, और जगाने पर ही जगता है।

प्रातःकाल अर्घ्य देते समय यह गीत भी गाया जाता है :

अयोध्या नगरिये लागले धजार
वहीं रे बेसरलु नारियल
वहीं रे सूप, फल, अमृत
उगह आदित देव, लेहु अरघ हमार।

इस गीत में देवता को यह प्रलोभन दिया गया है कि सारी चीजें अयोध्या से लाई गई हैं, अतएव भक्त का अर्घ्य स्वीकार किया जाय। छठ का पर्व ऐसा है कि इसे कुमारियाँ, सधवायें तथा विधवायें सभी मना सकती हैं। इस समय जो व्रत किया जाता है, उससे गृहस्थ का कल्याण होगा ऐसा समझा जाता है। छठ के दिन स्नान करने के लिए स्त्रियाँ नदी या तालाब जहाँ जैसा होता है पहुँचती हैं। वहाँ वे गोल बाँध कर जाती हैं। अस्तायमान सूर्य को अर्घ्य देने के लिए जो स्त्रियाँ चलती हैं, वे रास्ते में बार बार सूर्य को साष्टांग प्रणाम करती जाती हैं। आकंठ जलमग्न होकर सिर पर अर्घ्य रख कर अर्घ्य दिया जाता है। इसके बाद वे घर लौटती हैं। घर में वे रात भर उपवास रखती हैं। फिर वे सूर्योदय के पहले ही चल पड़ती हैं, और उदीयमान सूर्य को पहले बताये हुए ढंग से अर्घ्य देती हैं। विधि यह है कि आकंठ जलमग्न अवस्था में ही उदीयमान सूर्य का दर्शन हो। कई स्त्रियाँ इसके बाद दो दिन तक उपवास रखती हैं और उसके बाद प्रसाद लेती हैं।

विवाह के अवसर पर भी असंख्य गीत गाये जाते हैं। एक गीत यह है :

सीया के सुमंगल सुनि भूप सब आवल
राजराज भावे रानी उदयगिरि,
अब सिसु रहल कुंवार, धनुहा न टूटे
धनुहा टूटल, जनकपुर अब दिए दल साजु।

एक मांगन मांगिहै जो विधि सुने,
भांति हैं कौसिल्या सासु, ससुर राजा दसरथ,
लछमन देवर, मांगिये रामचन्द्र कान्त।

इस गीत में पहले थोड़े में रामायण के राम विवाह की बात याद रख कर यह माँगा गया है कि सास के रूप में कौशल्या, ससुर के रूप में दशरथ, लक्ष्मण की तरह देवर और राम वर के रूप में मिलें। यह द्रष्टव्य है कि स्त्री के दृष्टिकोण से ही लिखा गया है।

विवाह सम्बन्धी लोक गीतों में कन्या के दोनों दृष्टिकोण मिलेंगे। एक कन्या तो वह है, जो पिता को छोड़ कर जाना नहीं चाहती, और एक कन्या वह है जो विवाह के लिए उतावली हो रही है। पहला दृष्टिकोण इस प्रश्नोत्तर मूलक गीत में देखिये :

कन्या : बाबा काहे ला लैला इन्दर सभा,
काहे लैला मानिक दीयरा।
पिता : तो घर लागि बेटी इन्दर सभा,
इंजोर मानिक दीयरा।
कन्या : बाबा हाथ जोरि उठह स इन्दर सभा,
पटक से निबावो मानिक दीयरा।
पिता : कैसे बेटी राखुं अब तोहार बतिया,
बियाह न होय जब दूषे जतिया।

दूसरा गीत इस प्रकार का है। उसमें कन्या विवाह के लिए उत्सुक है, शायद ब्याह हो भी गया है, पर पिता प्रेमवश कन्या को भेज नहीं रहा है :

लाल हे फटक के राजा जी
ऊपर मानिक दिया परे।
बेटी बैसी जगायल हे
बाबा कत निंदे सोयल ?
भैया कत निंदे सोयल
बगिया में उतरल ससुर के पूत
कुछ देवा चाहे वाके।

इस पर पिता जी कहते हैं :

सौनवां देलुं बेटी रुपवा देलुं
हथिया देल के दहेज।
नाहिं देबै बेटिया, न देबै
मोर मानी सूना होबै।

पहले जो गीत दिये गये, उन्हीं से स्पष्ट है कि दहेज देने की प्रथा सामने आ जाती है। एक दहेज सम्बन्धी गीत यों है :

मौरिया सोभे हीरक मानिके
मोतिया पूरब सोभै केशये
सोनवा से देले राजा रुपवा अनैर
देहला जुतला राजा मोतिये जड़ाय
हाथिया घोड़वा देलै थरिया लोटवा
छलवा के देलै राजा मोतिये जड़ाय।

एक और गीत लीजिये जिसमें विवाह की सूचना है, इसमें भी रामयण की छाप स्पष्ट है :

कौन वन बोलै कारी कोयलिया
कौन बन बोलै मयूर।
दरबारे बोलै राजा जनक,
धिया मेलै बिहावन जोग।
बिजुबन बोलै अमवाडाँ कोयलिया
आपन महले बोलै बिहावन जोग।
चार बन खोजलू हे बेटी,
कहां न मिलै जंवइया,
जाइयो हे राजा अजुध्या नगरिया
वहां है सुन्दर रघुनाथ
सांवर बाबा मत जनु बोलियो
सांवर हैं रघुनाथ।

इस गीत में कन्या के लिए वर खोजने में जो दिक्कतें आती हैं, उनकी ओर इंगित है। वर मिलना इतना कठिन है कि कहीं कहीं नालायक वर को भी वर बनाना पड़ता है। इस बात को कहने के लिए रघुनाथ की उपमा ठीक नहीं पड़ती, इस कारण इसके लिए महादेव को चुना जाता है। पर महादेव देखने में नालायक होने पर भी वस्तुतः बड़े लायक हैं। परोक्ष रूप से यह उपमा यह सूचित करती है कि जो अनिवार्य है, उसके साथ सन्धि कर लो। गीत यों है :

भैंसवा चढ़ल आये महादेव वर
बाघ छालापिंघल हे
जिनि वर खोजले बाबा, जनम भिखारी,
सेह मारे वैरी हे
कौन निरबुद्धि भरल हुंकार हे।

इस पर माँ कह रही है :

तोर लागि माघ नहैलू,
तोर लागि करलू एतवार हे।
तोर मिले जय गोविन्द हे।
जनम देलू बेटी करम आपन
का विधि लिखल लिलार हे।
सोनवा आनिये भिख दें ते जो बेटी,
मिलि रौ तो राजकुंवार हे
सूप झार के भिख देला हे बेटी
मिलि गैलो जनम भिखारी हे।

ऐसे ही बहुत से गीत हैं, जिनमें जीवन के हर एक पहलू पर किसी न किसी प्रकार की रोशनी पड़ती है। किसी गीत में सास बहू के वैमनस्य का उल्लेख है, तो किसी में इसी प्रकार कोई घरेलू बात बताई गई है। पर इन गीतों के सम्बन्ध में जहाँ यह मानना पड़ेगा कि वे हमारी तरफ के जन जीवन को प्रतिफलित करते हैं, वहीं यह भी मानना पड़ेगा कि उनका दायरा बहुत सीमित है। बात यह कि हमारा ग्राम-जीवन ही बहुत सीमित रहा है। जब मूल-चित्र ही सीमित है, तो उसका फोटो या प्रतिफलन कैसे विस्तृत हो।

सन्तान का जन्म, विवाह, तीज त्यौहार, पूजा इनके अलावा लोगों के जीवन में और है ही क्या ! इन्हीं बातों को लेकर जन जीवन चलता है, और लोकगीत भी इन्हीं को लेकर चलते हैं।

करमा बिहार की स्त्रियों का एक विशिष्ट त्यौहार है। एकादशी में उपवास रख कर करम पेड़ की शाखा को पूजना ही त्यौहार की विशेषता है। यह त्यौहार भाइयों के कल्याण के लिए मनाया जाता है। भाद्र मास में यह पर्व मनाया जाता है। रात को स्त्रियाँ एकत्र होकर गाना गाती हैं। एक विशेष गाना यों है :

भरी भादो फुटले फुलवा बेलंजनु
घोड़ा चढ़ के आवेरे मेरे भइया

इस पर भाई कहता है :

लेहू हे बहनी फुल बेलंजन हे

इस पर बहन कहती है :

कैसे लेवो हे भइया फूल बेलंजन
मारे गोदे बालक गदाधर

ऊपर के गीत में शायद इस बात की ओर भी इशारा है कि भाई बहन जैसे हर साल खेलते थे, वैसा खेलना चाहते हैं, पर इस बीच में अभी खेल की उम्र न बीतने पर भी बहन एक बालक की मां हो चुकी है, जिससे खेल में बाधा पड़ती है। भाई कहता है :

बालक सुताओ बहिन सोमा के खटोल में,
लेहि लेहू फूल बेलंजन।

जितिया एक और त्यौहार है। आश्विन की एक अष्टमी को यह त्यौहार पड़ता है। इसे जिताष्टमी कहते हैं। सन्तानों के मंगल के लिए यह त्यौहार पड़ता है। सन्तानों को भोजन कराकर दिन भर के उपवास के बाद मां खाने बैठती हैं। यह उपवास का एक गीत है :

छान छान अमृत चांछि
नस्ता परल बासी।
खोरये डाबले।
सब बालक गृह् आयली.
मोर लाल कहां रहि लै

तीज तो सारे भारत में मनाया जाता है। इस अवसर पर हमारे यहाँ छोटा नागपुर में रात भर स्त्रियाँ नाचती व गाती हैं। यह गाना तीज में विशेष है :

महादेव भिंजल थैया थाकित रे राम
गौरी के सिरे नहीं पानि रे,
बारि पायस के कड़र नहीं मँगलू ए राम
वही विधि सिरे नहीं पानि रे
सासु के लिपला पैर नहीं धरलू,
बड़ जेठ के तुकार नहीं मारलू ए राम,
वही विधि सिरे नहीं पानि रे।

बड़े सरल तरीके से इस गीत में स्त्री को सीख दी गई है। पानी बरसा, महादेव जी भीग गये, पर पार्वती नहीं भीगी इसका कारण यह है कि उन्होंने बाग के अंकुरों को पैर से रौंद नहीं डाला। सास के द्वारा गोबट से लिये हुए स्थान को पैर से खराब नहीं किया, बड़ों का असम्मान नहीं किया। इसी प्रकार कितने ही लोक गीत हैं जिनका उद्देश्य शिक्षा देना है। हमारे गाँवों में लोग अधिकतर अनपढ़ होने पर भी उनमें एक अन्तर्निहित संस्कृति है, इसका कारण यह है कि लोकगीत न केवल मनोरंजन के साधन और कला के संवाहक हैं, बल्कि लोक गीत शिक्षा के माध्यम भी हैं, जिनके जरिये से बिना अश्रुपात के शिक्षा प्राप्त होती है।

विशाल भारत का निर्माण

बनारसीदास चतुर्वेदी

इस समय हमारे देश को स्वप्नदर्शियों तथा कर्मयोगियों के पारस्परिक सहयोग की जितनी आवश्यकता है, उतनी शायद पहले कभी नहीं थी। कोरमकोर स्वप्नदर्शी हमारे प्रश्नों को हल नहीं कर सकते और न कल्पनाविहीन चिन्तनरहित कार्यकर्ताओं से ही काम चल सकता है। हर क्षेत्र में दोनों प्रकार के मनुष्यों की जरूरत है। उदाहरण के लिये हम प्रवासी भारतीयों के ही सेवाक्षेत्र को लेते हैं।

महात्मा गाँधी जी, दीनबन्धु सी० ऐफ० ऐण्ड्रूज, माननीय श्रीनिवास शास्त्री, पं० तोताराम सनाढ्य और स्वामी भवानी दयाल जी सन्यासी इस पंचमूर्ति के परलोक गमन के पश्चात् प्रवासी भारतीयों के धनीधोरी इस देश में बहुत ही कम रह गये हैं और स्वराज्य प्राप्त हो जाने के बाद जनता की यह धारणा हो गई है। अब हमें औपनिवेशिक भाइयों के लिए कुछ नहीं करना, क्योंकि अब तो सारी जिम्मेदारी सरकार की है। इस भ्रमात्मक विचार शैली का दुष्परिणाम यह हुआ है कि जो थोड़ा बहुत कार्य पहले प्रवासी भारतीयों के लिये हो भी रहा था वह भी प्रायः बन्द हो गया है। वैसे तो सभी क्षेत्रों में गम्भीर चिन्तन की कमी है, पर इस क्षेत्र में तो उसका प्रायः अभाव ही समझिये। कोई गलत फहमी न हो, इसलिए प्रारम्भ में ही कुछ मौलिक सिद्धान्तों को स्पष्ट कर लेने की जरूरत है।

जब हम 'विशाल भारत' शब्द का प्रयोग करते हैं तब हमारा अभिप्राय केवल सांस्कृतिक विशाल भारत से है। भारत की कोई साम्राज्यवादी आकांक्षा होनी ही न चाहिये। हम लोगों के लिए जो उपनिवेशवाद की चक्की के नीचे बहुत वर्षों तक पिस चुके हैं, यह महापाप होगा कि कभी किसी उपनिवेश पर शासन करने की कल्पना भी अपने मन में लायें। इसके सिवाय कुछ बुनियादी बातें और भी हैं :

(१) जो भारतीय जिस भूमि खण्ड में बस गये हैं, उन्हें उसी भूमिखण्ड का ईमानदार नागरिक बन जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, फिजी में बसे हुए हिन्दुस्तानियों का फर्ज है कि वे फिजी के ही नागरिक बनें। उनकी राजभक्ति फिजी द्वीप समूह के प्रति ही होनी चाहिये। हाँ, उन व्यक्तियों की बात हम छोड़ देते हैं, जिन्होंने जान बूझ कर अपने को भारत का ही नागरिक बनाये रखना उचित समझा हो। उस हालत में वे उन अधिकारों के लिए दावा नहीं कर सकते, जो उस द्वीप समूह या उपनिवेश के नागरिकों को प्राप्त हैं।

(२) किसी भी हालत में हमें उपनिवेशों के असली बाशिन्दों के हित के विरोध में कोई काम न करना चाहिये। जिस प्रकार भारत में सर्वोपरि अधिकार भारतीयों का है, उसी प्रकार अफ्रीका में सर्वोपरि अधिकार अफ्रीकी लोगों का है।

(३) भारत के धार्मिक मतभेदों को बाहर ले जाना एक ऐसा नैतिक अपराध है, जो किसी भी हालत में क्षम्य नहीं माना जा सकता। साम्प्रदायिकता की विषबेलि के कुफल हम मातृभूमि में खूब अच्छी तरह चख चुके हैं, इसलिये उस विघातक पौधे को हर्गिज़-हर्गिज़ बाहर नहीं जाने देना चाहते।

प्रवासी भारतीयों की संख्या अन्दाजन तीस चालीस लाख के बीच में होगी। वे संसार के भिन्न-भिन्न भागों में बसे हुए हैं और भारतभूमि से उनकी दूरी सहस्रों ही मील है। उनमें से लाखों का जन्म विदेशों में ही हुआ है और भारतवर्ष उनके लिये एक ऐसा पवित्र स्थान है, जिसके दर्शन उन्होंने कभी नहीं किये और न उनमें से अधिकांश कभी कर पावेंगे। उन्हें तो आजीवन अपनी जन्म-भूमि में ही रहना है।

वैसे उनकी पितृभूमि भारत उनका सदैव स्वागत ही करेगी और यदि वे जोर जबरदस्ती से निकाल दिए गए तो यह भूमि उन्हें अपने अंक में स्थान भी देगी, पर साधारण परिस्थिति में यही उचित है कि वे लोग वहीं पर बसे रहें।

प्रवास की नीति

भारत की प्रवास नीति (Emigration Policy) अभी यही है कि हम किसी भी मुल्क को अपनी फालतू आबादी से नहीं भरना चाहते। थोड़े बहुत कारीगरों या पढ़े लिखे आदमियों के बाहर जाने की बात दूसरी है और वे भी काफी छान-बीन और लिखा-पढ़ी के बाद भेजे जाने चाहियें।

यदि कोई देश भारतीय मज़दूर माँगे तो सब प्रकार के समान नागरिक अधिकारों की गारंटी के बिना उसकी प्रार्थना पर विचार भी न करना चाहिए। यों ही अललटप्पू ढङ्ग पर मज़दूरों को जाने देना मुफ्त में सिर दर्द को निमन्त्रण देना है। हम लोग इसका दुष्परिणाम भुगत चुके हैं और इस मामले में काफी सावधान हो गये हैं।

आगे चलकर प्रवास के विषय में हमारी नीति क्या होगी ? इस पर बहस करना बेकार है। हाँ, इतना अवश्य निश्चित है कि 'श्वेत आस्ट्रेलिया' नीति जैसी स्वार्थपूर्ण पद्धतियाँ बहुत वर्षों तक कायम नहीं रह सकती, नहीं तो उनसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में लड़ाई झगड़े पैदा होते रहेंगे। अभी जापानी सरकार ने एक प्रस्ताव पास किया है कि संयुक्तराष्ट्रसंघ के आधीन जापानी लोगों के प्रवास की व्यवस्था होनी चाहिये।

प्रवासी भारतीयों के लिए कार्य

भारत में प्रवासी भारतीयों के लिये कार्य करना पहले की अपेक्षा और भी कठिन हो गया है।

साधारण जनता उनके प्रश्नों के महत्त्व को समझती ही नहीं और जो लोग कुछ समझते भी हैं, उन्होंने सारी जिम्मेदारी सरकार पर डाल दी है। और सरकारी मशीन तो निर्जीव तथा निष्प्राण होती ही है। इंडियन ओवरसीज़ सेण्ट्रल एसोसियेशन (प्रवासी भारतीय केन्द्रीय संघ) ही एक मात्र ऐसी संस्था है, जिसका उद्देश्य प्रवासी भारतीयों की सेवा करना हैं, पर उक्त संस्था के पास कुछ भी साधन नहीं। उसके मंत्री श्रीयुत सी० ऐल० पटेल उत्साही सज्जन हैं, आठ वर्ष तक वे पूर्व अफ्रीका में रह भी चुके हैं और समय समय पर वे कुछ न कुछ कामकरते भी रहते हैं, पर कोई ठोस और स्थायी कार्य उक्त संस्था से अभी तक नहीं बन पड़ा। अर्थाभाव ही इसका मुख्य कारण है।

प्रवासी भवन

आवश्यकता इस बात की है कि स्वयं प्रवासी भाई अपने व्यय से यहाँ ज़मीन लेकर उस पर प्रवासी भवन का निर्माण करें। किसी अच्छे स्थल पर काफी ज़मीन लेकर तो डाल ही देनी चाहिये। अभी कुछ दिन पूर्व मारीशस के दो सज्जन श्रीयुत भगत और श्रीयुत द्वारिका जी पधारे थे और उन्होंने भारत के मुख्य-मुख्य स्थानों की यात्रा भी की थी। श्री भगत जी का यह प्रस्ताव था कि मारीशस के भारतीय यहाँ पर जमीन लेकर 'मारीशस-भवन' का निर्माण करें। हमारा ख्याल है कि उसी के आस पास पूर्व अफ्रीका तथा फिजी इत्यादि के भारतीयों को भी जमीन ले लेनी चाहिये।

ब्रिटेन में एक ओवरसीज़ लीग है, जो प्रवासी अंग्रेजों के लिये स्थापित की गई थी। स्वयं सम्राट पंचम जार्ज उसके संरक्षक थे। उसकी ओर से ओवरसीज़ नामक एक पत्रिका भी निकलती है। भिन्न-भिन्न देशों में उसके अवैतनिक सम्वाददाता हैं। इस संस्था के आधीन व्यापार तथा यात्रा सम्बन्धी समितियाँ भी काम करती हैं और उसके विशाल भवन में उसके विदेशी सदस्य आकर ठहरते हैं।

प्रवासी अंग्रेजों के लिए वह एक सम्मिलत स्थान बन गया है। दुर्भाग्य की बात है कि हम लोग भारतवर्ष में एक भी ऐसा स्थल नहीं बना सके, जो प्रवासी भारतीयों के लिए तीर्थ बन जाता। स्वामी भवानी दयाल जी ने अजमेर में प्रवासी भवन की स्थापना अवश्य की थी, पर अजमेर केन्द्र से बहुत दूर है और इस कारण उक्त भवन से विशेष लाभ उठाया नहीं जा सका और आज तो वह बन्द सा पड़ा है।

यदि प्रवासी भाई इस उम्मेद में बैठे हों कि भारतभूमि के कुछ युवक स्वयं बिना किसी प्रेरणा या सहायता के उनके प्रश्नों को अध्ययन करने के लिए अपने समय का एक अच्छा भाग व्यय करेंगे, तो उन्हें निराश ही होना पड़ेगा। सरकार यदि चाहे तो एतदर्थ १०-१२ दस बारह छात्र-वृत्तियाँ दे सकती है:

२ गोखले छात्रवृत्ति
२ गांधी छात्रवृत्ति
२ रवीन्द्र छात्रवृत्ति

२ ऐण्ड्रूज़ छात्रवृत्ति
२ शास्त्री छात्रवृत्ति
१ तोताराम छात्रवृत्ति
१ भवानी दयाल छात्रवृत्ति

यदि ये छात्रवृत्तियाँ ढाई ढाई सौ रुपये महीने की हों तो इनमें छत्तीस हज़ार रुपये प्रति वर्ष व्यय होंगे। इनमें ६ छात्रवृत्तियाँ दक्षिण भारत के युवकों को दी जा सकती हैं और ६ उत्तर भारत के युवकों को। हम लोगों को यह बात न भूलनी चाहिए कि भारत भूमि को प्रवासी भारतीयों द्वारा कई करोड़ रुपया प्रति वर्ष आता रहता है। इसलिए भारत सरकार द्वारा छत्तीस हज़ार रुपये प्रतिवर्ष खर्च कर देना अनुचित न होगा। जैसे रोड्स ने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में छात्रवृत्तियाँ कायम की थीं वैसे क्या श्री नान जी भाई कालिदास प्रभृति व्यक्ति दो चार छात्रवृत्तियाँ भी स्थापित नहीं कर सकते!

वास्तविक स्थिति

पर मन के लड्डू खाने से कोई फायदा नहीं। उनसे पेट तो भरेगा नहीं, उल्टी आत्मग्लानि ही उत्पन्न होगी। वास्तविक स्थिति यह है कि हमारी सेण्ट्रल ऐसोसियेशन के पास पोस्टेज के लिए भी पैसे की कमी है। चन्दा उगाना एक अत्यन्त ही कठिन कार्य है और प्रवासी भारतीयों में भला इतनी दूरदर्शिता कहाँ कि वे अपनी संस्था की कुछ भी मदद कर दें!

संस्थाएँ आखिर मनुष्यों से चलती हैं और ये हाड-माँस के जीव होते हैं। उन्हें भोजन चाहिए, रहने की कुछ सुविधा चाहिए, कार्य करने के लिए क्षेत्र चाहिए और समय-समय पर कुछ प्रोत्साहन भी। ये बातें हम शिकायत के रूप में नहीं लिख रहे, बल्कि असली हालत को प्रगट करने के उद्देश्य से उन्हें लिपिबद्ध कर रहे हैं।

हम सहर्ष इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस बारे में हमारे प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल जी नेहरू का दृष्टिकोण अत्यन्त दूरदर्शिता पूर्ण और पूर्णतया व्यापक भी है। अफ्रीकन लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए निस्सन्देह उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और भारत सरकार द्वारा दी गई छात्रवृत्तियाँ इसका प्रबल प्रमाण हैं। भारत तथा अफ्रीका के भावी सुदृढ़ सम्बन्ध की जो नींव आज रक्खी जा रही है, वह हमारी वैदेशिक नीति की प्रशंसनीय घटना है। पर इतने भर से काम नहीं चलने का। कोरम-कोर सरकारी प्रयत्न सदैव नाकाफी साबित होंगे। साधारण जनता को इस विषय में शिक्षा देने की बात तो रही बहुत दूर, अभी तो हमारे शासकों तथा शासन-सभाओं के सदस्यों को ही शिक्षित बनाना है।

कल्पना शक्ति का अभाव

आगे चलकर 'विशाल भारत' क्या रूप धारण करेगा इसकी कोई कल्पना अधिकांश नेताओं के दिमाग़ में नहीं है। इससे अधिक भयंकर अभिशाप हमारे लिये और क्या हो सकता है कि

हमारे देश में ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय के दो चार भी विशेषज्ञ नहीं ! आज प्रवासी भारतीयों की संख्या लगभग ३५ लाख है, आगे चल कर कभी वह एक करोड़ भी हो सकती है। हम लोग उनकी क्या सेवा कर सकते हैं और उनके द्वारा मातृभूमि का क्या हित हो सकता है, क्या इन प्रश्नों पर कुछ गम्भीर चिन्तन भी किसी ने किया है ?

प्रवासी भारतीय सम्मेलन

क्या यह सम्भव नहीं कि डेढ़ दो वर्ष बाद एक अखिल प्रवासी भारतीय सम्मेलन दिल्ली में किया जाय ! यदि अभी से उसके लिए विचार परिवर्तन प्रारम्भ हो जाय और चिट्ठी-पत्री भेजी जाने लगे तो वह सम्मेलन प्रवासी भारतीयों के इतिहास में एक महान घटना के रूप में चिर-स्मरणीय बन सकता है। प्रवासी भारतीयों में अनेक लखपती हैं, शायद दो चार करोड़पति भी होंगे और उन की अरबों की ज़मीन जायदाद विदेशों में होगी। क्या वे लोग अपने व्यय से और अपने विश्वास-नीय कार्यकर्ताओं द्वारा इस सम्मेलन की आयोजना नहीं कर सकते ?

ध्रुव सत्य

एक बार सन् १९२१ में, जब महात्मा गांधी जी स्वर्गीय देशबन्धु सी० आर० दास के मकान पर ठहरे हुये थे, मैंने उनकी सेवा में निवेदन किया 'कृपया प्रवासी भारतीयों के लिए कोई संस्था कायम कर दीजिये'

महात्मा जी ने उत्तर दिया :

'मेरा पैंतीस वर्ष का अनुभव सुन लो। संस्थाएँ काम में बाधा ही डालती हैं। सर्वोत्तम बात यही होगी कि अपने को केन्द्र बना कर, समानशील तीन चार व्यक्तियों को इकट्ठा कर लिया जाय और उनकी मदद से काम किया जाय। स्वयं अपने को ही संस्था बनालो।'

महात्मा जी का यह आदेश ध्रुव सत्य था और उनकी सच्चाई को हम आज भी अनुभव करते हैं। यदि हमारे देश में पाँच सात युवक भी ऐसी लगन के हों, जो प्रवासी भारतीयों की सेवा करने के इच्छुक हों और उनके प्रश्नों को विधिवत् अध्ययन करने की जिनमें उत्कृष्ट अभिलाषा हो तो वे जितना काम कर सकेंगे उतना कोई भी संस्था कदापि न कर पावेगी। पर वे पाँच सात युवक हैं कहाँ ! और यदि वे मिल भी जावें तो उनको काम करने की सुविधा कौन देगा ?

पर हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं। इस वसुन्धरा भूमि में समय-समय पर नर-रत्न उत्पन्न होते रहे हैं। रानाडे और गोखले, गांधी जी और रवीन्द्र की मातृभूमि अवश्यमेव आगे चल कर ऐसे कल्पनाशील दृढ़-प्रतिज्ञ युवकों को जन्म देगी जो तमाम विघ्न बाधाओं को पार कर सांस्कृतिक विशाल भारत के निर्माता होंगे। हम लोग उनके लिये रास्ता तैयार करें, बस यही हमारा कर्तव्य है।

जगजीवन राम और उनकी सेवाएँ

नारायण सदोबा काजरोलकर

श्री जगजीवन राम आज भारत के करोड़ों लोगों के हृदय-सम्राट माने जाते हैं। उनका दृढ़-चरित्र, निर्भीकता, अडिग विश्वास और कर्त्तव्य-परायणता सदैव भारत के लिए मार्ग-प्रदर्शक ज्योति का कार्य करती रहेगी। उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि किस प्रकार मनुष्य निर्धनता में धनी; निम्नता में उच्च एवं सामाजिक अपमानों के मध्य स्वाभिमानी भी हो सकता है। उनके अकाट्य निर्णयों तथा व्यावहारिक बुद्धिमत्ता ने अनेक बार देश की रक्षा की है, वास्तव में उनका जीवन ही राष्ट्र-समर्पण, राष्ट्र-भक्ति एवं देश-सेवा की एक कहानी है।

बिहार में आरा शहर (१८५७ आन्दोलन के वीर सेनानी बाबू कुँवर सिंह के प्रसिद्ध स्थान) से लगभग एक मील दूर चँदवा नामक एक छोटे से गाँव में ५ अप्रैल, १९०८ को जन्म लेकर श्री जगजीवन राम ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा ग्राम-पाठशाला ही में प्राप्त की। कुछ बड़े होने पर आप आरा टाऊन स्कूल में पढ़ने लगे। प्रारम्भ से ही इन्होंने अपनी कुशाग्र-बुद्धि का परिचय देना आरम्भ कर दिया था। अभी प्रवेशिका में ही अध्ययन कर रहे थे कि श्री जगजीवन राम ने स्वर्गीय पं० मदन मोहन मालवीय के एक स्वागत आयोजन का प्रबन्ध किया। यह विचार और उसका कुशल प्रबन्ध मालवीय जी का ध्यान श्री जगजीवन राम की योग्यताओं की ओर आकृष्ट किये बिना न रह सका। उन्होंने श्री जगजीवन राम को बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय में अध्ययन करने का निमंत्रण दिया। आप ने इन्टर-साईंस की परीक्षा काशी-विश्व-विद्यालय से पास की और १९३० में कलकत्ता विश्व-विद्यालय से डिग्री-परीक्षा में उत्तीर्ण हुए।

उच्च-शिक्षा प्राप्त करने की भावना देश-भक्ति एवं पद-दलित वर्ग की सेवा की अनिवार्य आवश्यकता के कारण स्थगित करनी पड़ी। जब आप विद्यार्थी थे, श्री जगजीवन राम ने रविदास सभा का अपने वर्ग में सामाजिक जागृति के उद्देश्य से संगठन किया। जनता के सम्मुख पहले-पहल वे तब आये, जब बिहार में कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं की राज्य के हरिजनों की उन्नति के उपायों एवं सिद्धान्तों के विचारार्थ कान्फ्रेंस हो रही थी। शीघ्र ही देश-सेवा के लिए आपका उद्दाम उत्साह तथा परिगणित जातियाँ कहलाने वाले समुदाय को ऊँचा उठाने की भावना 'सर्वेन्ट्स ऑफ दी अनटचेबल्स सोसायटी' (जो बिहार की 'हरिजन सेवक संघ' में परिवर्त्तित हो गई) के संगठन-कर्त्ताओं से छिपी न रह सकी। उन्होंने श्री जगजीवन राम को संघ के उद्देश्यों की पूर्त्ति में दिखाये गए उत्साह के बदले में बिहार राज्य के लिए संघ का मंत्री चुनकर सम्मानित किया। निःस्वार्थ सेवा

के कारण उनमें सभी को विश्वास हो गया और इसी गुण से वह अपने क्षेत्र में प्रतिष्ठा के उच्चतम शिखर तक जा पहुँचे।

१९३४ में, उन्होंने अखिल भारतीय रविदास सभा का, जिसके वे महामंत्री थे, कलकत्ते में संगठन किया। अगले वर्ष आप अखिल भारतीय दलित जातीय संघ, राष्ट्रीय हरिजनों के एक नये संगठन के महामंत्री निर्वाचित किये गए जिसके वे सदैव ही प्रथम एवं दृढ़ कार्यकर्त्ता रहे हैं। उनके स्फूर्तिदायक नेतृत्व एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व ने समस्त भारत में दलित जाति को सुसंगठित करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। १९३५ में इस संघ की बिहार शाखा की स्थापना की गई, श्री जगजीवन राम इसके पहले प्रधान थे। अगले वर्ष आप ने राष्ट्र-पिता महात्मा गाँधी द्वारा उद्-घाटित अखिल भारतीय दलित जातीय संघ के अधिवेशन की अध्यक्षता की। १९३७ में आपको बिहार विधान परिषद् का सदस्य नियुक्त किया गया और बाद में आप सभा-सचिव के पद पर आरूढ़ किए गए। सभा-सचिव के रूप में आपके सभी कार्य आपकी निपुणता के परिचायक थे। उच्च-स्तर की राजनीतिज्ञता एवं प्रशासनिक कुशलता आपके प्रत्येक कार्य से सिद्ध होती थी। जिन्होंने आपके कार्य को मंत्रालय एवं विधान परिषद में देखा, वे श्री जगजीवन राम की असीम कार्य-क्षमता से प्रभावित हुए बिना न रह सके। सरकारी वक्ता के रूप में आपके भाषण सभी दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण होते थे। व्यर्थ के शब्दों के प्रयोग से रहित थोड़े से शब्दों में ही सरकार के विचार कुशलता से स्पष्ट कर सकने में आप समर्थ थे। आपके चातुर्य-पूर्ण प्रस्तुत करने के ढंग एवं अकाट्य तर्कों के कारण ही सरकार को अनेकों बार सफलता प्राप्त हुई।

१९३७ ३९ के मध्य के काल में सरकारी काम की अधिकता होते हुए भी दलित जातियों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को श्री जगजीवन राम भूल नहीं गए थे। इस काल में आपने उत्तर प्रदेश बंगाल, बम्बई तथा पंजाब में होने वाले परिगणित एवं दलित जाति-संगठन के अनेक सम्मेलनों की अध्यक्षता की। नवम्बर १९३९ में, जब ब्रिटिश सरकार के असहयोगी रवैय्ये के कारण कांग्रेसी मंत्री-परिषदों ने त्यागपत्र दिया, तो श्री जगजीवन राम ने भी सभा-सचिव का पद स्वेच्छा से त्याग दिया। १९४० में वैयक्तिक सत्याग्रह प्रारम्भ किया गया। श्री जगजीवन राम उन थोड़े व्यक्तियों में से थे जिन्होंने गिरफ्तारी के लिए अपने को सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। १९४१ में मुक्ति के पश्चात् आपने अखिल भारतीय दलित जातीय कान्फ्रेन्स के मेरठ अधिवेशन की अध्यक्षता की और इस पद पर आप १९४८ तक कार्य करते रहे। इसके पश्चात् केन्द्रीय मंत्रि-मण्डल में सम्मिलित होने के कारण इस पद से त्यागपत्र दे दिया।

अगस्त १९४२ में बिहार कांग्रेस के सभी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। श्री जग-जीवन राम को भी, जब आप बम्बई से अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में भाग लेकर लौट रहे थे, तो गिरफ्तार कर लिया गया। आपको सुरक्षा-बन्दी के रूप में हज़ारीबाग़ जेल में रक्खा गया। १९४३ में जेल से मुक्ति के पश्चात् आपने विभिन्नों राज्यों में दलित जाति-संगठनों को शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से देश के विभिन्न क्षेत्रों का दौरा किया। १९४६ में कानपुर में हो रहे अखिल भारतीय दलित जातीय संघ के अधिवेशन की अध्यक्षता की।

१९४६ ही में आपको बिहार विधान परिषद् का सदस्य चुन लिया गया और दलित जातियों के विचार प्रकट करने के लिये प्रतिनिधि रूप में आपको 'केबिनेट मिशन' द्वारा आमंत्रित किया गया। सितम्बर १९४६ में आप केन्द्रीय अन्तरिम सरकार में श्रम-सदस्य के रूप में सम्मिलित हुए। १५ अगस्त, १९४७ को आप केन्द्रीय सरकार में श्रम-मंत्री के पद पर आयुक्त हुए। इस निर्णय का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया गया। उसी वर्ष जेनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के ३०वें अधिवेशन में आपने भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल का योग्यता-पूर्वक नेतृत्व भी किया।

केन्द्रीय सरकार में आपने अन्य मंत्री-पदों की अपेक्षा श्रम-मन्त्री पद को अधिक पसन्द किया, क्यों कि आपका विचार है कि एक सच्चा देश-भक्त राष्ट्र-उत्थान के कार्य में तभी अपना उचित सहयोग दे सकता है, जब वह श्रमिकों की स्थिति में सुधार कर सके। श्रम के क्षेत्र में आपके कार्य चिरस्मरणीय हैं।

श्री जगजीवन राम की सदैव से ही 'श्रमिकों को उद्योग में साझीदार मानने' की नीति रही है। आपके विचार में स्वार्थी वर्गों द्वारा श्रमिक-शोषण के रोकने का एकमात्र उपाय व्यावसायिक संघों की स्थापना है। जब आपने देखा कि सभी उद्योग-पति व्यावसायिक संघों को मानने और उनसे बातचीत करने की ओर विशेष दिलचस्पी नहीं लेते, तो आपने व्यावसायिक संघ अधिनियम में परिवर्धन तथा संशोधन करके उद्योगपतियों को व्यावसायिक संघों को मानने एवं उनसे विचार-विमर्श करना वैधानिक रूप से अनिवार्य कर दिया गया।

श्रम-मंत्री के रूप में श्री जगजीवन राम न केवल भारत में बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी प्रशंसा के पात्र हैं। १९५० में जेनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के अधिवेशन में आपका निर्विरोध अध्यक्ष चुना जाना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। श्रम के सम्बन्ध में वे लिखते हैं :

'हम उन श्रमिकों को भुला नहीं सकते, जो असंगठित हैं और ऐसी स्थिति में नहीं है कि अपनी माँगें और दुःख उद्योग-पतियों, जनता अथवा सरकार के सामने रख सकें। उनकी सहायता करना तथा उनके वेतन, काम की स्थिति और जब कभी उनमें और उद्योगपतियों में कोई विवाद हो, तो उनकी स्थिति का सुधार करना सरकार का प्रथम कर्तव्य है। यदि मैं और स्पष्ट शब्दों में कहूँ, आज देश में असंख्य श्रमिक हैं जो संघों, बागों आदि में काम करते हैं, और सबसे अधिक महत्व के हैं लाखों ग्रामीण-श्रमिक जो खेती का काम करते हैं। इन श्रमिकों की स्थिति अशिक्षा, अज्ञानता एवं निर्बलता के विचार से बहुत ही असन्तोषजनक है।'

लोगों के आर्थिक शोषण को समाप्त करने का दृढ़ निश्चय प्रकट करते हुए आप कहते हैं :

'यद्यपि १५ अगस्त को हमें राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई है, परन्तु अभी हम आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर सके। वास्तविक स्वतंत्रता तो गरीबी और अशिक्षा के मिटाने और देश के करोड़ों मेहनतकशों को उचित सुख और स्वास्थ्यप्रद स्थान में रहने की सुविधाएँ तथा कम से कम दिन में दो बार खाने के लिए भोजन देने में है। यह केवल तभी सम्भव है जब श्रम और पूँजी दो सगे-भाइयों की तरह व्यवहार करें श्रम की कठिनाइयों का पूँजी द्वारा ज्ञान किया जाय और थोड़े से लोगों के हाथों में पूँजी-संचित होने से रोकी जा सके।'

इस छोटे से लेख में श्री जगजीवन राम के श्रम-मन्त्री के रूप में किये गए कार्यों का वर्णन सर्वथा असम्भव है। संक्षिप्त में सभी श्रमिकों, चाहे वे औद्योगिक, व्यापारिक अथवा खेतीहर हों, की ओर आपने ध्यान दिया। कदाचित् ही श्रमिक जीवन का कोई पहलू हो जिसका आपने सुधार न किया हो। श्रम-मन्त्री का कार्य सम्भालने के तुरन्त ही बाद आपने कोयला खनिकों की स्थिति का निरीक्षण किया और उन्हें अत्यन्त शोचनीय अवस्था में पाया। आपने उनकी आय बढ़ाने के लिए ही कदम नहीं उठाये, बल्कि कोयला-खान प्रॉविडेन्ट फण्ड तथा बोनस योजना भी प्रारम्भ की; ताकि उन्हें वृद्धावस्था में सहायता मिल सके। दिसम्बर १६५२ के अन्त में प्रॉविडेन्ट फण्ड के कोष में तीन करोड़ रुपये संचित हो गये थे। ६ लाख से भी अधिक कोयला-खनिकों ने इस फण्ड में अपना अनुदान दिया है। इसके साथ ही श्रम-कल्याण-निधि भी स्थापित की गई। इस निधि में प्रतिवर्ष एक करोड़ के लगभग रुपया एकत्रित किया जाता है। इसके अतिरिक्त श्रमिकों के लिए अच्छे अस्पताल, विद्यालय एवं सुरक्षा-केन्द्रों का भी संचालन किया जा रहा है। इसी प्रकार की सुविधाएँ अभ्रक (माइका) श्रमिकों को प्रदान करने के लिए उपयुक्त क़दम उठाये गये हैं। भारतीय कारखाना अधिनियम का आपने संशोधन किया, अनेकों विशेषज्ञों के मतानुसार भारत का यह अधिनियम अखिल विश्व में सर्वश्रेष्ठ है। शोषित श्रमिकों के लिए न्यूनतम वेतन अधिनियम, १६४८ पारित करके उनके लिए न्यूनतम वेतन निर्धारण किया जिससे आज वे सुख की एक साँस लेने में समर्थ हो सके हैं। यद्यपि संसद में इसका बहुत विरोध किया गया, परन्तु श्री जगजीवनराम के दृढ़ निश्चय 'किसी भी उद्योग को जीवित रहने का अधिकार नहीं है, यदि वह अपने श्रमिकों को न्यूनतम वेतन भी न दे सके' ने विरोधियों के मुँह बन्द कर दिये। खेतिहर श्रम-जाँच के लिए भी अकेले आप ही उत्तरदायी हैं। निस्सन्देह, एशिया और सुदूर-पूर्व के देशों में इस प्रकार की कोई सामाजिक व आर्थिक जाँच इतनी बड़ी हुई ही नहीं। इस जाँच ने खेतिहर श्रमिकों की स्थिति के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तृत रूप में सूचनाएँ हमारे सामने रखी हैं। कुछ राज्यों में खेतिहर श्रमिकों के लिए न्यूनतम वेतन निर्धारण का कार्य भी आपके आदेशानुसार ही किया गया। श्री जगजीवन राम ने ही सबसे पहले देश में औद्योगिक गृह-निर्माण योजना का प्रारम्भ किया। सामाजिक सुरक्षा की ओर अधिक झुकाव होने के कारण १६५० में आपने 'सेवायुक्त राज्य बीमा' योजना और इससे दो वर्ष पूर्व 'सेवायुक्त प्रॉविडेन्ट फण्ड' योजना को प्रारम्भ किया। पूर्ण होने पर ये योजनाएँ २५ लाख से भी अधिक श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा सुविधाएँ प्रदान करेंगी। ये तो श्रम के क्षेत्र में श्री जगजीवन राम द्वारा किये गये थोड़े से कार्य हैं, इनके अतिरिक्त भी अनेक उल्लेखनीय महत्त्व के कार्य हैं। वास्तव में केन्द्रीय सरकार में इस छोटे से काल में श्री जगजीवन राम द्वारा इस क्षेत्र में प्राप्त सफलताओं ने उनको अमरत्व प्रदान कर दिया है।

१३ मई, १६५२ से श्री जगजीवन राम संचार-मंत्री के रूप में कार्य कर रहे हैं। राष्ट्र के आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान संचार-मन्त्रालय को प्राप्त कराने के उद्देश्य से अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय किये जा चुके हैं।

जिस समय श्री जगजीवन राम ने कार्य-भार सम्भाला, डाक-तार विभाग का २००० अथवा इससे अधिक जनसंख्या वाले गाँवों में डाकघर खोलने का कार्यक्रम प्रायः समाप्त हो चुका था।

आपने देखा कि जनसंख्या का सिद्धान्त उचित होते हुए भी सभी स्थानों की आवश्यकता पूरी न कर सका। कुछ क्षेत्रों में तो अधिक जनसंख्या वाले गाँव एक दूसरे के बहुत समीप हैं, वर्त्तमान नीति के अनुसार उन सभी में एक-एक डाकघर खोला गया है। दूसरी ओर वे गाँव हैं जिनकी जनसंख्या कम भी है और वे एक दूसरे से बहुत ही अधिक दूरी पर स्थित हैं, जहाँ उचित दूरी में एक भी डाकघर नहीं है। इसलिए, एक नई योजना बनाई गई है, जिसमें जनसंख्या के सिद्धान्त के साथ-साथ डाक-वितरण कार्य में स्थान की दूरी की ओर भी पूर्ण ध्यान दिया गया है। इस योजना के अनुसार, ऐसी आशा की जाती है कि किसी भी बस्ती से अधिक से अधिक ३–४ मील की दूरी पर एक डाकघर अवश्य होगा।

गत वर्ष में इस विभाग ने टिकट छापने के लिए फोटोग्राव्यूर प्रोसेस (Photogravure Process) की आधुनिकतम मशीनें प्राप्त कर ली हैं और इन मशीनों द्वारा मुद्रित पहला क्रम, सन्त व कवि क्रम विगत वर्ष में चलाया भी गया। इस सम्बन्ध में श्री जगजीवन राम द्वारा दिये गये निर्देशन की 'टिकट एकत्रित करने वालों' ने बहुत प्रशंसा की।

कोलम्बो योजना के अन्तर्गत ब्रिटिश पोस्ट-ऑफिस से टेलीप्रिन्टर विशेषज्ञ की सेवाएँ प्राप्त कर ली गई हैं। तारघरों के यंत्रीकरण को देखने तथा टेलीफोन व तार के तारों (केबल्स) को ज़मीन के नीचे बिछाने की योजना बनाने के लिए एक विशेषज्ञ दल की सेवाएँ प्राप्त करने के लिए प्रयास किया जा रहा है।

रेडियो-टेलीफोन नियोजन की ओर श्री जगजीवन राम का बहुत अधिक झुकाव है। १४ अगस्त, १९५२ को भारत व जापान के बीच सीधी रेडियो-टेलीफोन सर्विस का उद्घाटन किया गया। नैरोबी व बर्मा से इसीप्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रश्न अभी विचाराधीन है। भारत-ब्रिटेन सर्विस को ब्राजील, यूनान, ऑस्ट्रेलिया तथा इज़राइल तक विस्तृत करने का प्रश्न भी विचाराधीन है।

सहकारी समितियों, कैन्टीनों, रेलवे-मेल सर्विस के विश्रान्ति-गृहों तथा मनोरंजन क्लबों की संख्या में वृद्धि विभाग की सर्वतोमुखी सुरक्षा सुविधाओं में तीव्र-प्रगति की द्योतक है। नई दिल्ली के नेशनल स्टेडियम में अखिल भारतीय अथलैटिक प्रतियोगिता फरवरी मास में हुई थी। प्रतियोगियों के पद विचार के बिना ही श्री जगजीवन राम ने सभी को राष्ट्रपति भवन में दावत पर निमंत्रित किया। वास्तव में वह प्रजातांत्रिक एकत्रण का एक अनुपम उदाहरण था।

संचार मंत्रालय सभी दिशाओं में उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है। अच्छी हवाई सेवाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से श्री जगजीवन राम ने लोक सभा में एक बिल हवाई कॉरपोरेशन की स्थापना के लिये रखा है। चालू फर्मों के राष्ट्रीयकरण में यह प्रथम योजना है। इसकी सफलता पर ही अन्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण निर्भर है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्री जगजीवन राम के नेतृत्व में यह योजना पूर्ण सफल होगी।

जगजीवनराम और उनकी सेवाएँ

आज हम श्री जगजीवन राम की ४६ वीं जन्म-तिथि मना रहे हैं; मैं देश के अन्य करोड़ों लोगों के स्वर में स्वर मिला कर आपके लिए स्वास्थ्य और सुख की कामना करता हूँ ताकि आने वाले वर्षों में आप हमारी आर्थिक, सामाजिक एवं मानसिक समस्याओं का उचित हल निकालने में अपना वांछित सहयोग दे सकें।

परम-पिता का आशीर्वाद सदैव आपके साथ रहे !

गांधी और साहित्य

गोपालकृष्ण कौल

गांधी के महान् व्यक्तित्व की कहानी भारत के राष्ट्रीय जागरण की कहानी है। उनकी उदात्त मानववादी विचारधारा ने राष्ट्र की सीमाएँ पार करके दुनिया के दूसरे देशों के लोगों को भी उद्वेलित और प्रेरित किया है। इसलिए जब हम ऐतिहासिक दृष्टि से भारत के राष्ट्रीय-आन्दोलन का मूल्यांकन करते हैं तो उस समय की सामाजिक परिस्थितियों में उभरने वाली निर्माणकारी सम्भावनाओं को प्रतिबिम्बित करने वाले साहित्य की मूल-प्रेरणा के निर्धारण में, गांधी की उदात्त मानववादी विचारधारा का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से बहुत कुछ योग पाते हैं। साहित्य पर गांधी का प्रभाव दो रूपों में अभिव्यक्त हुआ है—एक व्यक्तित्व का प्रभाव दूसरा विचारधारा का प्रभाव (गांधीवाद का प्रभाव)। यद्यपि गांधी का व्यक्तित्व उनकी विचारधारा (गांधीवाद) से अलग अस्तित्व नहीं रखता, क्योंकि वह अपने सिद्धान्तों को प्रयोग के द्वारा ही सिद्ध करते थे; किन्तु फिर भी वह अपने चिन्तन में अपने प्रयोग (क्रिया) से आगे थे और अपने प्रयोग से सीख कर अपने चिन्तन को और अधिक व्यापक बनाते थे। इसलिए उनकी विचारधारा (गांधीवाद) उनके क्रियाशील व्यक्तित्व का साध्य बनती जाती थी, और क्रियाशीलता या साधनरत नैतिक प्रयोगशीलता उनका व्यक्तित्व। वह किसी वैज्ञानिक दर्शन का शास्त्रीय निर्माण करने की बौद्धिक खोज में नहीं थे, इसलिए अनेक बुद्धिवादी तर्कावलम्बियों को उनका भावनामूलक मानववाद चाहे अपील न करे, किन्तु गांधी का असाधारण व्यक्तित्व उन्हें अवश्य अपील करता है। साहित्य और कला के क्षेत्र में भी इसी प्रकार गांधी के द्विविध प्रभाव दिखाई देते हैं। इस द्विविध प्रभाव को दूसरे ढंग से यों स्पष्ट किया जा सकता है कि एक ओर अपने युग के लोकनायक रूप में गांधी साहित्य और कला के आलम्बन थे तो दूसरी ओर वह अपनी विचारधारा के रूप में, साहित्य को मानववादी आदर्श की ओर उन्मुख करने वाली नैतिक और प्रयोजनमूलक प्रेरणा थे।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने व्यक्तित्व के प्रभाव से गांधी महाराज कविता लिखी थी, जिसमें गांधी राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रतीक-रूप में प्रस्तुत किये गए हैं। उसकी अन्तिम पंक्तियाँ हैं :

'चिर कालेर हातकड़ि जे
धूलाय खसे पड़ल निजे
लागल भाले गांधी राजेर छाप।'

अर्थात् 'जो चिरकाल की हथकड़ी थी वह अपने आप ही खुलकर धूल में गिर पड़ी और ललाट पर गांधी-राज की छाप लग गई।'

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ही १६१५ में सर्वप्रथम गांधी को 'महात्मा' शब्द से सम्बोधित करके उनके व्यक्तित्व के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की थी और उसके बाद गांधी 'महात्मा गांधी' हो गए।

हिन्दी में भी सभी गण्यमान कवियों ने गांधी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कविताएँ लिखी और दूसरी भाषाओं के साहित्य में भी ऐसी रचनाएँ रची गई, किन्तु इस प्रकार की प्रशस्तिमूलक रचनाएँ गांधी के व्यक्तित्व की विराटता की सूचक तो हैं किन्तु साहित्य की गांधीवादी भावोत्कृष्टता की श्रेष्ठता को नहीं प्रमाणित करती, क्योंकि आज भी देश-विदेश में यह अनुभव किया जाता है कि जिस गांधी ने भारत के राष्ट्रीय जागरण का प्रभावशाली नेतृत्व किया उसके जीवन और चिन्तन को लेकर उत्कृष्ट रचनात्मक कलापूर्ण साहित्य की सृष्टि अभी तक नहीं की गई है। फिर भी गांधीवाद ने भारतीय साहित्य को एक राष्ट्रीय और नैतिक चेतना का स्वर प्रदान किया है और गांधीवादी दृष्टिकोण की रचना वाले कई लेखकों ने उत्कृष्ट कृतियों की रचना की है। कुछ कृतियों में तो गांधीवाद कृतिकारों की संस्कृत चेतना के रूप में कलात्मक माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। मराठी और हिन्दी के दो उपन्यासकार खांडेकर और जैनेन्द्र इस अर्थ में विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। वैसे हिन्दी-उर्दू के प्रसिद्ध कथाकार स्वर्गीय प्रेमचन्द भी राष्ट्रीय आन्दोलन के समय जन-जागरण के माध्यम से गांधी के विचारों से बहुत प्रभावित हुए थे। प्रेमचन्द ने अपनी बीस वर्ष की पुरानी सरकारी नौकरी को गांधी का भाषण सुन कर ही त्याग दिया था। प्रेमचन्द की कहानी और उपन्यासों में उनके समय के विदेशी वस्त्र-बहिष्कार, सत्याग्रह, हरिजनोद्धार, आदि गांधीवादी आन्दोलनों की झाँकी अवश्य मिलती है; किन्तु वह पूरी तरह से गांधीवादी नहीं थे।

गांधीवाद सर्वोदय के समन्वयमूलक सिद्धान्त पर आधारित है और इस सिद्धान्त के आधार हैं अहिंसा और सत्य। सत्य गांधीजी का साध्य था और अहिंसा उनका साधन। इसलिए वह साध्य की पवित्रता के साथ-साथ साधन की पवित्रता पर सदा जोर देते थे। इस बौद्धिक युग में साधनों की नैतिकता पर बल देकर उन्होंने व्यवहारजगत में एक नैतिक राजनीति को जन्म दिया। उनका कहना था :

'साधन बीज है और साध्य वृक्ष; इसलिए जो सम्बन्ध बीज और वृक्ष में है, वही साधन और साध्य में है। शैतान की उपासना करके मैं ईश्वर-भजन का फल नहीं पा सकता।'

'स्वराज्य-प्राप्ति के लिए किया गया प्रयत्न स्वयं स्वराज्य ही है।'

इस साधन की नैतिकता के अनुसन्धान में ही गांधीजी ने, अहिंसा के व्यावहारिक और दार्शनिक—दोनों पक्षों पर गम्भीर चिन्तन किया था। यद्यपि गांधीजी ईश्वर को ही सर्वोच्च सत्य मानते थे, किन्तु स्वराज्य भी उनके लिए सत्य ही था, जिसकी उपलब्धि और अभिव्यक्ति के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहे। रिचर्ड ग्रेग ने गांधीजी के सम्बन्ध में इस विषय में लिखा है :

'वह सामाजिक सत्य के क्षेत्र में महान् वैज्ञानिक हैं। उनके महान् वैज्ञानिक होने के कारण हैं, समस्याओं का उनका चुनाव, उनको हल करने की उनकी पद्धति, उनके अन्वेषण की प्रबलता और व्यापकता और मनुष्य-स्वभाव का उनका गम्भीर ज्ञान।'

वह समाज को वर्गहीन बनाने के लिये व्यक्ति की नैतिकता को अधिक उन्नत बनाना चाहते थे। इसीलिये वह सादगी, ग्रामीण संस्कृति और स्वतन्त्रता की भावना का विकास व्यक्ति की नैतिक चेतना में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। उनका विश्वास था कि अहिंसक वर्गहीन समाज की रचना के लिए हिंसक साधनों का प्रयोग करना उसकी उपलब्धि में सिद्धान्ततः बाधक है इसलिये वह वर्ग-संघर्ष का विरोध करते थे। साथ ही वह कायरता से हिंसा को ज्यादा अच्छा समझते थे। गांधीजी के वर्ग-समन्वय का उदय सिद्धान्ततः हमारे राष्ट्रीय-आन्दोलन की ऐतिहासिक परिस्थितियों के अन्तर्विरोधपूर्ण मध्य मार्ग से हुआ है और वैज्ञानिक बौद्धिकता को अभी अपना पक्षधर बनाने में वह समर्थ नहीं हो पाया है। फिर भी गांधी का समन्वयमूलक अहिंसा-दर्शन भारत की ही नहीं, विश्व की मानववादी परम्परा का एक ऐतिहासिक विकास है। साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण और युद्ध के विरुद्ध स्वाधीनता, आत्मबल, शांति और समाज-रचना की उदात्त मानवीय भावना का नैतिक स्वर ही गांधीवाद की ऐतिहासिक देन है, जिसने अपने समकालीन साहित्य और साहित्यकारों को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित किया है।

गांधी ने गुलाम भारत के अन्धकार में भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा के आदर्शों को जनवादी ढंग से प्रकाश-स्तम्भ बनाया। वह बौद्ध, जैन, ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों के 'विकासशील मानववादी तत्त्वों' का समन्वय करना चाहते थे। वह रस्किन से भी प्रभावित थे और टालस्टाय से भी। किन्तु उनकी सब मान्यताएँ उन्हें स्वीकार नहीं थी। किन्तु सबके मूल में एक उदात्त मानववाद था, जो समष्टि की नव-रचना के लिये व्यष्टि के संस्कार का हामी था। इस तरह व्यक्तिवाद के समर्थक होते हुए भी जन-आंदोलनकर्ता के रूप में वह जनवादी भी थे। इसीलिये उनके नेतृत्व में हुए राष्ट्रीय-आन्दोलन में उनसे मतभेद रखने वाले भी उनके अनुयायी थे; बल्कि गांधी उस विराट सांस्कृतिक वटवृक्ष की तरह थे, जिसकी छाया में सभी प्रकार के स्वाधीनता-पथ के पथिक, आश्वस्त होकर एक जगह बैठते थे। इस उदात्त मानववाद से प्रभावित होकर रोम्यां रोलां ने लिखा था :

'हम बुद्धिमान, विज्ञानवेत्ता, विद्वान कलाकार जो अपनी नगण्य शक्तियों की सीमा के अन्दर अपने मन में वह 'मानव-समाज का नगर, जिसमें ईश्वरीय शांति का राज है' निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं। हम जो (गिरजे की भाषा में) तीसरी कोटि के हैं और जो मानवता पर आधारित विश्व-बन्धुत्व को मानते हैं, अपने इस गुरु और बन्धु गांधी को, जो भावी मानवता के आदर्श को हृदय में प्रतिष्ठित किये हुए, उसे आचरण में प्रत्यक्ष करके दिखा रहा है, अपने प्रेम और आदर का हार्दिक अर्घ्य अर्पण करते हैं।'

इसी बात को मराठी के उपन्यासकार वि० स० खाण्डेकर ने इस प्रकार व्यक्त किया है :

'यह सच है कि गांधीवाद की स्थापना बुद्धि की अपेक्षा भावना पर अधिक है, किन्तु केवल इसलिये, मानवधर्म की एक महत्त्वपूर्ण आधुनिक तत्त्वप्रणाली की दृष्टि से उसकी कीमत तिल भर भी कम नहीं होती। गांधीवाद की भावना-शीलता कोई ऐसी बात नहीं है जो भूत-प्रेत में विश्वास अथवा हस्तसामुद्रिक में श्रद्धा के समान अगम्य हो। कौन कह सकता है कि दरिद्रनारायण का जो

दुःख लेनिन समझ सका वह गांधीजी नहीं समझ सकते ? किन्तु लेनिन की क्रान्ति समाज-रचना की क्रान्ति थी; गांधी मानवीमन की ही क्रान्ति करना चाहते हैं । यदि हम समाज हमेशा के लिये बदलना चाहते हैं तो हमें पहले मनुष्य बदलना चाहिये । यदि हम अधिक सुखी संसार का निर्माण करना चाहते हैं तो एक अधिक त्यागी नये मनुष्य की आवश्यकता है ।'

साहित्यकार का काम ही मानवता की समष्टि में से नये मनुष्य की व्यष्टि खोजना है; जो समष्टि की अपर्याप्तता, आकांक्षा और अतृप्ति के सही निदान का उद्‌घाटन करता हुआ, ऐतिहासिक परिस्थितियों के गर्भ से नव-रचना की सम्भावनाओं को घोषित करता है । साहित्य का यथार्थ मानव-संतति में से ऐसे नये मनुष्य को खोजने की कला है। गांधी का विचार-दर्शन, व्यक्ति को अपने में डूब कर खोजने का दर्शन है, वह कर्त्तव्य का दर्शन है, अधिकारों का नहीं । अधिकार तो इस कर्त्तव्य से ही स्वयं उपजते हैं । इसीलिये वह न केवल वर्गहीन समाज की रचना का स्वप्न देखते थे; बल्कि राज्यहीन समाज की अहिंसक रचना का स्वप्न भी देखते थे । आज के वर्ग-समाज के तनावपूर्ण वातावरण में व्यक्ति को वे सब सामाजिक सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं, जिनमें वह केवल कर्त्तव्य की नैतिकता की उन्नति के द्वारा वर्ग-द्वेष को भूल कर अपना हृदय-परिवर्तन कर सके, क्योंकि वर्ग स्वार्थजन्य परिस्थितियों ने वर्ग-समन्वय के सभी द्वार बन्द कर दिये हैं । जब तक सभी वर्ग, विशेषतः जो दूसरों के श्रम के उपजीवी हैं, कर्त्तव्य की नैतिकता को उन्नत करने के लिये त्याग और प्रेम का वातावरण नहीं प्रस्तुत करते तब तक व्यक्ति की नैतिकता की इतनी उन्नति कैसे होगी कि वह वर्ग-समन्वय से वर्गहीन समाज की रचना कर सके ? अपनी इस प्रश्नसूचक अपर्याप्तता के साथ भी गांधी का विचार दर्शन नये मनुष्य की ओर संकेत करता है, जो किसी भी श्रेष्ठ साहित्य का लक्ष्य बनता है । अहिंसक-प्रतिरोध करने वाले चरित्रों का मानसिक संघर्ष खांडेकर ने अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया, विशेषतः उनके 'क्रौंच वध' में गांधीवाद की मानववादी परम्परा को नये अर्थों में कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त किया गया है ।

हिन्दी में जैनेन्द्र ने गांधी के विचार-दर्शन को एक कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है । यह नहीं कि जैनेन्द्र सर्वांशतः गांधीवाद से सहमत हैं क्योंकि वह किसी 'वाद' को चिन्तन का नियामक नहीं मानते; किन्तु गांधी का चिंतन जैनेन्द्र की कला के विचार-संस्कार में समाहित हैं । 'जैनेंद्र के विचार' पुस्तक की भूमिका में प्रभाकर माचवे ने लिखा है :

'जैनेन्द्र के विचार-लोक पर बंदनीय गांधीजी के सिद्धान्तों पर गहरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह की सिद्धान्तत्रयी को जैनेन्द्र ने भी जैसे आधार के तौर पर पूरी तरह अपना लिया है ।'

यही नहीं कि जैनेन्द्र के विचारपूर्ण लेखों में गाधी-दर्शन काफी उभर कर सामने आता है, बल्कि उनके उपन्यासों के पात्र भी एक गांधीवादी की भांति संघर्ष के नाम पर अहिंसक प्रतिरोध में ही विश्वास करते हैं और यह ही उनके चरित्रों का मानसिक संघर्ष बन कर उनकी सामाजिक यथार्थता को अभिव्यक्त करता है । जैनेन्द्र की कला गांधी के उदात्त मानववाद से अनुप्राणित है ।

गांधी के विचारों से अनुप्रेरित दृष्टिकोण वाले साहित्यकारों की दृष्टि साहित्य और कला के सम्बन्ध में गांधीजी से भिन्न हो सकती है क्योंकि गांधी ने साहित्य और कला पर अधिक विवेचन नहीं किया है। जो कुछ मिलता है वह उनके स्फुट विचारों में मिलता है। वैसे गांधीजी गुजराती साहित्य-सम्मेलन और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी चुने गए थे, और अपने अध्यक्षीय भाषणों में जो कुछ उन्होंने इस विषय में व्यक्त किया है वह साहित्य के प्रति उनके दृष्टिकोण को संकेत-रूप में प्रकट करता है। साथ ही जीवन के प्रति गांधीजी का जो दार्शनिक दृष्टि कोण था, उसे मिलाकर ही उनके साहित्य के प्रति बने दृष्टिकोण को ठीक से समझा जा सकता है, क्योंकि कोई विचारक या मनीषी साहित्य और जीवन के प्रति मूलतः दो भिन्न दृष्टिकोण नहीं रख सकता। गुजराती साहित्य सम्मेलन के बारहवें अधिवेशन में अध्यक्ष-पद से गांधी ने कहा था :

'जब मैं सेवाग्राम का और वहाँ के अस्थि-पंजर लोगों का ख्याल करता हूँ तो मुझे आपका साहित्य निरर्थक-सा मालूम होता है।'

'जिसका दिमाग़ ताजगी से भरा है वह यदि मेरे पास आये तो मैं उसे दिखा दूँगा कि मौलिकता के लिये शहर का क्षेत्र अच्छा नहीं, वह तो उसे गाँव में ही मिलेगी।

'मैं अपने अनुभव से कहता हूँ कि जिस ढंग से आज आप स्त्री का वर्णन अपने साहित्य में कर रहे हैं उसमें न स्त्री की पूजा है न उसका सम्मान है।

'साहित्य के लिये आप जब लेखनी उठायें तो यही सोच कर उठाइए कि स्त्री मेरी माता है, इस विचार से जब आप लिखेंगे तो आपकी लेखनी से स्त्री के बारे में जो कुछ निकलेगा वह उतना ही सुन्दर और फलप्रद होगा, जितने कि सुहावने आकाश से बरसने वाले बादल जो पृथ्वी-रूपी स्त्री का उपजाऊ बनाते हैं।'

इस प्रकार गांधीजी साहित्य के शिव और सत्य-पक्ष पर ही अधिक जोर देते थे। वह मानते थे जो सत्य है, वही शिव है और जो सत्य और शिव है वही सुन्दर हैं। इसीलिये वह साहित्यकारों की दृष्टि गावों की ओर मोड़ना चाहते थे और जनता को नई नैतिक चेतना प्रदान करने वाले साहित्य का श्रेष्ठ समझते थे। उन्होंने अश्लीलता और स्त्री के कामुक वर्णन की निन्दा की है। सन् १९३५ में हिन्दी-साहित्य-उम्मेलन के अध्यक्षपद से उन्होंने अपने भाषण में कहा था :

'हिन्दी भाषा में, आज कल गन्दे साहित्य का काफी प्रचार हो रहा है। पत्र-पत्रिकाओं के संचालक इस बारे में असावधान रहते हैं अथवा गन्दगी को पुष्टि देते हैं।'

गांधीजी अधिक शृंगारिक साहित्य को भी श्रेष्ठ नहीं समझते थे जबकि रसवादियों ने रसों में शृंगार को ही सर्व-श्रेष्ठ माना है। उनकी यह दृष्टि उनकी उस नैतिक चेतना का ही परिमाण है जो राजनीति को भी नैतिक बनाने का प्रयत्न करती थी। उन्हें साहित्य के तात्विक-विवेचन की गहराई में जाने का अवकाश ही नहीं मिला किन्तु श्रेष्ठ साहित्य की उनकी एक अभिरुचि थी जो उनके इस उपयोगितावादी नैतिक दृष्टिकोण के साथ मिलकर साहित्य के प्रति गांधी के मूल्यांकन का एक रूप प्रस्तुत करती है। उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ साहित्य क्या था—इसका पता इस बात से भी चलता है कि

वे किस साहित्य को अधिक पसन्द करते थे। वह नैतिक चेतना वाले श्रद्धा और भक्तिमूलक साहित्य के भक्त थे। वह अपनी प्रार्थना में भक्त और सन्त कवियों के पद गाया करते थे। दूसरी ओर मानववादी भाव भूमि पर आधारित उदात्त राष्ट्रीय साहित्य को वे श्रेष्ठ समझते थे, जैसे आधुनिक साहित्यकारों में उन्हें रवीन्द्रनाथ और टाल्सटाय प्रिय थे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मंच से उन्होंने कहा भी था :

'इस मौके पर अपने दुःख की भी कुछ कहानी कह दूँ। हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा बने या न बने, मैं उसे छोड़ नहीं सकता। तुलसीदास का पुजारी होने के कारण मेरा उस पर मोह रहेगा ही। लेकिन हिन्दी बोलने वालों में रवीन्द्रनाथ कहाँ हैं? प्रफुल्लचन्द राय कहाँ हैं! जगदीश बोस कहाँ हैं! ऐसे और भी नाम मैं बता सकता हूँ। मैं जानता हूँ कि मेरी अथवा मेरे जैसे हजारों की इच्छा मात्र से ऐसे व्यक्ति थोड़े ही पैदा होने वाले हैं। लेकिन जिस भाषा को राष्ट्रभाषा बनना है उसमें ऐसे महान् व्यक्तियों के होने की आशा रखी हीजायगी।'

इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि गांधीजी तुलसी और रवीन्द्र की कोटि के साहित्य को श्रेष्ठ मानते थे। इस बात पर निरालाजी ने आपत्ति की थी और उनसे समय माँगा था कि वह उन्हें बता सकें हिन्दी में रवीन्द्र कौन है, किन्तु समयाभाव से ऐसा अवसर नहीं आया। इन सब मान्यताओं से एक बात अवश्य ध्वनित होती है कि गांधीजी राष्ट्रीय जागरण के साथ-साथ एक राष्ट्रीय साहित्य के उदय का भी स्वप्न देखते थे। उनका यह दृष्टिकोण नए लेखकों के सामने प्रश्न चिन्ह-सा खड़ा है, क्योंकि राष्ट्रीय साहित्य की रचना की जो प्रेरणा गांधी ने अपने जीवन-दर्शन के माध्यम और राष्ट्रीय आन्दोलन के नेतृत्व द्वारा प्रदान की थी, आज भी उसको ऐतिहासिक दृष्टि से, नई परिस्थितियों में विकसित करना है। गांधीजी का मन्तव्य था :

'जिस भाषा को हम राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते हैं उसका साहित्य स्वच्छ, तेजस्वी और उन्नगामी होना चाहिये।'

आज भी परिस्थितियाँ इतनी नहीं बदली हैं कि इस मांग को दुहराया न जा सके। आज की ऐतिहासिक परिस्थितियों में सामाजिक जीवन के यथार्थ को प्रतिबिम्बित करने वाले राष्ट्रीय साहित्य के विकास की आवश्यकता पहले से भी अधिक है क्योंकि आज का युग नव-मानव के जन्म से पूर्व विश्व-जननी की प्रसव-व्यथा का युग है। नवमानव की रचना में राष्ट्रीय साहित्य का उतना ही योग होता है जितना नव-समाज की रचना में मानव-क्रांति का साहित्यकार भी इसी मानी में क्रांतिकारी है कि वह अपने साहित्य से नये जीवन की रचना करता है। गांधी की यह उक्ति—'यज्ञमय जीवन कला की पराकाष्ठा है' साहित्य को महान् जीवन-रचना के यज्ञ में अपनी आहुति देने की ओर ही संकेत करता है।

न्यूनतम वेतन विधेय

सदाशिव प्रसाद

जन्म लेने के साथ प्रत्येक व्यक्ति को ससम्मान जीवित रहने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। परन्तु व्यवहार में यह दिखाई नहीं देता। केवल जीवित रहने के लिए ही श्रम करने में सारा जीवन बीत जाता है। यही नहीं श्रम करने पर भी श्रम के बदले इतना नहीं मिलता कि शरीर को स्वस्थ, नीरोग और हृष्ट-पुष्ट रखा जा सके। कमजोर को न्याय दिलाना सरकार का काम है। फलतः काम लेने वाले और काम करने वाले के बीच सरकार आती है।

एक श्रमी को उसके श्रम के बदले भृति क्या दी जाय, इसका निर्णय अनेक बातों के आधार पर होता है। श्रम का मूल्य निश्चित करते समय परन्तु एक अन्य बात भी ध्यान में रखनी चाहिए। वह यह कि सब की प्राथमिक आवश्यकतायें एक समान हैं। जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की यह समानता एक ऐसा आधार है, जिसकी नींव पर भृति का निश्चय सरलता से किया जा सकता है। देश के लोगों का जीवन-मान एक सार पर हो, उसमें अत्यधिक विषमता न हो, ऊँच-नीच न हो, इस दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि भृति का निश्चय करते हुए हम इस बात का स्मरण रखें कि हमें इस देश में 'पितृ राज्य' स्थापित करना है, और इस देश में एक ऐसा नया समाज निर्माण करना है, जिसका आधार समता और बन्धुत्व होगा।

'प्राथमिक आवश्यकता' शब्द कुछ भ्रमात्मक भी है। प्राथमिक आवश्यकतायें क्या हैं इसकी कल्पना प्रत्येक की विभिन्न हो सकती है। परन्तु इस बात से सभी सहमत होंगे कि भोजन, छादन, निवास, दवा-दारु और सन्तान की शिक्षा का समावेश 'प्राथमिक आवश्यकता' में अवश्य होना चाहिए। श्रमी भी एक नागरिक है। एक नागरिक के नाते उसका भी अन्य व्यक्तियों के समाज राष्ट्र एवं राज्य के प्रति कुछ कर्तव्य है। उसका सर्वोपरि कर्त्तव्य यह है कि वह अपनी सन्तान को एक योग्य नागरिक बनावे। श्रमी अपने इस कर्त्तव्य का पालन समुचित रूप से कर सके, इस बात का ध्यान रखते हुये भृति का निश्चय होना चाहिये। एक श्रमी केवल अपने लिये श्रम नहीं करता तथापि अपने परिवार और पारिवारिक उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिये भी श्रम करता है। इस उत्तरदायित्व को वह भली प्रकार पूरा कर सके इसमें उसकी सहायता करना राज्य का प्रथम कर्त्तव्य है। इस कर्तव्य का पालन वह भृतिमान का निश्चय करके कर सकता है।

भृतिमान का निश्चय करते हुये यह देखना अत्यन्त आवश्यक है कि वह मान ऐसा हो जो लोगों को श्रम करने के लिए, कठोरतम श्रम करने के लिये, प्रेरित करे, उत्साहित करे और जीवन-

स्तर को ऊँचा करने वाला हो। श्रम का मूल्य कम मिलने, समुचित न मिलने तथा इतना न मिलने से जिससे जीवन की साधारण आवश्यकतायें पूरी हो सकें, श्रमी अनिच्छा अनमने भाव और विवशता से काम करता है। केवल क्षुधा-निवारण हो सके, शरीर को किसी तरह बनाये रख सकें, इस योग्य भृति देना न केवल श्रमी के साथ अन्याय करना है बल्कि उत्पादन का भी ह्रास करना है। उत्पादन की वृद्धि का उपाय यही है कि भृतिमान इतना और ऐसा हो, जिससे श्रमी काम करने को उत्सुक हो अपने अन्दर काम करने के लिये उत्साह और उमंग का अनुभव करे। उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि चारों ओर के वातावरण में उत्साह, स्फूर्ति और उल्लास हो। यह उसी समय सम्भव है कि जब श्रम का उचित और पूरा-पूरा मूल्य मिले। किन्तु उचित और पूर्ण मूल्य का निर्धारण उसकी वर्तमान आर्थिक स्थिति को देखकर नहीं बल्कि इस विचार से निश्चय होना चाहिये कि देश के मानव समाज का स्तर हम क्या देखना चाहते हैं और निम्न और उच्च श्रेणी के बीच का अन्तर किस स्तर पर रखना चाहते हैं।

भृति का निश्चय करते हुए एक और बात भी ध्यान में रखनी चाहिए। श्रम-आयोजक स्वतः मुनाफे में एवं अपने श्रम के बदले क्या लेता है। उत्पादन के तीन अंगों में से भृति को छोड़ दें, शेष दो अंग रह जाते हैं, श्रम और पूँजी। इन दोनों के मिलने से उत्पादन होता है। इसलिए इसके लाभ में भी दोनों का अंश एक समान होना चाहिये। पूँजी के संचय में यदि पूँजी लगाने वाले ने कुछ त्याग किया है, कुछ कष्ट सहा है तो यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पूँजी संचय में भी श्रम का भाग है। इस कारण भृति का निश्चय करते हुये यह मानना जरूरी है कि पूँजी लगाने वाले के समान श्रम देने वाला भी उद्योग का स्वामी है, तथा दोनों के सहयोग से ही उत्पादन होता है, पूँजी का निर्माण होता है। और इस प्रकार निर्मित पूँजी नए काम-काज, कारोबार, नए रोजगारों का कारण होती है। इसलिये भृति का निश्चय उस मान से करना चाहिए जिससे जन-समाज की समृद्धि बढ़े और मुट्ठीभर लोगों के हाथ में सम्पत्ति केन्द्रित न हो।

इसके अतिरिक्त श्रमी और कामयोजकों के बीच श्रमी की ओर से सरकार द्वारा हस्तक्षेप करने का एक और भी कारण है। कामयोजक के मुकाबले श्रमी कमजोर है, असंगठित है और काम-योजक के साथ समान स्तर पर खड़े होकर भृति ठहराने की शक्ति नहीं रखता। इसलिए उसकी मदद करना सरकार के लिए आवश्यक हो जाता है। श्रम के बदले न्यूनतम वेतन अवश्य मिलना चाहिए, इसका आग्रह इस देश में सर्वप्रथम गांधीजी ने किया और जीने का अधिकार सबका है, इस सिद्धान्त का प्रचार उन्होंने किया। अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम सम्मेलन ने भी सब देशों का न्यूनतम वेतन सम्बन्धी कानून बनाने की आवश्यकता की ओर ध्यान खींचा। जब कांग्रेस ने शासन-सूत्र अपने हाथों में लिया तब कानपुर के मजदूरों की हड़ताल के उग्ररूप धारण करने पर डॉ० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्ति की गई और इस कमेटी ने एक मिल-मजदूर का न्यूनतम वेतन १० रु० मासिक ठहराया। इसी समय किसान आन्दोलन ने सिर उठाया इसके साथ श्री जगजीवनराम ने खेतीहर मजदूरों की मजदूरी का सवाल उठाया। खेतीहर मजदूर, एकमात्र किसान की दया पर आश्रित हैं। ये [illegible] का सा जीवन व्यतीत करते हैं। इसलिये उनकी

अवस्था की ओर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है।

न्यूनतम वेतन निश्चित करने का प्रश्न महत्वपूर्ण है, इस बात को सरकार के द्वारा १६३२ में ही मान लिया गया था। परन्तु १६४३ से पहले तक इस दिशा में कोई असली कार्रवाई नहीं की गई। १६४४ में श्रम सम्मेलन के सामने यह विषय उपस्थित किया गया। स्वाधीन भारत के प्रथम श्रम-मंत्री श्री जगजीवन राम बनाये गए। आप के सतत परिश्रम के फलस्वरूप 'न्यूनतम वेतन कानून' १५ मार्च १६४८ को संसद ने पास किया।

यह कानून अत्यन्त व्यापक है। निम्न स्थानों में यह कानून लागू होता है :

१—ऊनी कालीन, शाल, दुशाले बनाने के कारखाने,
२—चावल, आटा व दाल की मिलें,
३—बीड़ी, सिगरेट व तम्बाकू बनाने के कारखाने,
४—चाय, रबड़, सिनकोना, काफी आदि के बाग
५—तेल मिलें
६—म्युनिस्पल व जिला बोर्डों द्वारा नियंत्रित उद्योग,
७—सड़क व इमारती उद्योग,
८—पत्थर कूटना और पत्थर तोड़ना,
६—लाख के कारखाने,
१०—अभ्रक के कारखाने,
११—सार्वजनिक मोटर-संवाहन,
१२—चमड़ा कमाने व बनाने का उद्योग,
१३—खेती (खेती, डेरी, बागवानी, मुर्गी पालन, बन-उद्योग, लकड़ी का व्यवसाय आदि)

इस विषय में राज्य सरकार को यह अधिकार दिया गया है, कि इनके अतिरिक्त और किसी उद्योग का यदि वे उपयुक्त समझें, तो वे उसको भी न्यूनतम वेतन कानून लागू कर सकते हैं। परन्तु ऐसे किसी उद्योग पर यह कानून लागू नहीं हो सकता, जिसमें राज्य भर में १००० से कम व्यक्ति काम करते हैं।

न्यूनतम वेतन ठहराने के लिए अनेक श्रेणियाँ बनाई गई हैं। जैसे (i) समय के अनुसार, (ii) काम के मुताबिक, (iii) काम के मुताबिक जिनका वेतन दिया जाता है, उनका समय के अनुसार निश्चित करना, (iv) काम के निश्चित घण्टों के अतिरिक्त समय में किए गए काम का वेतन और (v) छुट्टी के दिन काम करने का वेतन दर निश्चित किया गया है। वेतन दर का निश्चित करने के साथ मँहगाई भत्ते का भी निश्चय किया जाता है। वेतन अनिवार्यतः मुद्रा में देने का कानून है। इसके कुछ अपवाद रखे गये हैं। राज्य सरकार किसी उद्योग के लिए छूट दे सकती है। उनको यह भी कार्य सौंपा गया है, कि वे (i) काम के घण्टों का निश्चय करें, (ii) छुट्टी के दिन, और (iii) अतिरिक्त समय के काम का वेतन-दर भी निश्चय करें।

न्यूनतम वेतन विधेय

वेतन-दर का निश्चय कामयोजकों और श्रमी प्रतिनिधियों की सहमति से हो सके और कोई पक्ष यह न समझे कि दूसरे के साथ रियायत की गई है और उसके साथ अन्याय किया गया है, इस उद्देश्य से अनेक परामर्शदातृ समितियों की स्थापना की गई है। केन्द्रीय परामर्शदातृ पलट, में काम योजकों और श्रमियों के एक समान प्रतिनिधि हैं और इसके अतिरिक्त अन्य लोग भी इसमें हैं। किन्तु इनकी संख्या कुल संस्था के एक तिहाई से अधिक नहीं हो सकती।

कानून का पालन ठीक तौर से हो रहा है या नहीं, इसका निरीक्षण करने के लिए अधिकारी नियुक्त करने की व्यवस्था है। कानून भंग की शिकायत सुनने और भंग करने वालों को दण्ड देने का भी उपबन्ध कानून में है। 'न्यूनतम वेतन कानून का पहला भाग १ अप्रैल १६५२ को लागू किया गया। इसके दूसरे भाग का सम्बन्ध खेती से है और वह ३१ दिसम्बर १६५३ तक के लिए स्थगित कर दिया गया है। किन्तु यदि कोई राज्य सरकार अपने राज्य के किसी भाग, या खेती से सम्बन्धित किसी काम के विषय में इस कानून को लागू करना चाहे तो वे कर सकते हैं।

राज्यों के न्यनतम वेतन कानून को अनुसूचित उद्योगों के सिवाय अन्य उद्योगों पर भी लागू करने का अधिकार दिया गया है। इसका लाभ कुछ राज्यों ने उठाया है और इसके अनुसार उन्होंने कुछ अन्य निम्न उद्योगों का समावेश अनुसूची में और कर दिया है।

नाम राज्य	राज्यों द्वारा अनुसूची में समाविष्ट उद्योग
अजमेर	वस्त्र उद्योग, ऊन प्रेसिंग व साफ करना
बम्बई	नमक
मध्यप्रदेश	सीमेंट, शीशा व पाटरी
दिल्ली	छापाखाना, फाउण्डरी व ओटोमोबाइल इंजीनियरिंग वर्कशाप
हैदराबाद	बटन बनाने के कारखाने
ट्रावनकोर व कोचीन	नारियल व काजू उद्योग

न्यूनतम वेतन दर निश्चय करने का कार्य समितियों की सहायता से किया जाता है। अपनी सिफारिशों से प्रभावित होने वालों की भी राय माँगती है, उन पर विचार करती है और उसके बाद न्यूनतम वेतन दर की गज़ट द्वारा घोषणा की जाती है। तीन मास का समय और दिया जाता है, और इस काल में उन पर आई आपत्तियों पर विचार किया जाता है। इसके बाद उस उद्योग के सम्बन्ध में वह न्यूनतम वेतन दर निश्चित कर दिया जाता है।

न्यूनतम वेतन-दर का निश्चय व्यापक दृष्टि से नहीं किया गया है। 'फेयर वेजेज कमीशन' का मत है कि न्यूनतम वेतन के अन्तर्गत श्रमी को जीवित रखने के लिए आवश्यक वस्तुओं का केवल मूल्य का ही नहीं समावेश करना चाहिए, बल्कि उसकी कार्य क्षमता और योग्यता बनाये रखने के लिए आवश्यक शिक्षा दवाई, तथा अन्य सुख-सुविधाओं एवं मनोरंजन का भी

समावेश होना चाहिए। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो कहना चाहिये कि जो 'न्यूनतम वेतन' विभिन्न उद्योगों के लिए निश्चित किया गया है, वह 'उचित' नहीं। इसका कारण देश की गिरी आर्थिक अवस्था है। न्यूनतम वेतन दर का निश्चय करने के लिए दो बातों का मुख्यतः विचार किया गया है। एक उद्योग की स्थिति, वह निश्चित वेतन देने की स्थिति में है या नहीं और दूसरा श्रमियों के वर्तमान जीवन-मान का स्तर। जीवन-निर्वाह व्यय के निर्देशांकों और थोक भावों के निर्देशांकों का विचार कर न्यूनतम वेतन दर निर्धारित किया गया है। यह दर वह सीमा है, जिसके नीचे अब और नहीं जाया जा सकता। वेतन-दर ऊँचा करने का परिणाम यदि कल-कारखानों के बन्द होना निकले, तो कुछ विशेष लाभ नहीं। इससे बेकारी बढ़ेगी। आवश्यकता इस बात की है, कि उद्योग धंधे बढ़ें और अधिक से अधिक लोगों को काम मिलें। परन्तु इसके साथ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि श्रमी वर्ग का जीवन-मान और नीचे न जावे और न्यूनतम-वेतन दर ने उसको नीचे जाने से रोक दिया है। उद्योग सोने की मुर्गी है। उससे रोज एक अण्डा लेने पर ही सन्तोष करना ठीक है। इस दृष्टि से श्रमियों के हित एवं उद्योग का आर्थिक सामर्थ्य के बीच समन्वय होना चाहिए। इसी दृष्टि से न्यूनतम वेतन दर निश्चित किया गया है।

सब राज्य आर्थिक विकास की दृष्टि से एक स्तर पर नहीं हैं। इस कारण समस्त देश के अन्दर एक उद्योग में काम करने वाले श्रमियों का एक ही वेतन-दर निश्चित करना सम्भव नहीं। फिर शहरों-शहरों व गाँवों-गाँवों के जीवन-मान में अन्तर है। तीसरी बात यह भी स्मरण रखने की है कि कहीं श्रमी दुर्लभ हैं, और कहीं बहुतायत से हैं। वेतन-दर निश्चित करने में यह तत्व भी अवश्य प्रभाव डालता है। इन सब बातों का विचार करते हुए भी इसका यह अर्थ नहीं कि एक उद्योग में एक खास काम करने वाले श्रमियों को यथा-सम्भव एक समान वेतन देने का प्रयत्न न किया जाय। एक ही उद्योग में एक ही काम के लिए यदि राज्यों में वेतन-दर विभिन्न हुआ और उनका अन्तर ज्यादा हुआ तो इसका परिणाम यह हो सकता है कि श्रमी एक क्षेत्र छोड़कर दूसरे क्षेत्र में चले जावें। पंजाब की तेल मिलों में एक श्रमी का वेतन प्रतिदिन १ रु० १२ आना है, किन्तु उत्तर-प्रदेश में १ रु० ही है। यही बात चाय बागों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है।

चाय बागों में वेतन-दर

	रु०	आ०
बिहार	१	६
पश्चिमी बंगाल	१	१ से १ रु० ३ आ०
मद्रास	१	५
कुर्ग	१	२
मैसूर	१	०
त्रावनकोर	१	३ आ० ६ पाई

इस अन्तर का एक कारण है चाय बागों में परिवार का परिवार काम करता है। परिवार के कितने व्यक्ति काम में मदद देते हैं, इस पर भी वेतन-दर का निश्चित होना निर्भर है।

न्यूनतम वेतन विधेय

भारतीय संविधान कानून की दृष्टि में नर-नारी की समापनता स्वीकार की गई है। समानता का क्षेत्र उसने आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र तक विस्तृत कर दिया है। एक जैसा और एक ही काम के लिए स्त्री और पुरुष का समान वेतन देने की बात कही है। यह ठीक है कि इस अधिकार को भारतीय नारी न्यायालय द्वारा प्राप्त नहीं कर सकती। साधारणतः सब राज्यों में नर-नारी के समान वेतन के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। परन्तु इसके कुछ अपवाद भी हैं। जैसे ट्रावंकोर-कोचीन में वेतन-दर इस प्रकार है :

न्यूनतम समय-दर

	बुनियादी वेतन			मंहगाई भत्ता			कुल वेतन		
	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०
(क) क्षेत्र श्रमी पुरुष	०	१५	०	०	१०	६	१	९	६
स्त्री	०	११	३	०	८	०	१	३	३
बच्चा	०	७	६		५	३		१२	९
(ख) फैक्टरी श्रमी पुरुष	१	१	०	०	१२	०	१	१३	०
स्त्री	०	१३	०	०	९	०	१	६	०

इसी प्रकार पंजाब के चाय-बागों में वेतन-दर इस प्रकार नियत किया गया है :

बच्चा	६ आ०	प्रतिदिन
स्त्री	८ आ० ६ पा०	प्रतिदिन
पुरुष	११ आ०	प्रतिदिन

इसमें मंहगाई भत्ता आदि सब सम्मिलित है।

इस भेद को केन्द्रीय सरकार का सम्वर्द्धन विभाग भी मानता है और उसने अपने निर्माण-कार्य में ठेके पर काम करने वाले श्रमिकों के लिए विभिन्न वेतन-दर स्वीकार किया है।

केन्द्रीय सरकार के निर्माण विभाग के ठेके के श्रमिकों का वेतन-दर

	पुरुष			स्त्री			१२ वर्ष से ऊपर का बच्चा		
	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०
१. बम्बई	२	२	०	१	१२	०	१	३	०
२. अहमदाबाद	२	०	०	१	७	०	१	०	०
३. बूहू	२	२	०	१	१२	०	१	३	०
४. आसाम	१	१२	०	१	४	०	१	०	०
५. नागपुर	१	०	०	०	१०	०	०	८	०
६. जब्बलपुर	०	१३	०	०	१०	०	०	७	०
७. बिहार	१	८	०	१	४	०	१	०	०
८. पश्चिमी बंगाल	१	६	०	१	०	०	०	१२	०
९. अजमेर	१	८	०	०	१२	०			
१०. आबूरोड	१	१२	०	१	४	०	०	१४	०

पुरुषों के समान स्त्रियों को वेतन न देने का जो कारण दिया गया है वह विचित्र है। महिलाओं की शारीरिक शक्ति कम होती है, अतः वे कम काम करती हैं। यदि उनको पुरुषों के समान वेतन दिया गया तो कामयोजक उनको काम देना पसन्द न करेगा। उनको बेकारी से बचाने के विचार से स्त्रियों के लिए कम वेतन-दर रखा गया है। इस युक्ति में सत्यांश है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता।

राज्य में भी एक ही उद्योग में काम करने वाले श्रमियों को एक समान वेतन देना सम्भव नहीं हुआ। आर्थिक परिस्थितियों की विभिन्नता, जनसंख्या, औद्योगिक विकास की अवस्था, मूल्य निर्देशांक आदि कारणों से राज्यों को कुछ क्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया है। जैसे बम्बई में राज्य को छः क्षेत्रों में विभक्त कर ४० रु० प्रतिमास से ६० रु० प्रतिमास तक वेतन-दर निश्चित किया गया है। पश्चिमी बंगाल में चावल मिलों के उद्योग के लिए राज्य को सात भागों में विभक्त कर दिया गया है और वेतन दर १३ आ० प्रतिदिन से १ रु० २ आ० प्रतिदिन नियुक्त किया गया है। सौराष्ट्र में राज्य को दो भागों में विभक्त किया गया है।

श्रमियों का वेतन दर निश्चित करने के लिए साधारणतः उनके तीन विभाग किये गये हैं। १. दक्ष, २. अर्द्धदक्ष और ३. अदक्ष। अनेक स्थानों पर क्लर्कों और टाइपिस्टों का भी श्रमियों में समावेश किया गया है। केंद्रीय सरकार ने सेक्रेटरी डिपार्टमेंट के स्टेनोग्राफर के लिए १८० रु. मासिक क्लर्क (अपर डिवीजन सिलेक्शन) १६० रु०, क्लर्क (अपर डिवीजन साधारण) ८०, क्लर्क (लोअर डिवीजन) ६० रु० मासिक, टाइपिस्ट ६० रु० मासिक नियत किया गया है। दक्ष वर्ग में उन श्रमियों को सम्मिलित किया जाता है, जो मशीन सम्भालते हैं, या उनकी मरम्मत करते हैं। पेचीदी मशीनों पर काम करते हैं, और जिन कामों के लिए अनुभव एवं अर्द्धशिक्षण की आवश्यकता होती है। अदक्ष श्रेणी में वे श्रमी आते हैं, जिनका काम अधिकतर शारीरिक होता है, और मशीन और औजारों द्वारा कम मात्रा में काम करते हैं। इन दोनों के मध्य के लोग अर्द्धदक्ष वर्ग में आते हैं। कई राज्यों में केवल अदक्ष श्रमियों का ही वेतन निश्चित किया गया है।

मंहगाई भत्ता अलग दिया जाय या वेतन के साथ मिलाकर दिया जाय यह प्रश्न विवाद का है। दिल्ली में मंहगाई भत्ता समेत वेतन दिया जाता है। परन्तु जीवन-निर्वाह व्यय निर्देशांक के घटने-बढ़ने के साथ यह घटता बढ़ता रहता है। अलग मंहगाई भत्ता देने के पक्ष में केवल तीन राज्य हैं। शेष का मत है कि मँहगाई भत्ता जीवन-निर्वाह व्यय निर्देशांक के साथ नत्थी है, और इसके घटने-बढ़ने के साथ वेतन भी घटता बढ़ता रहेगा। प्रतिमास का यह परिवर्तन दोनों में से न श्रमियों के लाभ का है, और न यह काम-योजकों के हित का है। वार्षिक बजट बनाना इसमें संभव नहीं।

सप्ताह ४८ घण्टे का हो यह सब राज्यों को स्वीकार है। किन्तु मद्रास राज्य में प्रतिदिन के लिए काम के घण्टे ६ रखे गए हैं, किन्तु सप्ताह में ४८ घण्टे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता। पश्चिमी बंगाल में कार्य-दिवस ८ घण्टे का है। अतिरिक्त समय के काम पर साधारण समय की अपेक्षा दुगना वेतन देने का नियम है।

न्यूनतम वेतन विधेय

खेतीहर मजदूरों की समस्या विकट है। नियोजन कमीशन ने भी इस बात की आवश्यकता स्वीकार की है कि खेतीहर मज़दूरों की न्यूनतम वेतन दर निश्चित होना चाहिए। सरकार ने भी स्वीकार किया है कि समस्त खेतहीर मज़दूर वर्ग इससे लाभान्वित होगा। अभी उन स्थानों पर यह कानून लागू किया गया है जिन क्षेत्रों में वेतन अत्यन्त न्यून है, जहाँ न्यूनतम वेतन दर लागू करना अनिवार्य है, और जहाँ इस कानून की सफलता का सर्वाधिक अवसर हो। पंजाब, पेप्सू, कच्छ, उड़ीसा, अजमेर और पटना (बिहार) जिले में खेतीहरों का न्यूनतम वेतन-दर नियत किया गया है। इसमें से भी दो भाग किये गये हैं। एक जो स्थायी रूप से काम करते हैं, दूसरे जो आकस्मिक रूप से दिहाड़ी पर काम करते हैं। पंजाब सरकार ने राज्य को तीन क्षेत्रों में विभक्त किया है। स्थायी मज़दूरों के लिए २५० रु० से ३६० रु० वार्षिक नियत किया गया है। पेप्सु में भी दो भाग किए गए हैं। स्थायी मज़दूरों को दो जिलों में २५० रु० वार्षिक या २१ रु० मासिक नियत किया गया है। शेष राज्य के अन्दर ३०० रु० वार्षिक या २५ रु० मासिक नियत किया गया है।

दिहाड़ी पर काम करने वाले खेतीहर मज़दूरों को भोजन के बिना पंजाब में २ रु० ८ आ० (फीरोजपुर) से लेकर १ रु० ८ आ० (शिमला, कांगड़ा) नियत किया या है। भोजन सहित न्यूनतम वेतन २ रु० प्रतिदिन (फीरोजपुर) से १ रु० (शिमला-काँगड़ा) प्रतिदिन तक तय किया गया है। आकस्मिक कार्य में हल चलाना, बीज़ बोना, खाद देना, क्यारी बनाना सम्मिलित हैं। पेप्सु में इसके लिए भोजन सहित १ रु० से १ रु० ८ आ० तक और भोजन न होने पर ८ आ० और मिलता है। निंकाई करने और रोपा रोपने सदृश हल्के कार्मो के लिए भोजन सहित १२ आ० से लेकर १ रु० तक मिलता है। भोजन न मिलने पर ८ आ० और अधिक मिलता है। कपास चुनने पर १॥ आना प्रति सेर मिलता है। गुड़ बनाने पर भोजन सहित १ रु० ८ आ० प्रतिदिन या १ सेर ४ छ० प्रतिमन गुड़ दिया जाता है। फसल कटाई के बदले प्रतिमन १ सेर गेहूँ देने का नियम है। लोहार और बढ़ई का भी वेतन नियत किया गया है। ये भोजन के सहित ३ रु० प्रतिदिन या भोजन के बिना ४ रु० प्रतिदिन ठहराया गया है।

न्यूनतम वेतन कानून को लागू हुए अभी एक साल कठिनाई से हुआ है। इस अवस्था में इसके विषय में कुछ कहना अभी समय से पहले होगा। किन्तु एक बात कही जा सकती है कि न्यूनतम वेतन कानून के बनने से श्रमी वर्ग के जीवन-मान के गिरने का भय अब नहीं रहा। निस्संदेह देश की आर्थिक समृद्धि के साथ इनका भाग्य-सूत्र भी बंधा हुआ है। देश का आर्थिक विकास होने के साथ-साथ इनका जीवन-मान ऊँचा होगा। इस कानून का श्रमी-वर्ग के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है।

साधारणतः न्यूनतम वेतन कानून बनने से श्रमी-वर्ग को लाभ ही पहुँचा है, हानि नहीं पहुँची है। हाँ, बम्बई में मोटर ड्राइवरों को भारी नुकसान पहुँचा है। पश्चिमी बंगाल में चावल मिलों में काम करने वालों को भी हानि पहुँची है। यही बात मद्रास के पत्थर तोड़ने व कूटने वालों के विषय में कही जा सकती है। यदि इन अपवादों को छोड़ दें, तो कहा जा सकता है कि न्यूनतम वेतन

कानून बनाने से देश के श्रमी वर्ग को लाभ ही पहुँचा है, और उनके जीवन-माल के गिरने का भय नष्ट हो गया है। इसके साथ जीवन में उनको एक मात्रा में—यद्यपि यह अल्प है, परन्तु प्रारम्भ बुरा नहीं हुआ—जीवन में सुरक्षा और निश्चिन्तता प्राप्त हुई है। यह लाभ कम नहीं। अब उनको जीवन में एक आधार मिल गया है, जहाँ पर खड़े होकर वे और आगे बढ़ सकते हैं। श्रमी-वर्ग का जीवन इससे बदल जायगा। जीवन के प्रति दृष्टिकोण भी बदल जायगा। अब वे अपने जीवन को बनाने और अपनी अगली पीढ़ी के निर्माण में अधिक रस लेंगे। इससे श्रमी-वर्ग में अन्दर ही अन्दर एक क्रान्ति होगी, जिससे उनका ही नहीं बल्कि देश का भी मंगल होगा। इस क्रान्ति को लाने का श्रेय श्री जगजीवनराम को देना चाहिए और श्रमी-वर्ग उनकी इस सेवा को सदा कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार करेगा।

दो महत्वपूर्ण प्रश्न

वियोगी हरि

हरिजनों के मंदिर-प्रवेश तथा उनके जलकष्ट-निवारण इन दो आवश्यक विषयों पर इस लेख में मैं चर्चा करना चाहता हूँ। ये दोनों ही विषय ऐसे हैं, जिन पर अस्पृश्यता-निवारण तथा हरिजन-सेवा की दृष्टि से हम सब को तत्काल ध्यान देना चाहिए। मंदिर-प्रवेश तो विशुद्ध रूप से तथाकथित सवर्णों द्वारा प्रायश्चित और धर्म-शुद्धि का विषय है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि हरिजनों की ओर से मंदिर-प्रवेश की माँग रखी जाये, किन्तु जलकष्ट के निवारण की माँग हरिजनों की ओर से बराबर आ रही है। दोनों ही विषय अपनी-अपनी दृष्टि से अस्पृश्यता-निवारण की प्रवृत्ति में अत्यन्त महत्त्व के स्थान रखते हैं।

हरिजनों के निर्बाध मंदिर-प्रवेश को गाँधी जी ने अस्पृश्यता-निवारण की सच्ची और अंतिम कसौटी माना था। त्रावणकोर के इड़वा जाति के दलित-लोगों ने १६१६ में ही मंदिर-प्रवेश की माँग रखी थी, मगर इस प्रश्न को तब तक हाथ में नहीं लिया जा सका, जब तक कि गाँधी जी ने इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया। उन्होंने सवर्ण हिन्दुओं से ज़ोरदार शब्दों में कहा कि वे हरिजनों को देव-मंदिरों में सबके समान प्रवेश और पूजा करने की अनुमति स्वेच्छा से दे दें। हरिजन-सेवकों ने हरिजनों के मंदिर-प्रवेश के पक्ष में सारे देश में ज़ोर से प्रचार किया, किन्तु मंदिरों में प्रवेश दिलाने के मार्ग में अनेक कानूनी कठिनाइयाँ सामने आईं, जिन्हें दूर करने के लिए विभिन्न राज्य धारा-सभाओं में विधेयक पेश किये गये। त्रावणकोर राज्य के महाराजा ने १६३६ के १२ नवम्बर को एक चिरस्मरणीय-राज-घोषणा जारी करके अस्पृश्यता का अन्त कर दिया और राज्य के सब मंदिरों को हरिजनों के लिए खुलवा दिया। भारत के सामाजिक तथा धार्मिक इतिहास की यह एक बहुत बड़ी घटना थी। दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना थी मदुरा के विशाल और प्राचीन मीनाक्षी मंदिर में हरिजनों का प्रवेश। इसके बाद, मद्रास सरकार ने मंदिर-प्रवेश कानून पास किया, और फिर तो कई राज्यों ने इस प्रकार के कानून बनाये। मद्रास और बम्बई राज्य में तथा और भी कितने ही राज्यों में अनेक छोटे-बड़े मंदिरों में हरिजनों को प्रवेशाधिकार मिल गया।

स्वराज्य आने पर भारतीय संविधान में अस्पृश्यता और हरिजनों की सामाजिक एवं नागरिक निर्योग्यताओं का अन्त कर दिया गया। कानूनी दृष्टि से अथवा कानूनी घोषणा से उनकी सामाजिक बाधाएँ निस्संदेह दूर हो गई हैं, किन्तु वस्तुतः वे आज भी काफी भयंकर रूप में मौजूद हैं, यद्यपि कुछ तो काल का प्रवाह और कुछ सुधारकों के प्रयत्न उन्हें हटाने में कुछ-कुछ सफल होते दीख रहे हैं।

लेकिन मंदिर-प्रवेश की प्रवृत्ति को सवर्ण लोकमत जैसे भूलता-सा जा रहा है, यह दुःख की

बात है प्राय: कहा जाता है और बहुत हद तक सही भी है कि मंदिरों में जाने और पूजा करने की ओर से हरिजन स्वयं उदासीन हैं, उनके सामने प्रश्न भूमि और रोटी का है, मंदिरों में जाने का नहीं। पर सवर्ण कहे जाने वाले समाज को इस दलील से प्रभावित होने का कोई कारण नहीं दीखता। सभी या एक बड़ा भाग सवर्णों का भी कब मंदिरों में नियम से जाता है ? मगर जाना चाहें, तो बिना किसी रोक-टोक के वे मंदिरों में देव-दर्शनार्थ जा सकते हैं। यही बात हरिजनों पर लागू नहीं होती। वे जाना भी चाहें, तो भी उनके लिए मंदिरों के द्वार बन्द हैं। असल में कहना तो यह चाहिए कि जिन लोगों ने धर्म के ग़लत नाम पर मंदिरों के द्वार बन्द कर रखे हैं, वे अपने हृदय के द्वार बन्द रखना चाहते हैं, जिसका यह अर्थ हुआ कि वे अपनी अहन्ता के आगे ईश्वर की प्रभुता और सर्वव्यापकता को भी तुच्छ समझते हैं, बल्कि ईश्वर के अस्तित्व में भी व्यवहारतः उनका विश्वास नहीं है। मंदिरों में हरिजनों के प्रवेश करने या न करने का प्रश्न असल में नहीं है। प्रश्न तो उन्हें प्रवेशाधिकार देने व दिलाने का है, अपने हृदय-द्वार खोल देने का है।

आज गाँधी जी हमारे बीच में नहीं हैं, वे हमें छोड़ कर चले गए। वे हमारे बीच में रहते भी तो आख़िर कब तक ? बरसों उन्होंने हमें एक प्रकाश-मार्ग दिखाया। हम उस मार्ग पर काफ़ी दूर तक चले भी। पर उनके जाते ही हमारी गति जैसे रुक गयी, बल्कि कभी-कभी पीछे की ओर मुड़ने का भी हमारा मन होने लगा। स्वराज्य हमारा साध्य था और गाँधी जी के बताये हुए सारे कार्य उस साध्य के साधन थे। साध्य पा लिया और साधनों को भुला दिया, बल्कि उठाकर उन्हें फेंक दिया। साथ ही, हम यह भी भूल गये या अधिक सही तो यह है कि गांधी जी की कल्पना के स्वराज्य का सच्चा अर्थ हम पहले भी नहीं समझते थे। गाँधी जी का स्वराज्य मात्र भौतिक स्वराज्य नहीं था, वह तो समस्त आन्तरिक बुराइयों और दुर्बलताओं से मुक्ति पाने का एक बहुत ऊँचा ध्येय था। अस्पृश्यता-निवारण को उन्होंने ऊँच-नीच की भेद-भावना का आत्यन्तिक अभाव माना था। हम एक क्षण के लिए अन्तर्निरीक्षण करें, ज़रा गहरे उतर कर देखें कि उस स्वराज्य का, उस धर्म-राज्य का हमने अब तक किनारा भी छुआ है या नहीं। उस शुद्ध नैतिक स्वराज्य के आगे सचमुच इस भौतिक स्वराज्य का नगण्य सा मूल्य है। उस स्वराज्य में एक भी प्रजा-जन का हृदय-द्वार बन्द रह नहीं सकता, मंदिरों के प्रवेश-निषेध का तो तब कोई प्रश्न ही नहीं रहने का।

कहा जा सकता है कि यह हृदय-द्वार खुलने का तो बहुत लम्बा रास्ता है, शायद स्वप्न-मार्ग है। पर गाँधी जी ने तो इसी स्वप्न-मार्ग पर चलने और दूसरों को चलाने की खातिर जीवन भर एक के बाद दूसरे प्रयोग किये और उन्हें बहुत दूर तक सफलताएँ भी मिलीं। गाँधी जी को और ठक्कर बापा को हरिजन-सेवकों से बड़ी बड़ी आशाएँ थीं। वे मानते थे कि हरिजन-सेवक भौतिक प्रलोभनों से बचकर अस्पृश्यता-निवारण का कार्य सत्य और अहिंसा की दृष्टि से साधते रहेंगे। बहुत अंशों तक उन्होंने ऐसा किया भी; और आज भी कई जन-सेवक धर्म दृष्टि से ही प्रवृत्ति को अपने सीमित साधनों के बल पर, जहाँ-तहाँ चला रहे हैं।

मगर कुल मिला कर हर बात में हमारी दृष्टि सत्ता और कानून की ओर, दुर्भाग्य से, आज खिंची जा रही है। प्रायश्चित्त और हृदय-परिवर्त्तन की धर्म-प्रवृत्ति को बेचारी सत्ता क्या बल दे

सकती है। उसका कर्त्तव्य तो यही हो सकता है और होना चाहिए कि वह हरिजनों को उनके तमाम उचित अधिकार, जिनसे कि वे वंचित थे और बहुत हद तक अब भी हैं, दिलाये, उनके आर्थिक और सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाए। किन्तु तथाकथित सवर्णों को अपनी हृदय-शुद्धि का कार्य तो निश्छल प्रायश्चित के द्वारा ही होना है। उससे सत्ता का क्या वास्ता ? हरिजन-सेवक शुद्ध सेवा और प्रेम की भावना से सवर्ण-समाज को प्रेरित करें कि वह उन सभी स्थानों का निर्बाध रूप से हरिजनों को उपयोग करने दे, जो दूसरों के लिए बिना किसी रुकावट या भेद-भाव के खुले हुए हैं। देव-मंदिरों के द्वार तो शुद्ध धर्म-बुद्धि से, प्रायश्चित की पवित्र भावना से हरिजनों के लिए बग़ैर कानूनी सहायता के खुल जाने चाहिएँ।

कई प्रान्तों में मंदिर प्रवेश की दिशा में न्यूनाधिक रूप में काम हुआ है। जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम्, द्वारिका इन महाधामों के मंदिर खुल गए हैं, किन्तु यह देखकर दुःख होता है और लज्जा भी आती है कि काशी, अयोध्या, मथुरा इन बड़े-बड़े तीर्थ-स्थानों के प्रसिद्ध मंदिर आज भी हरिजनों के लिए वैसे ही बन्द हैं। जो दक्षिण भारत कट्टरता के लिए कल तक कुख्यात था, वह तो सुधार की दिशा में ख़ासा आगे बढ़ गया, पर उत्तर भारत के ये बड़े-बड़े तीर्थ-स्थान अपने प्रसिद्ध देव-मंदिरों के द्वार आज भी बन्द किये हुए हैं। आदिगुरु शंकराचार्य को जिस काशीपुरी में अभेद-ज्ञान की दीक्षा शिवरूपधारी एक चाण्डाल द्वारा मिली थी, वहाँ भी भगवान विश्वनाथ के मंदिर में हरिजनों को न जाने देना अद्वैतवाद की विडम्बना नहीं तो क्या है ? इसी प्रकार समदर्शन का उपदेश करने वाले भी कृष्ण की लीलाभूमि अपने मंदिरों के द्वार बन्द रखे यह गीता की अवगणना नहीं तो और क्या है ? उत्तर भारत, ख़ास कर उत्तर प्रदेश के जन-सेवकों, लोक-नेताओं और जनसाधारण को हिन्दू धर्म पर लगे इस कलंक को अविलम्ब दूर कर देना चाहिए। अस्पृश्यता-निवारण प्रवृत्ति के प्रमुख अंग मंदिर-प्रवेश की उपेक्षा हिन्दू-समाज के अपने हित में आगे चलकर अहितकर सिद्ध हो सकती है, इसमें सन्देह नहीं।

हम शुरू में कह चुके हैं कि मंदिर-प्रवेश का प्रश्न तो तथाकथित सवर्णों के अपने पाप का प्रायश्चित करने और हिन्दू धर्म पर से एक भारी कलंक मिटा देने का प्रश्न है। वह हरिजनों की ओर से रखी जाने वाली कोई आवश्यक माँग नहीं है। उनके जिस जन्मसिद्ध अधिकार को धर्म के नाम पर सवर्ण हिन्दू छीन या दबा बैठे हैं, उसे स्वयं ही, बिना उनके माँगे, हरिजनों को दे दिया जाय, यही मंदिर-प्रवेशाधिकार का अभिप्राय है। किन्तु जिस जटिल प्रश्न पर हम आज सवर्ण-समाज का ध्यान खींचना चाहते हैं वह ऐसा है, जो अनेक स्थानों पर हरिजनों को भारी असुविधा और असह्य कष्ट दे रहा है। वह प्रश्न है उनके जलकष्ट का।

देश के लगभग सभी भागों में ऐसे बहुत सारे नगर, कस्बे और गाँव देखने में आते हैं, जहाँ हरिजनों को नहाने-धोने की तो बात क्या, पीने के लिए भी पानी बड़ी कठिनाई और अपमान के साथ नसीब होता है। देहातों में तो यह जलकष्ट जहाँ-तहाँ देखने में आता ही है, बहुत से कस्बे और शहर भी इसके अपवाद नहीं हैं। उनको, उनकी स्त्रियों को घण्टों, जहाँ उनकी बस्तियों में

उनके अपने कुँए नहीं होते, सार्वजनिक कुओं के नीचे घड़े लिए खड़ा रहना पड़ता है। या तो पैसे लेकर उनके घड़ों में दूर से पानी डाल दिया जाता है या कोई दयालु आदमी उन घड़ों में पानी डाल देता है। कहीं-कहीं पर गाँवों के बाहर जब तक किसी पोखरे में बरसात का पानी भरा रहता है, उससे वे पानी भरकर लाते हैं या फिर किसी नदी-नाले से। राजस्थान के किसी किसी भाग में तो कुँए की खेल (हौज़) से भी प्रायः उन्हें पानी लेना पड़ा है—जिस खेल में जानवर पानी पीते हैं और स्त्रियाँ गन्दे कपड़े धोती हैं। जब उनकी बस्ती के प्रायः कच्चे और अधटूटे कुओं का पानी गरमी में सूख जाता है, तब तो उनका कष्ट और भी अधिक बढ़ जाता है। एक मनुष्य अपनी ही तरह भूख-प्यास को महसूस करने वाले दूसरे मनुष्य के साथ कहाँ तक उपेक्षा और क्रूरता का व्यवहार कर सकता है, इसके प्रत्यक्ष प्रमाण अनेक हरिजन-बस्तियों में हमें आज देखने को मिलते हैं।

प्रश्न तो यह है कि इस भारी कष्ट का निवारण हो तो कैसे? उपाय दो हैं—(१) सभी सार्वजनिक कुँओं और अन्य जलाशयों पर से हरिजनों को सबके समान पानी भरने दिया जाये, (२) उनकी बस्तियों के पास यदि कुँए न हों, तो खुदवा दिये जायें, और जहाँ-जहाँ पुराने और अधटूटे कुँए हों उनकी मरम्मत करादी जाये।

पहले हम दूसरे उपाय को ले लें। स्पष्ट है कि पहले उपाय पर अमल न किये जाने अथवा अमल न हो सकने पर ही—कुछ अपवाद के साथ—दूसरे उपाय पर गम्भीरतापूर्वक विचार और अमल करना होगा, यद्यपि पहले उपाय की विफलता हमारे समाज के लिए और हमारे ही बनाये देश के संविधान के लिए भी बड़ी लज्जा की बात होगी।

यह बात नहीं है कि देश के सभी भागों के सारे ही सार्वजनिक कुँओ पर हरिजन नहीं चढ़ सकते। कुछ स्थानों के कुँए कुछ तो सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के प्रयत्न से और कुछ कानून के दबाव से कहीं-कहीं पर खुल गये हैं, पर यह समुद्र में बूँद के समान है। प्रश्न यह है कि उस अनुकूल समय की प्रतीक्षा आखिर कब तक की जाये कि जब सार्वजनिक कुएँ और जलाशय सबके समान हरिजनों के लिए भी खुल जायेंगे। यह कहना बहुत आसान है और कानों को अच्छा भी लगता है कि अब नए कुएँ खुदवाने चाहिएँ, ऐसा किया गया तो अस्पृश्यता सौ बरस में भी जाने की नहीं। ठीक है, पर जलकष्ट पीड़ितों का कहना है, कि उन्हें भी स्वच्छ पानी सबके समान सुलभ होना चाहिए अर्थात् उन्हें कुँए चाहिए—सर्वसाधारण के न हो तो अलग कुँए—फिर भले वे अस्पृश्य ही बने रहें। सवर्णों की आँखें धर्मबुद्धि से या कानून के भय से जब तक न खुलें, तब तक जलकष्ट से पीड़ित जन-समूह अब और अधिक प्रतीक्षा आखिर कब तक करेगा?

दुर्भाग्य से, हरिजनों की बस्तियाँ भी अक्सर शहरों और गाँवों के बाहर होती हैं। हमारे धर्मशास्त्र ने तो उन्हें सवर्ण-बस्ती से अलग गाँव के बाहर बसाने की व्यवस्था लिख ही दी थी म्युनिसिपल-शासन ने भी अपने भंगी कर्मचारियों को बाहर बसाना ही उचित माना है। यदि शहर या गाँव का कोई सामान्य कुआँ खोल भी दिया गया, तो उतने दूर से पानी भरने के लिए जायेंगे नहीं। तब पहले उस भूल को सुधारना होगा, जो उन्हें बस्ती से दूर, गाँव के बाहर, बसाकर की

गई, अर्थात् सबके साथ किसी-न किसी तरह जगह निकाल कर उनको फिर से बसाना होगा। पर इस भूल का सुधारना आज सम्भव नहीं, तो महाकठिन तो है ही। ऐसी हालत में, हरिजन-बस्तियों के पास अच्छे पक्के कुँए बनवाने ही होंगे। अच्छा यह होगा कि उनकी बस्तियों के कुओं पर कुछ सवर्ण भी, खासकर सुधारक, पानी भरना शुरू कर दें। पर इसका यह अर्थ नहीं कि यदि वे कुँए अच्छे मीठे पानी के हों, तो धीरे-धीरे सवर्ण लोग उन पर भी अपना अधिकार जमालें। ऐसा कहीं-कहीं पर हुआ भी है। अकोला (विदर्भ) से कोई ३-४ मील दूर उपराली नाम की एक नई बस्ती के हरिजनों के लिए एक कुँआ हाल ही में बनवाया गया था, जिसमें हरिजन-सेवक संघ का भी रुपया लगा है। उस कुँए पर बाद में धीरे-धीरे सवर्णों ने एकाधिकार कर लिया है। हरिजनों को उस पर उन्हीं के लिए बने कुँए पर, नहीं चढ़ने दिया जाता। सुधारक लोग जाग्रत रहेंगे, तो ऐसे दुःखद बनाव नहीं बनने पायेंगे।

मोटे तौर पर हम मान लेते हैं कि भारत के ५ लाख गाँवों की हरिजन-बस्तियों में १० लाख कुँओं की ज़रूरत होगी। एक-एक गाँव में औसतन दो-दो बस्तियाँ हमने मानी हैं, ऐसी बस्तियाँ जो एक दूसरे से दूर होंगी अच्छे बुरे ५ लाख कुँए पहले से ही उन बस्तियों में होंगे, यह मानकर हम चलें, तो ५ लाख कुँओं की ज़रूरत तो होगी ही—उनमें भी ढाई लाख कुँओं की तो तत्काल अनिवार्य आवश्यकता है। यदि औसतन एक कुँए पर ८०० रुपये का खर्च हम बाँध लें, बिहार, मद्रास, उड़ीसा जैसे राज्यों में ५०० रुपये प्रति कुँआ खर्च आयेगा, किन्तु राजस्थान, मध्यभारत आदि राज्यों में १५०० रुपये से भी ऊँचा खर्च जा सकता है, तो ढाई लाख कुँओं पर क़रीब २० करोड़ रुपये खर्च होंगे। प्रश्न यह है कि इतना रुपया कहाँ से आयेगा? रुपये के अलावा कहीं-कहीं पर ज़मीन का भी सवाल सामने आ सकता है, जिसपर कि कुँए खुदवाये जायेंगे। आज तो कुछ राज्यों में शामिलात ज़मीन पर भी हरिजनों का हक़ नहीं माना जा रहा है।

पंचवर्षीय योजना में इस सम्बन्ध का जो आयोजन हुआ है, वह ग्राम के सामूहिक हित को दृष्टि में रखकर किया गया है। अब तक सामूहिक हित में किये जाने वाले जो-जो काम हुए हैं, उन से प्राप्त लाभ से हरिजन प्रायः वंचित ही रहे हैं। सिद्धान्ततः पृथकता का किसी भी रूप में न चाहते हुए भी सामाजिक असमानता और अनेक-विध निर्योग्यताओं से पीड़ित जातियों और वर्गों के हित को देखते हुए, उन्हें पृथक् सुविधाएँ दिलाना आज आवश्यक हो गया है। यह कोई नहीं चाहेगा कि हरिजनों के लिए कुँए खुदवाये ही जायें, पर आपद्धर्म समझकर बाध्यतः ऐसा करना होगा। यदि राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं और समाज-सेवकों ने सार्वजनिक कुँए व जलाशय खुलवा देने का उद्योग पूरी शक्ति लगाकर किया, साथ ही, राज्य-सरकारों की ओर से शासनतन्त्र तथा संविधान की प्रतिष्ठा क़ायम रखने के लिए पूरा प्रयत्न हुआ, तो आवश्यक कुँओं की जिस आनुमानिक संख्या का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उसमें काफी कमी हो सकती है। फिर भी बस्तियों की तात्कालिक आवश्यकता को देखते हुए कुँए हमें खासी संख्या में बनवाने होंगे, और इस काम को सरकार ही पूरा कर सकती है। चाहे तो साधारणतन्त्र द्वारा इस काम को वह कराये, या पंचवर्षीय योजना के द्वारा हरिजन-बस्तियों की आवश्यकता का खासतौर पर ध्यान रखते हुए।

हरिजन-सेवक-संघ ने अपने पानी-फण्ड से देश के विभिन्न भागों में कितने ही कुँए खुदवाये हैं और पुराने कुँओं की मरम्मत भी कराई है। वह फण्ड यद्यपि आज समाप्त हो चुका है, फिर भी हरिजन सेवक-संघ कुछ-न-कुछ मदद कुँओं के लिए समय-समय पर देता रहता है। यह सही है कि राज्य सरकारों को कुँए खुदवाने की सारी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेनी चाहिए, पर इससे सवर्ण-समाज अपनी ज़िम्मेदारी से अपने आप को मुक्त न समझ बैठे। कूप-निर्माण सनातन काल से एक महान धर्म-कार्य माना गया है। आचार्य विनोबा आज भूमिदान-यज्ञ की जो देशव्यापी धर्म-प्रवृत्ति चला रहे हैं उसके साथ-साथ कूप-दान का भी अनुष्ठान चलना चाहिए। कूप-निर्माण का सनातन काल से चला आया क्रम रुक नहीं जाना चाहिए।

अब हम पहले उपाय पर आयें। पूछने पर जन-साधारण और कहीं-कहीं पर तो सार्वजनिक कार्यकर्त्ता भी बिना सोचे-विचारे कह देते हैं कि हरिजनों के लिए कुँए खुले हुए हैं। यह भी अक्सर बतलाया जाता है कि सार्वजनिक कुँए तो पहले से ही खुले हुये हैं, सिर्फ खानगी कुँओं पर वे नहीं चढ़ सकते। पर असल में, उनका ऐसा कहना बहुत सही नहीं होता। जिनको सार्वजनिक कुँए कहा जाता है, वे गाँवों में प्रायः खेतों पर के कुँए होते हैं, जिनसे हरिजन भी पानी ले सकते हैं। खेतिहर मज़दूर, अधिकतर हरिजन होते हैं, उन कुँओं से पानी लेकर पी सकते हैं, पीते भी हैं, और जिन कुँओं को खानगी कहा जाता है वे अधिकांश में खानगी नहीं होते। खानगी तो उसी कुँए को कहा जा सकता है, जो किसी के अपने घर के अन्दर हो। जिस कुँए को किसी व्यक्ति ने अथवा उसके बाप-दादा ने बनवाया हो और जिस पर मोहल्ले के दूसरे लोग पानी भरते हों, वह कुँआ खानगी नहीं कहा जा सकता, भले ही उसका नाम 'पण्डित शिवशंकर वाला कुँआ' हो या 'लाला बुद्धामल वाला कुँआ' हो। हिन्दू धर्म के अनुसार तो कोई भी कुँआ निजी कुँआ तो होता ही नहीं। निर्माण हो जाने पर खुदवाने वाला सर्वजनहिताय उसका उत्सर्ग-संकल्प कर देता है। ऐसे सब कुँओं पर स्वच्छता के सामान्य नियमों का पालन करते हुए सर्वसाधारण को, बिना किसी भेद-भाव के पानी भरने का समानाधिकार स्वतः प्राप्त है। यह दुःख और लज्जा की बात है कि बाध्य होकर कुँए खुलवाने के सम्बन्ध में कानून की शरण आज लेनी पड़ रही है। कानून का उपयोग स्वयं कोई अच्छी चीज़ नहीं है। इस उपचार से रोग का समूल नाश नहीं होता। कानून का उपयोग या शासकीय बल-प्रयोग बाद को एक आपसी कटुता छोड़ जाता है, इसलिए जहाँ तक बन पड़े, कानून का कम-से-कम प्रयोग किया जाये। असल काम तो विशेषतया हरिजन-सेवकों और साधारणतया सभी कार्यकर्त्ताओं के करने का है। जिन सवर्ण-मोहल्लों में हरिजन-बस्तियों से बहुत दूर सार्वजनिक कुँए हों, उन्हें हरिजनों के लिये खुलवाने का कार्यक्रम वे तत्काल हाथ में ले लें। मोहल्ले के लोगों को हर तरह से समझायें, संविधान द्वारा दिये गये समान नागरिक अधिकारों को बतायें, और हरिजनों में भी जाकर अहिंसक क्रांति करें जिससे कि वे अपने मानवोचित प्राप्त अधिकारों को समझ सकें और उनका उपयोग करने के लिए तैयार होना सीख लें। सार्वजनिक कुँए खुलवाने के साथ-साथ जिन प्याऊओं पर हरिजनों के लिये अलग नालियाँ या टोंटियाँ वे लगी हुई देखें, उन्हें भी हटवा दें। हरिजन भी जिन प्याऊओं पर उनके लिये अलग नालियाँ लगी हों उनसे कदापि पानी न पीएँ। अपमान के साथ अमृत भी मिलता हो, तो उसे वे विष समझें।

अस्पृश्यता और गांधी जी

विष्णु प्रभाकर

भारतीय-स्वाधीनता का इतिहास लिखने वाले निस्सन्देह गांधीजी को अवतारी पुरुषों में गिनेंगे। यह इसलिये नहीं कि उन्होंने गुलामी के बन्धन काटे बल्कि इसलिये कि उन्होंने सिसकती हुई मानवता के प्राणों में अमृत उडेला, गान्धीजी सचमुच स्वाधीनता संग्राम के सेनापति बनने को आगे नहीं आये थे। यह उनका कभी लक्ष्य नहीं रहा। उनका लक्ष्य तो आरम्भ से ही मानवता की प्राण प्रतिष्ठा करना था। उनके विविध कार्यों के पीछे इसी व्रत की शक्ति है। अस्पृश्यता का प्रश्न इसका स्पष्ट प्रमाण है। इस प्रश्न को लेकर उन्होंने प्राणों की बाजी लगाई और भारत की स्वाधीनता को भी कुछ देर के लिये अपने मस्तिष्क से निकाल दिया। वस्तुतः यह एक गलत बयानी है। उन्होंने अस्पृश्यता निवारण को स्वाधीनता-संग्राम का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग माना था। लेकिन एक राजनैतिक अस्त्र के रूप में नहीं बल्कि विशुद्ध धार्मिक रूप में; मानवता की एक शर्त के रूप में। उन्होंने २६ मई १९३३ के हरिजन सेवक में लिखा था—'अस्पृश्यता के साथ संग्राम एक धार्मिक संग्राम है। यह संग्राम मानव-सम्मान की रक्षा के लिये है। यह संग्राम हिन्दू धर्म में बहुत ही बलवान सुधार के निमित्त है। यह संग्राम सनातनियों के खांचेदार गढ़ों के विरुद्ध है।' पृ० १२७ गान्धी वाणी।

वे मानते थे—'अस्पृश्यता-निवारण का वास्तव में बड़ा भारी राजनैतिक परिणाम होगा परन्तु यह आन्दोलन राजनैतिक नहीं है। यह आन्दोलन केवल हिन्दूधर्म को शुद्ध करने के लिये है।' (यरवदा सेण्ट्रल जेल ६.११.१९३२) इसी बात का बहुत वर्ष बाद १९४५ में उन्होंने विस्तार समझाते हुये अपनी पुस्तक 'रचनात्मक कार्यक्रम' में इस प्रकार लिखा—'मुझे अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि ज्यादातर कांग्रेसियों ने अस्पृश्यता-निवारण को जहाँ तक हिन्दुओं का सम्बन्ध है खुद हिन्दू धर्म की हस्ती के लिए लाज़मी मानने के बदले उसे एक राजनीतिक आवश्यकता की चीज़ माना है। अगर हिन्दू कांग्रेसी यह समझकर इस काम को उठा लें कि उसी में उनकी सार्थकता है, तो 'सनातनी' कहे जाने वाले उनके धर्म बन्धुओं पर जितना असर आज तक हुआ है, उससे कई गुना ज्यादा असर डाल कर वे उनका हृदय परिवर्तन कर सकेंगे।'

अस्पृश्यता अथवा अछूतपन का आरम्भ कब और कैसे हुआ इसके बारे में अनेक मत हैं लेकिन इस बारे में कि वह हिन्दूधर्म का कलंक है विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद नहीं है। होता तो सहस्रों वर्षों से महात्माओं की एक लम्बी सूची इसका विरोध करती न दिखाई देती। यहाँ तक कि त्रेतायुग में जिस राम ने, सुना है कि, शम्बूक ऋषि का वध इसलिये किया था कि वे जन्म से शूद्र थे उसी राम ने जन्म के शू निषाद को गले लगाया था और भीलनी के झूठे बेर खाये थे, लेकिन

इतिहास से परे की इन प्रतीकात्मक कथाओं को छोड़ दें तो भी हम तथागत बुद्ध से लेकर महात्मा गान्धी तक अनेक तेजस्वी सुधारकों को इस प्रथा का तीव्रता से विरोध करते हुये पाते हैं। और यह हमारा सौभाग्य है कि इस राक्षसी प्रथा पर अन्तिम प्रहार करने का भार हमारे युग के महात्मा पर ही पड़ा।

उन्हें इस बात का विचार कैसे आया यह उन्हीं के शब्दों में सुनिये 'मेरे ये विचार आजकल के नहीं हैं। दक्षिण अफ्रीका में विकट परिस्थिति में पड़ जाने के बाद उत्पन्न हुए हों, सो बात भी नहीं। ये विचार मेरी नास्तिकता में से पैदा हुए हैं, यह कहना भी ठीक नहीं। कुछ लोग यह ख्याल करते हैं कि ईसाईयों के सम्पर्क में रहने एवं उनकी धर्म पुस्तकों में से मुझमें ये विचार पैदा हुये हैं। यह उनका भ्रम है। हमारे कुटुम्ब में रामायण पढ़ी जाती थी। लाधा महाराज नाम के एक ब्राह्मण पढ़ते थे। लाधा महाराज को रक्त-पित्त की बिमारी हो गई थी। उनके मन में यह श्रद्धा थी कि रामायण के पाठ से उनकी यह बीमारी जाती रहेगी और वास्तव में उनका वह रोग जाता भी रहा था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि जिस रामायण में राम को निषाद ने गंगा के पार उतार दिया था, उस रामायण में अन्त्यज पापी है, यह नहीं माना जाना चाहिए, इसीलिये मैं आरम्भ से ही यह कहता आया हूँ कि यह बड़े से बड़ा पाप है। इतना सब ज्ञान मुझे बारहवें वर्ष में हो गया, यह मैं नहीं कहता; किन्तु उस समय मुझे यह दोष तो मालूम हुआ ही।.. हमारे कुटुम्ब में मैला साफ करने के लिये ऊका नाम का एक अन्त्यज आता था। कई बार ऊका को मैं छू भी लेता। माता मुझे स्नान करने की आज्ञा देतीं, इसलिये मैं स्नान तो कर लेता; किन्तु साथ ही विनोद भी करता कि ऊका को न छूने में कोई धर्म नहीं, धर्म हो नहीं सकता। मैं माता से कहता कि इस विषय में तुम्हें बोध नहीं होता। ऊका को छूने में कोई बाधा नहीं है।'

यह उद्धरण बहुत लम्बा है और इस बात का प्रमाण है कि गान्धी जी सत्य की भांति बचपन में ही अस्पृश्यता-निवारण के महत्त्व को समझ गये थे। न समझ पाते तो इस विश्वास को कैसे जी पाते और कैसे उसके लिये प्राण देने को तैयार हो जाते। उनका विश्वास था कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का अंग नहीं है। बहुत पहले २ मई, १९१५ को मायावरम् में उन्होंने कहा था.. 'सच्चे हिन्दू-धर्म का यह कोई अंग नहीं है कि जिन लोगों को हम 'अस्पृश्य कहें उन्हें भी यह अपने अन्तर्गत ही रखें। यदि मेरे सामने कोई यह बात प्रमाणित करदे कि यह हिन्दू-धर्म का एक आवश्यक अंग है तो मैं खुले आम कह दूँगा कि मैं स्वयं हिन्दू धर्म का द्रोही और विरोधी हूँ।' २१ अप्रेल १९२१ को उन्होंने फिर दोहराया मैंने गीता आदि धर्मशास्त्रों का प्रारम्भ से ही बड़े परिश्रम और छान-बीन के साथ अभ्यास किया है। मुझे किसी भी शास्त्र में ऐसा प्रमाण नहीं मिला कि अन्त्यजों के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार किया जाय। जो व्यवहार वर्त्तमान समय में अन्त्यजों के साथ किया जा रहा है उसकी पुष्टि किसी शास्त्र द्वारा नहीं होती है।' 'इस रूढ़ि के समर्थन में मनुस्मृति आदि धर्म ग्रन्थों के श्लोक उद्धृत करने से कोई लाभ नहीं। इन ग्रंथों में कितने ही प्रक्षिप्त श्लोक हैं।' मैंने हिन्दु धर्मियों को सारे हिन्दुस्तान में घूम कर बताया है कि 'याद रखो आप लोगों में बड़ी दुष्टता है,

आपने अस्पृश्यता को धर्म का हिस्सा मान लिया है।' (३० सितम्बर १९४७) यरवदा जेल में ८ मार्च १९३३ को अस्पृश्यता प्राचीन है अथवा अर्वाचीन इस आशय के एक प्रश्न का उत्तर देते हुये भी उन्होंने इस बात पर जोर दिया था। उन्होंने कहा था 'वह अर्वाचीन है। मैं उसे प्राचीन नहीं मानता। अगर यह साबित हो जाय कि वह हिन्दू धर्म का अंग है, तो उस हिन्दू धर्म को छोड़ देने में मुझे एक क्षण भी देर नहीं लगेगी। अगर अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का अंग हो तो ऐसे सड़े हुए धर्म के लिये मैं प्राण देने को तैयार न होऊँ।' (पृ० १७८, डायरी महादेव, ३)

अस्पृश्यता को वे कितना बुरा समझते थे और उसके सम्बन्ध में कितनी तीव्रता से सोचते थे : 'जिस प्रथा की बदौलत हिन्दुओं का एक बड़ा भाग पशु से भी बदतर हालत को जा पहुँचा है उसके लिये मेरे रोम-रोम में घृणा व्याप्त हो रही है।' (९ जून १९३३) 'चाहे मैं टुकड़े-टुकड़े कर दिया जाऊँ पर दलित जातियों से आत्मीयता न छोड़ूंगा। किसी को अस्पृश्य गिन सकते हैं तो असत्य और पाखण्ड से भरे हुए लोगों को !' (२ जून १९३३) 'जिस प्रकार एक रत्ती संखिया से लोटा भर दूध बिगड़ जाता है उसी प्रकार अस्पृश्यता से हिन्दू धर्म चौपट हो रहा है।' (३. ११. २७.) 'अन्त्यजों के तो हमने पर काट डाले हैं, उनकी सद्भावनाओं को दबा दिया है। (नवजीवन २५ मई १९२४)' 'अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का महान पाप है; उस पर लगी हुई जंग है। अन्त्यजों का तिरस्कार करना मनुष्यता को खो देना है।' (पृ० २४९ 'हमारा कलंक') प्रसिद्ध पूना-समझौते के बाद उन्होंने कहा था, 'सामाजिक दृष्टि से हरिजनों की हैसियत वही है जो कोढ़ियों की है। आर्थिक दृष्टि से उनकी स्थिति गुलामों से बदतर है। धर्माचरण के सम्बन्ध में यह हाल है कि उनका उन स्थानों में प्रवेश तक निषिद्ध है जो व्य ˚ ही भगवान के स्थान कहे जाते हैं। वे इस तरह कुचल दिये गये हैं कि कुचलने वालों के साथ लड़ने के लिये उठ नहीं सकते।' 'हम इस करुण काण्ड के बहुत ही नज़दीक होने के कारण यह नहीं देख सकते कि अस्पृश्यता का यह ज़हरीला कीड़ा अपनी मुकर्रर की हुई मर्यादा को पार करके कितना आगे बढ़ गया है और सारे राष्ट्र वृक्ष की जड़ को किस तरह चूस रहा है।' (५.११.३२)

इसी प्रश्न को लेकर जब ब्रिटिश सरकार ने अछूतों को राजनीतिक चाल चल कर सवर्ण हिन्दुओं से अलग करने की कुचेष्टा की तब तो उनका रक्त खौल उठा, 'ब्रिटिश सरकार को मैं नम्रतापूर्वक जता देता हूँ कि अन्त्यजों के लिये अगर वह अलग निर्वाचन मंडल बनाने का निर्णय देगी तो मुझे आमरण उपवास करना पड़ेगा।' (सर सेम्युअल को—१३.३.३२ को लिखा पत्र) २१ सितम्बर १९३२ को अपने अन्तिम बयान में उन्होंने फिर कहा, 'हिन्दू धर्म में ऐसी कोई सूक्ष्म और अवर्णनीय बात है जो उनकी (अन्त्यजों) इच्छा न होने पर भी उन्हें हिन्दू धर्म से जुड़ा हुआ रखती है। मेरे जैसे आदमी के लिए तो, जिसे इस चीज़ का प्रत्यक्ष अनुभव है यह अनिवार्य हो जाता है कि अपनी जान कुर्बान करके भी दोनों को अलग करने की योजना का विरोध किया जाय।'

गान्धी जी इस प्रश्न पर एक दूसरे पहलू से भी सोचते थे। वस्तुतः उनके सोचने का वही एक मात्र सत्य पहलू था। सत्य और अहिंसा साध्य और साधन के रूप में उनके जीवन में व्याप्त थे।

अस्पृश्यता स्वयं एक असत्य है। असत्य का समर्थन कभी सत्य से नहीं हुआ, जैसे कि सत्य का समर्थन असत्य से नहीं हो सकता। अगर होता है तो वह स्वयं असत्य हो जाता है।' (पृ० सं० २३-६-३६) 'अस्पृश्यता को बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती। वह सत्य का, अहिंसा का, विरोधी धर्म है, इसलिये धर्म ही नहीं। हम उच्च और दूसरे नीच हैं यह विचार ही नीच है।' (पृ० ३६ 'हमारा कलंक') और इसी विचार का यह परिणाम था कि उन्होंने न केवल इसे रचनात्मक कार्य-क्रम का एक अंग माना बल्कि सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अपरिग्रह, अस्तेय और अभय आदि व्रत के समान एक व्रत माना और लिखा 'हम अस्पृश्यता निवारण को व्रत का स्थान देकर यह मानते हैं कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का अंग नहीं है। यही नहीं, वह हिन्दू धर्म में घुसी हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है।' ('यरवदा झाँकी' ६. ६. १६३०)

हरिजनों के मन्दिर प्रवेश के सम्बन्ध में उनके प्रयत्न सर्व-विदित हैं। इस प्रश्न को लेकर काफी विवाद उठा था। इस पर गांधी जी ने स्पष्ट कहा था, 'मैं हरिजनों के थोड़े से संस्कारी मनुष्यों का विचार नहीं करता, बल्कि संस्कार विहीन मूक समुदाय का विचार करता हूँ। चाहे जो भी हो, हिन्दू मन्दिरों का आम लोगों के जीवन में बड़े महत्त्व का हाथ है। और मैं ठहरा सारी जिन्दगी अधिक से अधिक अज्ञान और दलित लोगों के साथ एकता साधने का प्रयत्न करने वाला आदमी; इसलिये जब तक हिन्दू समाज के बहिष्कृतों के लिये तमाम मन्दिर नहीं खुल जाते तब तक मुझे सन्तोष नहीं होगा।'

यह मानव मनोविज्ञान की बात है, वरना वे तो मानते थे कि, 'अस्पृश्यता निवारण का अर्थ इतना ही नहीं है कि हरिजनों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति में सुधार हो जाय। अस्पृश्यता अनादि काल से चली आ रही ईश्वरनिर्मित व्यवस्था है। ऐसा मानने वाले असंख्य हिन्दुओं के हृदयों को हिलाना है। यह तो स्पष्ट ही है कि इस ध्येय को हम प्राप्त कर लें, तो हरिजनों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति अपने आप सुधर जायगी।' (६-७-३३) अल्पसंख्यक समिति की अंतिम बैठक में भी उन्होंने कहा था, 'और मैं भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक दौरा करके अछूतों से कहूँगा कि अस्पृश्यता, जो कि उनका नहीं प्रत्युत कट्टर एवं रूढ़िवादी हिन्दुओं का कलंक है, दूर करने का उपाय पृथक् निर्वाचक मण्डल अथवा व्यवस्थापिका सभाओं में विशेष रक्षित स्थान नहीं है।'

इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि वे अस्पृश्यता के प्रश्न को अछूतों का नहीं सवर्ण हिन्दुओं का प्रश्न समझते थे, 'अस्पृश्यता के विरुद्ध यह लड़ाई शुद्ध धार्मिक लड़ाई है। हिन्दू धर्म में बहुत बड़ा सुधार करने का यह आन्दोलन है।' 'हिन्दू धर्म को आगे बढ़ाना है तो उसमें घृणा और अस्पृश्यता कैसे रह सकती है। अस्पृश्य तो वे हैं जो पापात्मा होते हैं। एक सारी जाति को अस्पृश्य बनाना एक बड़ा कलंक है। अस्पृश्यता की जड़ हरेक हिन्दू के दिल से निकल जानी चाहिये।' (२६ अक्तूबर १६४७) 'असंख्य हरिजनों की शोचनीय अवस्था के लिये सारा दोष उच्च हिन्दुओं का है।' इसलिये जब भारत स्वतंत्र हो गया और उन्हें अजमेर की गन्दी बस्तियों का पता लगा तो अपनी मृत्यु से तीन दिन पूर्व २७ जनवरी १६४८ को उन्होंने कहा था, 'वहाँ सफेद

पोशाक पहनने वाले बहुत हिन्दू हैं, वे क्यों नहीं वहाँ एक दिन के लिये भी हरिजनों की बस्ती में आकर रहें ! वे अगर जाएँ तो कै कर लेंगे और कोई तो शायद उनमें से मर भी जाए। ऐसी जगह इन्सानों को रखना (क्योंकि उनका यह गुनाह है कि वे हरिजन पैदा हुए हैं) बहुत बुरी बात है... हमने आजादी तो पाई लेकिन उस आजादी की कोई कीमत नहीं जब तक हम इस तरह का काम भी नहीं बन्द कर सकते—हमारी तो आज अक्ल चली गई है। हमारा हृदय नहीं रहा है और ईश्वर को हम भूल गए हैं। इसीलिये तो गुनाह के काम हम करते जाते हैं। और पीछे हम दूसरों का ऐब निकालें, दूसरों को दोष दें और खुद निर्दोष बनें, यह बड़ी खतरनाक बात है।'

गांधी जी की इस सारी मान्यता का क्या परिणाम हुआ। इसको तभी ठीक ठीक समझा जा सकेगा जब हम राम द्वारा शम्बूक-वध की कथा से लेकर डा० अम्बेदकर द्वारा स्वतंत्र भारत का स्वतन्त्र विधान निर्मित करने के इतिहास का निष्पक्ष दृष्टि से विवेचन करेंगे। उसी संविधान के अनुच्छेद १७ में लिखा है 'अस्पृश्यता का अंत किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आच, रण निषिद्ध किया जाता है। 'अस्पृश्यता' से उपजी किसी निर्योग्यता का लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।' कलम की नोंक से युग-युग से चली आई एक अमानुषिक प्रथा को इस प्रकार रद्द कर देने की मिसाल सृष्टि के इतिहास में नहीं है, इस प्रगति की राह की क्या कोई माई का लाल थाह ले सकेगा।

'कलंक' का यह दुर्भेद्य दुर्ग शांत-क्रान्ति के उस पूज्य पिता की अनवरत चोटों से आज भर-भराकर गिर पड़ा है। बेशक मलवा अभी तक नहीं उठ पाया है। कुछ दीवार भी पूरी नहीं गिरी हैं पर वह प्रश्न अब समय का है। मानवता का वह त्राता जिस मार्ग का निर्देष कर गया है, उससे हटने की बात अब उठती ही नहीं।

अन्त में अछूत और अस्पृश्य 'हरिजन' कैसे बन गये इस पर एक दृष्टि और डाल लें। 'कुछ अस्पृश्य' मित्रों ने जिन्हें 'अस्पृश्य' कहलाना अच्छा लगता था, यह शब्द समझाया। और यह शब्द सुझाने का कारण यह अर्थ था कि गुजरात के एक भक्त कवि ने अपने एक भजन में अछूतों के सम्बन्ध में यह शब्द इस्तेमाल किया है। मैंने तो यह शब्द फौरन पकड़ लिया, क्योंकि दूसरी तरह भी इसका अस्पृश्यों के साथ बहुत मेल बैठता था।' यह तो १९३१ की बात है लेकिन १७ जुलाई १९४७ की प्रार्थना सभा में उन्होंने गुजराती कवि के अतिरिक्त 'सूरदास' की चर्चा भी की है, 'हरिजन शब्द मैंने सूरदास से ही लिया है, वैसे तो गुजराती कवि ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है।'

कहीं से लिया हो यह शब्द उनके जीवन में ओत प्रोत था। स्वराज्य से बढ़कर वे इसका मूल्य आंकते थे इसीलिए वे कभी भी, किसी भी क्षण, अपने प्रिय 'हरिजनों', को नहीं भूले। उनके लिये दरिद्रनारायण की झोली सदा फैली रही। इसीलिये भारत को स्वाधीन करानेवाले 'राष्ट्रपिता' से कहीं बढ़कर हरिजनों के त्राता बापू गांधी का नाम इतिहास में अमर रहेगा क्योंकि वही एकमात्र मानवता की रीढ़ हैं।

आदिवासियों की समस्या उनके एक महान मित्र की दृष्टि में

आज के सभ्य संसार का यह दावा है कि मनुष्य आज जितना सभ्य है उतना वह कभी नहीं था। मनुष्य एक है, विश्व एक परिवार है, सबका सुख-दुख उसका सुख-दुख है। लेकिन दूसरी ओर संसार के प्रत्येक भाग में ऐसे असंख्य मनुष्य बसते हैं जिनको 'जंगली' या 'वनवासी' कहा जाता है और जिनके बारे में सभ्य संसार को कुछ पता नहीं या यदि कुछ पता भी है तो हमने इन्हें सदा उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। अब भी देख रहे हैं। अकेले भारत में ऐसे लोगों की संख्या ढाई करोड़ है। इनके रहते सभ्य संसार का दावा कितना पावेदार है यह आसानी से समझा जा सकता है।

ये वनवासी लोग किनके वंशज हैं, इनका इतिहास क्या है, यह प्रश्न विवादास्पद होते हुए भी काफी सुलझ गया है और अब कुछ साहसियों का ध्यान इनकी ओर गया है। उनमें कई प्रकार के लोग हैं। कुछ विशुद्ध वैज्ञानिक हैं। कुछ रसवादी लोग हैं। इनमें डा० वैरियन एल्विन जैसे प्रसिद्ध पुरुष हैं। डा० एल्विन गोंडों में इतने हिल-मिल गये थे कि एक गोंड युवती से विवाह कर लिया था पर इधर उससे सम्बन्ध-विच्छेद करने तथा कुछ अन्य कार्यों से बहुत लोग इनसे अप्रसन्न हैं। इनके अतिरिक्त एक श्रेणी उन लोगों की है जो विशुद्ध मानवता के नाम पर इन उपेक्षित, मानवों में जागृति का शंख फूँकते रहते हैं। आज के भारत में पुण्यश्लोक स्व० अमृतलाल ठक्कर का नाम, जो ठक्कर बापा के प्यारे नाम से प्रसिद्ध थे, इस श्रेणी में सबसे ऊपर है। हरिजनों के सर्वोच्च मित्र महात्मा गांधी ने उनके लिए कहा था 'उन्होंने तो हरिजनों और आदिवासियों की सेवा करने के लिए जन्म लिया है वे हरिजनों के लिए सब कुछ करते हैं।' 'हरिजनों के कुलपुरोहित ठक्कर बापा से सचमुच मुझे स्पर्धा और ईर्ष्या होती है।'

ठक्कर बापा ने हरिजनों के लिए बहुत कुछ किया। वे हरिजन सेवक संघ के प्रधानमन्त्री थे। उनकी सेवाओं का मूल्यांकन कठिन है। परन्तु साथ ही इसमें भी सन्देह नहीं कि आदिवासियों के लिए उन्होंने जो कुछ किया उसकी थाह पाना तो असम्भव ही है। वैसे स्वयं गांधीजी ने इस समस्या की ओर ध्यान दिया था, 'इतिहासकार हमें बताते हैं कि आर्य जाति के आक्रमणकारियों ने हिन्दुस्तान के मूल निवासियों से अगर ज्यादा बुरा नहीं तो कम से कम बिल्कुल वैसा ही सलूक किया जैसा कि हमारे अंग्रेज आक्रमणकारी आज हमारे साथ कर रहे हैं। अगर यह बात सचमुच ऐसी ही है तो हमने जो एक अछूत-जातिही दुनिया में बना डाली है उसका यह ठीक प्रतिफल अपनी भंयकर गुलामी के रूप में हमें मिला है।' यही नहीं इस प्रश्न को उन्होंने अपने प्रसिद्ध रचनात्मक कार्यक्रम में शामिल किया, 'आदिवासियों की सेवा भी रचनात्मक कार्यक्रम का एक अंग है।....हमारा देश इतना विशाल है और उसमें बसने वाली जातियाँ इतनी ज्यादा और विविध हैं कि अपने देश के सभी निवासियों के और उनकी दशा के बारे में हममें से अच्छे से अच्छे लोग भी जितना जान लेना जरूरी है, सो सब जान नहीं पाते। हमारे राष्ट्र में रहने वाली हरएक इकाई को इस बात का सजग भान न हो कि बाकी के दूसरे सब घटकों या इकाइयों के सुख-दुख उसके अपने सुख-दुख हैं और इन सब

एक हैं तो अपने देश की विशालता और विविधता की यह बात ज्यों-ज्यों हमारी समझ में आती जाती है, त्यों-त्यों अपनी एक राष्ट्रीयता के दावे को साबित करने का काम कितना कठिन है, इसका ख्याल हमें हो जाता है।'

गांधीजी ने इस समस्या को देखने का प्रयत्न तो किया पर वे दूसरे प्रश्नों में इतने उलझे रहे कि इस पर विस्तार से विचार नहीं कर सके। बापा ने सन् १६१६ में पंचमहल जिले में अकाल पड़ने पर भारत सेवक समाज की ओर से भीलों में काम किया था। तब 'दोपहर की कड़ी धूप में नग्न दरिद्रता की छाया की तरह बढ़ता हुआ उन्होंने कुछ देखा। वह क्या था? वह एक वृद्धा का नर-कंकाल, अन्न के अभाव में जिसका पेट और पीठ चिपक कर एक हो गये थे, जल के अभाव में जो कान्तिहीन और रूखा दिखाई देता था तथा वस्त्र के अभाव में सर्वथा नग्न था.... ठक्कर बापा ने जब यह करुण दृश्य देखा तो उनकी आँखों में अंधेरा छा गया। उन्होंने हाथ से आँखें बन्द कर ली और पीठ फेर कर वृद्धा की तरफ तन ढाँकने के लिए कपड़े फेंके।' बापा को पंचमहल में भील सेवा की दीक्षा देने वाला यह पहला प्रसंग था। तब से लेकर १६-१-१६५१ तक जिस दिन वे पार्थिव रूप से मुक्त हुए वे आदिवासियों की सेवा में लगे रहे। उन्होंने न तो अधिक लेख लिखे और न भाषण दिए। वे तो जीवित कर्म द्वारा बोलते और लिखते थे। इसलिए उनके विचार पुस्तकों में इतने नहीं मिलते जितने कर्म में और आदिवासियों की जागृति में। अपने ८१ वें (अन्तिम) जन्म दिवस के अवसर पर मृत्यु से लगभग डेढ़ मास पूर्व २६ नवम्बर १६५० को उन्होंने जो सन्देश आदिवासियों के लिए भेजा था उसमें एक तरह से उनके अपने विचार आ जाते हैं, 'पहली बात तो यह है कि ऐसा समय आगया है कि सब आदिवासी भाई जो अब तक सोते थे, जागृत हो जावें और बनवासी सेवा मंडल, जो उनकी सेवा करता है उसकी सेवा का पूरा लाभ उठावें। बच्चे और बड़े सभी स्कूल में शिक्षा लें और साथ ही साथ अपने हाथ से उद्योग करना भी सीखें। दूसरी बात यह है कि १६५२ के अन्त में देशभर में नागपुर की और दिल्ली की सभा के लिए चुनाव होगा उसमें अपनी तरफ से गोंड प्रतिनिधि किसको भेजें उसका निश्चय कर लें और उसी को अपना मत प्रदान करें। तीसरी बात यह है कि सारे भारत के लिए जो नया संविधान बना है उसमें आदिवासी भाईयों के लिए १० वर्ष की अवधि दी गई है। इस अवधि में वह हमारी बराबरी के बन जावें और कन्धे से कन्धा मिलाकर सारे राष्ट्र का काम करें ऊँच नीच को बिल्कुल मिटा दें। इतना काम आप करेंगे तो मैं सन्तुष्ट हो जाऊँगा।' २५ अक्तूबर १६४८ को डा० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में 'भारतीय आदिम-जाति सेवक संघ' की जो स्थापना हुई उस समय भी उन्होंने जो विचार प्रकट किये वे उनकी इच्छा पर प्रकाश डालते हैं, 'मैं सन् १६४० से एक केन्द्रीय संस्था का निर्माण करने का विचार कर रहा था ताकि बिखरे हुए कार्य का एकीकरण हो सके। परन्तु उसके लिए अनुकूल समय नहीं मिला था। स्वतंत्रता के लिए ब्रिटिश गवर्नमेंट के साथ चलता हुआ राष्ट्रीय आन्दोलन इसमें विशेष बाधाजनक रहा। अब विदेशी राज्य से देश मुक्त हो गया है और वह अपने शासन के लिए नया विधान बना रहा है। अतः मैंने सोचा है कि इस मुख्य सामाजिक कार्य के लिए यही उपयुक्त समय है।'

ठक्कर बापा आदिवासियों में रह कर उनको अच्छी तरह पहचान गये थे। उनका विचार था, 'यदि मैं कहूँ कि आदिवासी भारत के सब लोगों से जिनमें हरिजन भी आ जाते हैं, गरीब हैं

तो यह अत्युक्ति न होगी।'' उन्होंने उनकी समस्याओं का ही नहीं उनका भी खूब अध्ययन किया था। उनके उद्‌गम के बारे में उन्होंने लिखा था, 'स्पष्टतः वे उन शेष आर्येतर लोगों में से हैं जिन्हें आर्यों के निरन्तर आक्रमणों ने वनों और पर्वतों में खदेड़ दिया था। जब तक हमारे आर्य पुरखाओं ने बेदखल नहीं किया वे ही भूमि के स्वामी थे।' सम्भवतः जब उन्होंने भीलों के बारे में लिखा, 'भीलों का अतीत कितना गौरवतम रहा है। जिस जाति ने महाराणा प्रताप का कठिन-से-कठिन समय में साथ नहीं छोड़ा और जो मेवाड़ राज्य की प्रधान सहायक रही है वही जाति आज दीन-भाव से हमारी ओर अपने सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और शैक्षणिक विकास के लिए देख रही है। क्या हम अपनी सहायता का हाथ उनकी ओर नहीं बढ़ाएँगे?' तब उनके सामने उनका वही उज्ज्वल अतीत रहा था।

शिक्षा के बारे में उन्होंने लिखा था, 'भीलों का अज्ञान गहन है। २७५ व्यक्तियों के ३ साक्षर हैं।' आर्यों द्वारा विशेषकर उच्चेतर आर्यों द्वारा सदियों से निर्दयतापूर्वक उनका शोषण होता रहा है। उनको दबाये रखने के लिए और उनके साथ मनुष्यों की तरह नहीं बल्कि हैवानों की तरह या अधिक-से-अधिक पालक पशुओं की तरह व्यवहार करने में राज्य और वणिक-वर्ग सदा मिले रहे हैं।'

एक और वनजाति 'पनियन' की शिक्षा के बारे में एक स्थान पर उन्होंने बड़ी मज़ेदार बात लिखी है,' यह पाठशाला भारत-सेवक समिति के तत्वावधान में स्थापित हुई थी और साल भर की मेहनत के बाद स्थानीय कार्यकर्त्ताओं के उद्योग से उसमें पनियन कबीले के तीन लड़के और दो लड़कियाँ भरती हो सके थे। यह कोई बुरी शुरूआत न थी।' अशिक्षा पर इससे भयंकर टिप्पणी नहीं हो सकती।

ऊपर हमने आदिवासियों में काम करने वाले के विभिन्न दृष्टिकोणों का जिक्र किया है। बापा ने इस बारे में दो विचारधाराओं की चर्चा की है। उनमें एक तो वे थे जिन्हें हिन्दुओं से अलग रखना चाहते थे। उनको डर था कि हिन्दुओं से उनका सम्बन्ध होने पर हिन्दुओं के दुर्गुण उनमें आ जायेंगे। पर बापा स्वयं इस विचारधारा के कट्टर विरोधी थे। उनका मत था कि इन्हें क्रमशः शेष भारत के साथ समन्वित किया जाय। वे एकाएक परिवर्तन के विरोधी थे पर अन्तिम रूप से देश की उन्नत और शिक्षित जनता से उनका निकट सम्बन्ध देखना चाहते थे। डा० एल्विन से वे इस बात में अलग थे। एल्विन वनजातियों को वनजाति रख कर उसमें रस लेते हैं। बापा उन्हें देश की जनता के पास लाना चाहते थे। एल्विन पृथकता के समर्थक हैं, बापा समन्वय के पोषक थे। दुःख उन्हें एक बात का था कि आदिवासियों में ईसाई आदिवासियों को छोड़कर नेता नहीं थे जो उन्हें सही मार्ग दिखा सके। इसीलिए दूसरे लोगों का ध्यान भी उधर नहीं जाता, 'मेरा विश्वास है कि इस महाद्वीप के प्रान्तों में बसने वाले आदिवासियों की जो महान समस्या है; उनकी बहुसंख्या की, उनके अज्ञान की, उनकी निर्धनता की, उनके शराब पीने की, उनके सर्वसाधारण से दूर भागने और पर्वतों तथा वनों में बसने की; उनके बारे में बहुत कम लोगों को विस्तृत-ज्ञान है।' उन्होंने लिखा था ''अपनी जनता के सम्बन्ध में हमारा अज्ञान लज्जाजनक है। हम यह तक नहीं जानते कि कौन-सी

जाति और कौन-सा कबीला देश के किस हिस्से में रहता है और उसकी क्या विशेषताएँ हैं। उनके प्रति हमने अब तक जो लापरवाही दिखाई है उसका हमें मुआवजा चुकाना है।'

उपेक्षित मानवता के उस सेवा के ये उद्‌गार कितने सच्चे हैं, यह बताने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु यह संकेत निस्सन्देह किया जा सकता है कि उनके तथा उन जैसे अनेक सेवकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप यह समस्या अब देश की राष्ट्रीय सरकार के सामने है और उसने इसको उचित रूप से सुलझाने का बीड़ा उठा लिया है। वनजातियों का भविष्य उज्ज्वल है।

भारतीय साहित्य का प्रकाशन

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

हमारे देश के सम्मुख एक ऐसी समस्या भी है, जो किसी और देश के सम्मुख न कभी थी और न आज भी है। यह समस्या है, हमारे देश में १४ भाषाओं की विद्यमानता। संसार के किसी और देश में ६ से अधिक भाषाएँ नहीं हैं। अतः इस समस्या को हल करने में किसी और देश की नकल भी हम नहीं कर सकते। यह हमारी निजी समस्या है और हमें ही इसे हल करना है।

१. भारत में १४ भाषाओं की विद्यमानता भी हमारे मार्ग में किसी तरह की कोई अड़चन उत्पन्न न करेगी, यदि हम इन सब भाषाओं में तथा इन भाषाओं के साहित्यकारों और पाठकों में गहरा सान्निध्य पैदा कर सकें। यदि हम ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकें कि तामिल साहित्य में होने वाली सम्पूर्ण गतिविधि और प्रगति से हिन्दी के पाठक पूरी तरह परिचित हो सकें तथा गुजराती साहित्य की हलचल का सीधा प्रभाव कन्नड़ और बंगाली पर पड़ सके, तो भारत में १४ भाषाओं की विद्यमानता से उत्पन्न होने वाला वाणीभेद इस देश में मानसिक भेद का कारण नहीं बनने पाएगा। अतः यह आवश्यक है कि एक ऐसी मशीनरी का निर्माण किया जाय, जो एक भारतीय भाषा में लिखे गये श्रेष्ठ साहित्य को एक वर्ष के भीतर ही १४ भारतीय भाषाओं में प्रकाशित कर सके। अर्थात् भारत की किसी भी भाषा में लिखा गया श्रेष्ठ साहित्य एक ही वर्ष के भीतर भारत की सभी भाषाओं में प्रकाशित हो जाय।

ऐसी मशीनरी के निर्माण की आवश्यकता, मेरी राय से, राष्ट्र-निर्माण की आधारभूत बातों में से है। यह बात जुदा है कि इस तरह की मशीनरी का निर्माण सरकार करे, भारतीय जनता करे, देश के कुछ गिने-चुने व्यक्ति करें अथवा अर्द्ध-सरकारी ढंग पर इसका निर्माण किया जाय।

२. उन्नीसवीं सदी में संसार भर के अधिकांश साहित्यकार बहुत दरिद्रता का जीवन बिताने को बाध्य थे। तथापि आज संसार के उन्नत देशों के साहित्यकार अपनी रचनाओं के बल पर सम्मान और सम्पन्नता का जीवन बिता रहे हैं। परन्तु हमारे देश में आज भी साहित्यकार प्रायः आर्थिक चिंताओं के बोझ से दबा रहता है। भारतीय भाषाओं में इने-गिने साहित्यकार ही, केवल अपनी रचनाओं के बल पर, जीवन निर्वाह कर पाते हैं। साहित्यकार को रायल्टी से अधिक आय इसलिए नहीं होती कि साहित्य की बिक्री कम है। पत्र-पत्रिकाओं में अपने लेख देकर वह अपना जीवन निर्वाह इस कारण नहीं कर पाता कि वहाँ से बहुत कम पारिश्रमिक प्राप्त होता है। परिणाम यह होता है कि देश के अधिकांश प्रतिभाशाली युवक लाचार होकर साहित्य सृजन न कर, कोई अन्य पेशा स्वीकार कर लेते हैं।

कुछ समय से इस तरह के प्रयत्न भी हो रहे हैं कि साहित्यकारों को सरकार आर्थिक सहायता दे। श्रीमती महादेवी वर्मा के प्रयत्न से प्रयाग में इसी उद्देश्य से एक साहित्य-संसद की स्थापना भी की गई। कुछ राज्यों की सरकारों ने गिने-चुने साहित्यकारों को मासिक सहायता दी और बीसों को छोटे-बड़े पुरस्कार दिए। भारतीय पार्लियामेंट तथा कुछ राज्यों की असेम्बलियों में भी इस प्रश्न पर विचार हुआ है।

परन्तु मेरी राय से साहित्यकारों को आर्थिक सहायता देना उन्हें आंशिक रूप में पंगु बना देने अथवा अप्रकट रूप से उनके विचारों को प्रभावित करने का कारण बन सकता है। यह प्रथा स्पष्टतः आत्म-सम्मान, और उससे भी बढ़कर प्रतिभा को, कुंठित करने वाली है।

लेखकों की आर्थिक समस्या का वास्तविक हल इसी बात में है कि उनके द्वारा लिखे गये साहित्य का न सिर्फ शीघ्र और सुंदर प्रकाशन हो, बल्कि उसकी बिक्री भी अधिकाधिक हो। अच्छे नए साहित्य की अगर अधिक खपत होगी, तो स्वभावतः लेखक को भी अधिक रायल्टी मिल सकेगी और इस तरह उसकी आर्थिक समस्या हल हो जायगी।

यह स्पष्ट है कि यदि उक्त मशीनरी नये भारतीय साहित्य का प्रकाशन एक ही वर्ष में सभी भारतीय भाषाओं में कराने की व्यवस्था कर सके, तो स्वभावतः लेखकों की आय कई गुना बढ़ जायगी। आज बंगाली के एक नए उपन्यास की यदि वर्ष भर में २००० कापियाँ बिकती हैं तो उसके १३ अनुवादों की, कम से कम १२००० कापियाँ एक वर्ष में अवश्य बिक सकेंगी। कल्पना कीजिये कि उक्त उपन्यास की एक प्रति का मूल्य ३ रु० है और मौलिक बंगाली संस्करण पर लेखक को १५ प्रतिशत रायल्टी मिलती है। इस तरह प्रथम वर्ष में २००० कापियों की बिक्री पर लेखक को ६०० रु० रायल्टी मिली। अब १३ भाषाओं में उक्त उपन्यास की कम से कम १२००० प्रतियाँ और बिकेंगी। उपन्यास के अनुवादकों को ५ प्रतिशत रायल्टी दी जानी चाहिए, इससे मूल लेखक को, अनुवादों पर, १० प्रतिशत रायल्टी दी जा सकेगी। इस तरह अब उसे वर्ष भर में निम्न-राशि मिलेगी :

	प्रति	रायल्टी	रुपया
मूल उपन्यास	२०००	१५ प्रतिशत	६,००
१३ भाषाओं में अनुवाद	१२०००	१० प्रतिशत	३,६००
		योग	४५००

दूसरे शब्दों में इस उदाहरण में एक उपन्यास लिखकर लेखक को ७५) रु० मासिक आय हो गई थी और उसी उपन्यास के १३ अनुवाद भी प्रकाशित हो जाने के कारण उसकी मासिक आय एक ही उपन्यास से ३७५) रु० होगई। इस तरह उसकी आर्थिक समस्या बहुत दूर तक हल हो गई।

३. इस पद्धति से एक लाभ और भी होगा। यह पूरी तरह सम्भव है कि एक भाषा का लेखक अपनी भाषा में बहुत लोकप्रिय न हो पाए, परन्तु जब उसकी रचनाएँ अनुवादित होकर दूसरी भारतीय भाषाओं में पहुँचे, तो उनमें से किसी में वह बहुत लोकप्रिय हो जाय। इस तरह नई प्रतिभाओं को चमकने का अवसर अब की अपेक्षा कहीं अधिक मिलने लगेगा। एक भाषा के पाठकों को अपने साहित्य में जो बात नई और आकस्मिक प्रतीत नहीं होती, वही दूसरी भाषा के पाठकों को चमत्कारपूर्ण और विशेष आकर्षक प्रतीत हो सकती है। साहित्य के क्षेत्र में यह बात बहुत बार हुई है और होती रहेगी। विज्ञान के इस युग में यदि हम महाकवि भवभूति के "कालोह्ययं निरवधिः विपुला च पृथ्वी' के अमर-तथ्य का लाभ नहीं उठायेंगे, तो यह हमारी कमज़ोरी होगी।

४. हमारे देश में भाषाओं की विविधता की समस्या का ही एक अन्य पहलु है, पारिभाषिक शब्दों की समस्या। मानव ज्ञान-विज्ञान के लिए आज ६ लाख से ऊपर पारिभाषिक (टैकनिकल) शब्दों की आवश्यकता होती है। अभी तक अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों से हमारा काम चल जाता था। अब हमें अपने नए पारिभाषिक शब्द चाहिए। अंग्रेजी के जो शब्द हमारी भाषाओं में खप गए हैं, वे बहुत कम हैं। यह बात अब मान ली गई है कि अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों से हमारा काम नहीं चलेगा। इसलिए अब हमें ६ लाख से ऊपर वैज्ञानिक, आर्थिक, कानूनी, दार्शनिक तथा चिकित्सा-सम्बन्धी शब्द बनाने होंगे। यह अत्यन्त आवश्यक है कि सभी भारतीय भाषाओं में कौमन पारिभाषिक शब्द जारी किये जाएँ। भारत सरकार, राज्यों की सरकारों, सभी भारतीय युनिवर्सिटियों तथा अन्य सम्बद्ध संस्थाओं के सहयोग से, भारत सरकार की देख-रेख में यह महत्त्वपूर्ण कार्य होना चाहिए। इस कार्य को व्यावहारिक रूप देने का एक बहुत अच्छा उपाय यह रहेगा कि उक्त मशीनरी द्वारा प्रकाशित भारतीय साहित्य में इन्हीं कौमन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग सभी भारतीय भाषाओं में किया जाय।

५. भारतीय प्रकाशकों की अपनी समस्याएँ हैं। देश भर में प्रतिवर्ष कौन-कौन सी पुस्तक कहाँ से प्रकाशित हुई है, इसे जानने तक का भी कोई साधन उनके पास नहीं है। उस पर देश में साहित्यिक पुस्तकें बेचने वाले पुस्तक विक्रेताओं का लगभग अभाव है। जिला शहरों तक में केवल स्कूली पुस्तकें बेची जाती हैं। बड़े शहरों में अधिकांश पुस्तक विक्रेता स्वयं प्रकाशक हैं, और इस कारण वे पुस्तकों की बिक्री का व्यापार और ही ढंग पर करते हैं। एक शक्तिशाली प्रकाशक संस्था ही भारत भर में पुस्तक भंडारों का जाल बिछा सकेगी, और वही संस्था मासिक रूप से भारत भर के प्रकाशित साहित्य की सूची प्रसारित कर सकेगी।

६. मानव जातियाँ चाहें कितने ही हिस्सों में बँटी हुई हों, तथापि एक सचाई है कि विज्ञान, कला और साहित्य की दृष्टि से वह एक हो चुकी है। यह हमारी अपनी कमज़ोरी है कि हम अभी तक विश्व के श्रेष्ठ साहित्य को भारतीय भाषाओं का भाग नहीं बना पाए। भारतीय भाषाओं में विश्व के श्रेष्ठ साहित्य का प्रामाणिक और सरस अनुवाद हो जाने से भारतीय भाषाओं के लेखकों को बहुत बड़ी प्रेरणा प्राप्त होगी और यह कार्य भी उक्त संस्था द्वारा ही उचित रूप में हो सकेगा।

संसार-भर के अधिकांश देशों में साहित्य प्रकाशन का कार्य व्यक्तिगत क्षेत्र (प्राइवेट सैक्टर) का व्यवसाय गिना जाता है। साहित्य प्रकाशन के कार्य में कितने ही देश की सरकारों ने आवश्यक सुविधाएँ तथा सभी तरह की सहायता अवश्य दी है, परन्तु उस व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण का प्रयत्न कहीं भी नहीं कियागया। परन्तु हमारे देश में चौदह भाषाओं की विद्यमानता तथा देश की ८० प्रतिशत आबादी के निरक्षर होने के कारण केवल प्राईवेट अध्यवसाय से यह कार्य हो सकना संभव नहीं है। सरकारी सैंकशन (Sanction) तथा सरकारी सहायता-प्राप्त कोई अर्द्ध कर्मचारी अखिल भारतीय संस्था ही यह कार्य कर कर सकती है। जिस तरह रूस का 'फौरेन लैंग्वेजिज़ पब्लिशिंग हाउस' सरकारी सहायता के आधार पर विदेशों में रूसी साहित्य का बहुत ही प्रबल प्रचार कर रहा है, कुछ कुछ उसी ढंग पर, परन्तु उसकी अपेक्षा अधिक बढ़े और व्यावसायिक ढंग पर, हमारे देश में उक्त संस्था देश की आन्तरिक आवश्यकता के लिए सभी भारतीय भाषाओं में भारतीय साहित्य का प्रकाशन कर सकेगी। भारतीय साहित्य का अनुवाद विदेशी भाषाओं में करने का कार्य भी उसी संस्था का एक विभाग सफलतापूर्वक कर सकेगा।

इन बातों और इसी प्रश्न से सम्बद्ध अन्य भी कितनी ही बातों पर मैं कई वर्षों तक विचार करता रहा। बात यह हुई कि १९३२ में मैंने लाहौर से विश्वसाहित्य ग्रन्थ-माला का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। इस ग्रंथ माला में विश्व के श्रेष्ठ साहित्य का अनुवाद प्रकाशित करना मेरा ध्येय था। पहले ही सैट में मैंने संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों के अतिरिक्त मोपासाँ, तुर्गनैव, चैखव, हार्डी आदि के कहानी-संग्रह प्रकाशित किए। इन का मूल्य बहुत कम [३२ पाउण्ड के एण्टिक कागज़ पर छपे १६० पृष्ठ के सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य एक रुपया] रक्खा और छपाई-सफ़ाई भरसक अच्छी करने का प्रयत्न किया।

उत्तर भारत के अधिकांश प्रमुख पत्रों में जब इस सैट की बहुत प्रशंसापूर्ण आलोचनाएँ छप गईं, तो यह सैट लेकर मैंने लाहौर से कलकत्ता, और दिल्ली से बम्बई तक का चक्कर लगाया। यह १९३३ की बात है। नक़द मूल्य देकर हिन्दी पुस्तकों का अच्छा ऑर्डर देने वाली कोई भी संस्था मुझे भारत भर में नहीं मिली। अतः ४०० के लगभग सैट तो मैंने पुस्तक के परिवर्त्तन में दे दिए। लगभग ५०० सेट, जिनका मूल्य ८०००) के लगभग था, मैंने इस विश्वास पर जगह जगह बाँट दिए कि पुस्तक विक्रेता लोग बिक्री का रुपया मुझे भेजते जाएँगे और नए आर्डर देते रहेंगे। परन्तु सचाई यह है कि उस मद में ६०० रु० (अर्थात् लगभग साढ़े सात प्रतिशत) से अधिक मुझे वसूल नहीं हो पाया।

इस परीक्षण से मैं निराश तो नहीं हुआ, परन्तु इतना अवश्य हुआ कि मैं अधिक मात्रा में विश्व-साहित्य का प्रकाशन नहीं कर पाया। १२ वर्षों तक इस क्षेत्र में अनुभव प्राप्त कर मैं कतिपय परिणामों पर पहुँचा, जिनमें से कुछ का जिक्र मैंने ऊपर किया है।

सन् १९४५ में, दूसरे विश्वयुद्ध के कारण देश में काफ़ी पूँजी एकत्र हो गई थी। तब से मुझे ख्याल आया कि देश का कोई लब्ध-प्रतिष्ठित पूँजीपति बड़ी सफलतापूर्वक एक ऐसी प्रकाशन

संस्था का आरम्भ कर सकता है, जो सभी भारतीय भाषाओं में भारतीय साहित्य का प्रकाशन करे। तदनुसार मैंने एक योजना तैयार की और उस सम्बन्ध में श्री घनश्याम दास बिड़ला को पत्र लिखा। बिड़ला जी ने मेरे पत्र का जो जवाब दिया, उसका एक अंश यह था : 'मैं स्वयं सोचता था कि अब देश में इस तरह के बड़े प्रकाशन अध्यवसाय को प्रारम्भ करने का अच्छा अवसर है। परन्तु खेद है कि मैं पहले ही बहुत से कामों में फँसा में हुआ हूँ और फिलहाल किसी बड़े कार्य के लिए समय नहीं निकल सकता। मुझे आशा है, आप को कोई अन्य पार्टी इस कार्य के लिए अवश्य मिल जाएगी।'

उसी वर्ष सौभाग्य से महात्मा गाँधी ने मुझे अपनी एक कमेटी में ले लिया। सेवाग्राम में कमेटी की प्रथम मीटिंग के दिन ही जिस तरह अनायास मुझे बापू का स्नेह प्राप्त हो गया, वह मेरे जीवन की सबसे अधिक सुखद घटनाओं में है। सितम्बर सन १९४६ में, अंतरिम गवर्नमेंट की स्थापना के बाद, बापू दिल्ली में आए थे। पूर्वोक्त उद्देश्य से मैंने तब तक एक योजना बना ली थी और वर्ष भर उस सम्बन्ध में कुछ न कुछ करता रहा था। अब मेरे जी में यह आकांक्षा उत्पन्न हुई कि मैं इस योजना के लिए बापू का आशीर्वाद प्राप्त करूँ। मसूरी से एक पत्र लिखकर मैंने बापू से १५ मिनट का समय माँगा। लौटती डाक से मुझे सूचना मिली कि अमुक दिन, अमुक समय में भंगी कॉलोनी में पहुँचूँ। नियत समय पर मैं बापू से मिला। शुरू-शुरू में दो एक मज़ाक कर उन्होंने वातावरण को एकदम सरल और स्नेहपूर्ण बना लिया। मैंने दो बातें उनकी सेवा में निवेदन कीं। एक तो यह कि हमारे ग़रीब देश में प्रत्येक व्यक्ति दो या तीन लिपियाँ अवश्य सीखे, इसका आग्रह हमें नहीं करना चाहिए। अपने सीमित साधनों का उपयोग हमें देश भर को साक्षर बनाने के कर्म पर करना चाहिए। बापू मेरी इस बात से कि नागरी और उर्दू दोनों लिपियाँ सीखना आवश्यक न बना कर ऐच्छिक रक्खा जाय, सहमत नहीं हुए। तब मैंने अपनी भारतीय साहित्य प्रकाशन योजना की आधारभूत बातें उनकी सेवा में निवेदन की। मेरी इस बात को बापू ने पसन्द किया और मुझ से कहा कि मैं अपनी योजना लिखित रूप में उन्हें दूँ। बातचीत में समय की क़ैद उन्होंने बिल्कुल नहीं रक्खी।

तब मैंने अपनी योजना को पूरी तरह लिपिबद्ध किया। योजना में भारतीय भाषाओं के दो भाग मैंने किए थे, मुख्य और गौण। मुख्य भाषाओं में और गौण भाषाओं में छपने वाले ग्रंथों की संख्या भी मैंने पृथक् पृथक् रक्खी थी। १६ अक्तूबर १९४६ को मैंने अपनी योजना बापू की सेवा में भेजी। दो ही दिन बाद उनका यह पत्र मुझे मिला :

भाई चन्द्रगुप्त,

आपकी योजना मिली, मैं पढ़ गया। आपने परिश्रम बहुत उठाया है, पर भाषाओं के दो विभाग क्यों ? यह झगड़ों का मूल होगा और कोई अर्थ-सिद्ध भी उस में नहीं पाता हूँ। योजना

मैंने काका साहब और श्रीमन जी को भेजी है, वे ज़्यादा निरीक्षण करेंगे। बाद में विशेष।

आपका :

मो० क० गान्धी

उसके बाद देश में बड़ी बड़ी घटनाएँ बहुत तेज़ रफ्तार से गुज़रीं और बापू स्वभावतः उन में व्यस्त हो गए। जनवरी १९४७ में वह नोआखली चले गए और कुछ दिनों बाद अखबारों में छपा कि वह एकदम अकेले और पैदल नोआखली के ध्वस्त गाँवों का चक्कर लगा रहे हैं, इससे उन्हें कोई पत्र न लिखे। मैं तो यों भी निश्चय कर चुका था कि जब तक बापू को कुछ फुरसत नहीं मिलती, मैं उन्हें परेशान नहीं करूँगा।

९ फरवरी, १९४७ को जब मैंने अपना लेटर बाक्स खोला तो एक लिफाफे पर भारत भर में परिचित हस्तक्षेप में अपना लाहौर का पता देख कर जैसे मुझे अपनी आँखों पर विश्वास ही नहीं हुआ। अलोग्र नाम के बंगाल के किसी अज्ञात गाँव से बापू ने यह पत्र मेरे पास भेजा था। पत्र इस प्रकार था :

भाई चन्द्रगुप्त,

मुझे स्मरण नहीं कि मैंने आपकी योजना के बारे में कोई उत्तर दिया कि नहीं? काका साहब का अभिप्राय मेरे कागज़ों में देखता हूँ, सो आपको भेजता हूँ, उस से ज़्यादा आज तो कुछ भी करने में असमर्थ हूँ।

अलोग्र मो० क० गान्धी के आशीर्वाद

कागज़ के दूसरी तरफ, जैसे पत्र बन्द करते करते बापू ने लिखा था :

'काका साहब का अभिप्राय पढ़ने के बाद वापस कीजिएगा'

उसके बाद नवम्बर में पंजाब की शरणार्थी समस्या के सम्बन्ध में मैं बापू से मिला। परन्तु अपनी योजना का ज़िक्र भी, उस समय मैंने उनसे नहीं किया। दिसम्बर १९४७ तथा जनवरी १९४८ में दो तीन बार योजना के सिलसिले में मैं उनसे मिला। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब बापू ने मुझ से कहा कि तुम्हारी योजना मेरे कागज़ों में है और मैं बेकार कोई कागज़ अपने पास नहीं रखता। अपने महाप्रस्थान से सिर्फ तीन दिन पहले इसी योजना के सिलसिले में उन्होंने मुझे सरदार पटेल के पास भी भेजा था।

बापू के महाप्रस्थान के बाद मार्च १९४८ में अपनी इसी योजना के लिए मैं श्रद्धेय डॉ० राजेन्द्र प्रसाद से मिला। उन्होंने योजना में पूर्ण सहयोग देने का वचन दिया। परन्तु कुछ व्यक्तिगत कारणों से उसके बाद मैं योजना की पूर्ति के लिये कुछ भी कर नहीं सका।

हाल ही में डॉ० कैलाशनाथ काटजू ने एक अन्य रूप में उक्त योजना का आंशिक प्रारम्भ करने में अपनी दिलचस्पी प्रकट की है। वह चाहते हैं कि भारतीय साहित्य की चुनी हुई सर्वश्रेष्ठ लगभग १५० पुस्तकों का अनुवाद भारत की १४ भाषाओं में प्रकाशित हो। डॉ० काटजू की यह इच्छा यदि पूर्ण हो सके तो यह अवश्य पूर्वोक्त उद्देश्यों वाली किसी अखिल भारतीय साहित्य प्रकाशन संस्था का सूत्रपात कर सकेगी। दिल्ली में, विशेषतः भारत की पार्लियामेंट में, जितने साहित्य महारथी आज विद्यमान हैं, वह हिन्दी के लिए सौभाग्य की बात है। भविष्य में कभी इस दर्जे के इतने लोग भारतीय पार्लियामेंट में एकत्र होंगे, यह आसान प्रतीत नहीं होता। हमें देखना है कि इतने महारथी देश को साहित्यिक तथा भाषा सम्बन्धी समस्याओं का क्या हल कर पाते हैं।

हमारा ध्यानमंत्र

काका कालेलकर

बचपन से सुनता आया हूँ कि सत्य की ही विजय होती है। 'सत्यमेव जयते' यह वचन बचपन में हमने कंठ किया था। अब यही वचन हमारे स्वतंत्र भारत का विरुद वाक्य-ध्यानमंत्र हो गया है। इसलिये इसका कुछ मनन करना लाभदायक होगा।

यह अनुभव नहीं है कि सत्य की ही सदा विजय होती है। अगर ऐसा होता तो सत्य को कोई क्यों छोड़ता ? और सत्य से ही मनुष्य का फ़ायदा होता तो सत्यवादी की इतनी प्रतिष्ठा भी समाज में नहीं होती। सत्य के पालन से कई दफे नुक़सान ही होता है। ऐसे सब तरह के नुक़सान को बरदाश्त करके भी जो आदमी सत्य को नहीं छोड़ता है उसकी सत्य-निष्ठा की समाज क़द्र करने लगता है, और धीरे-धीरे उसका वचन प्रमाण माना जाता है। सत्य के पालन से होने वाला नुकसान तात्कालिक होता है, लेकिन सत्य के अखण्ड पालन से सत्यवादी, समाज के लिए परम आप्त (विश्वास-पात्र) बनता है यही सत्य की विजय है। सत्यवादिता के कारण ही पैग़म्बर मोहम्मद साहब को लोगों ने अल्-अमीन-विश्वास-पात्र का ख़िताब दिया था।

इसलिए 'सत्यमेव जयते' का लोग अर्थ करते हैं कि अन्त में सत्य की ही विजय होती है। लेकिन किसके अन्त में ? सृष्टि का अन्त तो है नहीं। मनुष्य का अन्त है। हरेक घटना का अन्त है। किसी मनुष्य को अपनी सत्यवादिता के कारण सारी ज़िन्दगी भर दुःख, अन्याय और पराजय भुगतना पड़े और उसका अन्त होने के बाद लोग उसकी क़द्र करें तो उससे उस आदमी का क्या लाभ हुआ ? सत्यवादिता—न्यायकारिता के कारण किसी राष्ट्र को विश्व के दरबार में हानि ही उठानी पड़े और हज़ारों बरस के बाद इतिहास संशोधक सिद्ध करे कि न्याय का पक्ष उसी राष्ट्र का था, तो उससे उस राष्ट्र का क्या लाभ हुआ ? सत्य की विजय समय पर हुई तो वह काम की है। तांगे में बैठकर मैं स्टेशन जाना चाहता हूँ। मुझे मेल की गाड़ी पकड़नी है। अगर तांगेवाला मुझसे कहे कि 'टाँगा खड़ा नहीं है, चल रहा है.किसी न किसी समय स्टेशन पर पहुँच ही जायगा।' तो क्या मुझे उससे संतोष होगा ? टाँगा अन्त में स्टेशन पहुँचे इससे मुझे सन्तोष नहीं होने का। मेरे समय पर अगर टाँगा स्टेशन नहीं पहुँचता है तो उसमें मैं क्यों बैठूँ ? यहाँ निष्काम कर्म थोड़े ही करना है ? टाँगे में बैठने से मतलब नहीं है। मेल ट्रेन के समय के पहले स्टेशन पर पहुँचने से मतलब है।

ऐसी वृत्ति के लोगों को विश्वास दिलाना कि अन्त में सत्य की ही विजय है, उनकी चिढ़ को बढ़ाना है। इससे बेहतर वह जैन वचन है जो सत्य की फलश्रुति ही बदल देता है :

'सच्चं ही सारभूयं लोकम्ती'

इस दुनिया में सार-रूप तो सत्य ही है बाक़ी सब निःसार है। चाह सत्य की ही होनी चाहिये, विजय की नहीं, दुनियावी लाभ की नहीं। दुनियावी लाभ हानि आज है कल नहीं है। उसके पीछे क्या पड़ना है? इस लाभ के लालच में क्यों पड़ें? हानि से क्यों डरें?

सत्य के पालन से हमारा तेज बढ़ता है, चारित्र्य उन्नत होता है। सत्य से धैर्य की सिद्धि होती है। जिसके पास सत्य है उसको धीरज कभी खुटती ही नहीं, और सत्य के कारण जो आंतरिक सन्तोष मिलता है उसकी बराबरी कर सके ऐसी कोई चीज़ दुनिया में है नहीं।

सत्य को छिपा कर, सत्य का द्रोह करके जो कुछ भी पाया जाता है वह तुच्छ है। जिस आत्मा के सन्तोष के लिये जीया जाता है वह सत्य-स्वरूप है। सत्य का द्रोह करते ही आत्मा अपमानित होती है। उसकी सारी शक्तियाँ क्षीण होती हैं, तेज़ का लोप होता है और समूचा जीवन नष्ट-भ्रष्ट होता है।

इस दृष्टि से सोचते 'सत्यमेव जयते' का हमें नया अर्थ मिलता है। हृदय-शक्ति का बाह्य सृष्टि से जितना ताल्लुक है उतनी सत्य की विजय बाह्य सृष्टि में भी है। जो व्यापारी या कारख़ानादार या राजनैतिक पुरुष सत्य का वफ़ादार रहता है उसको उसकी इस निष्ठा के कारण बाह्य लाभ भी मिलता है। लेकिन सच्चा लाभ उसके आन्तरिक सन्तोष का है। सत्य की विजय आन्तरिक (Subjective) होती है और वह अन्त में नहीं किन्तु हमेशा, अखण्ड होती रहती है।

जो व्यक्ति या राष्ट्र सत्य का पालन करता है उसे आत्म-सन्तोष, आत्म-प्रतिष्ठा और आत्म-तेज प्राप्त होते हैं। यही परम लाभ है।

सत्य की विजय आन्तरिक होती है यह भाव बताने के लिए ही उपनिषद के ऋषि ने जि जैसे परस्मैपदी धातु को आत्मनेपदी बनाया दीख पड़ता है। (संस्कृत व्याकरण में परस्मैपदी और आत्मनेपदी का ज़िक्र आता है। आत्मनेपदी अपने लिए होता है, परस्मैपदी दूसरे के लिये होता है। यह भेद अब बहुत नहीं पाया जाता है। लेकिन मूल में यही अर्थ है कि जिसका फल अपने ही लिए है वह आत्मनेपदी है। अंग्रेज़ी में जहाँ (Subjective) शब्द आता है वहाँ 'आत्मनेपदी' शब्द हम रख सकते हैं। और जहाँ (Objective) है वहाँ पारस्मैपदी चलेगा। आत्मने का अर्थ बताया है आत्मार्थफलबोधनाय।



साहित्य गोष्ठी में : (बैठे हुए बाईं ओर से) विपिन बिहारी वर्मा, रामधारीसिंह 'दिनकर', नारायण सदोबा काजरोलकर, वियोगी हरि, काका साहेब कालेलकर, जगजीवन राम, चन्द्रावती लखनपाल, मैथिलीशरण गुप्त, शचीरानी गुर्टू, (खड़े हुए बाईं ओर से) एच० एल० श्रीवास्तव, डॉ० रामसुभग सिंह, प्रभाकर माचवे, अमरनाथ विद्यालंकार, इन्द्रनारायण गुर्टू, मन्मथनाथ गुप्त, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सदाशिव प्रसाद, डॉ० नगेन्द्र, देवेन्द्र सत्यार्थी, नरेश्वरप्रसाद सिन्हा,



(दाहिनी ओर से) मैथिलीशरण गुप्त, जगजीवन राम, काका साहेब कालेलकर, वियोगी हरि, नारायण सदोबा काजरोलकर

श्रीराम

राम, तुम्हीं आधार हमारे।
ऋषि जावालि छोड़ कर जिनको
गुह-निषाद हैं प्यारे।
वही उबार सकेगा हमको
जिसने अधम उधारे,
शबरी, बानर-भालु बन्धु थे
अरि तक तुमने तारे।
राम, तुम्हीं आधार हमारे।

मैथिलीशरण गुप्त
नई दिल्ली १६-१२-२००६

उद्दाम नदी की धारा

उदयशंकर भट्ट

संस्कृति है संस्कार आत्मजीवन,
मन का,
परम्परा से प्राप्त··
ज्ञान के दृष्टिकोण से··
प्रतिशोणित में सुप्त··
ग्रस्त प्रत्याग्रह से हट··
अपरिग्रह में,
पुण्यकाम में,
जनाराम में,
जन जन के,
कल्याण धाम में,
छा जाता प्रत्यूष··
प्राण पीयूष,
छलछलाता है,
पल पल कल,
मन वाणी में··
भर देता,
अविराम··
मोतियों की नव आभा सा,
वह निष्कम्प प्रदीप...
अचंचल,
मन में तन में,
एक नया जीवन··
जनता में,
शिशु में,
नर में,
नारी में,
प्रत्यग्र पिपासित..
ज्ञानतोय है,
ऊर्जस्वी,
हृत्पात्र..
मात्र मानव में...
नव में,

... ...

संस्कृति है आचार हृदय की..
परम्परा से प्राप्त भावना,
वंश वंश के दृष्टिकोण से··
आभासित,
उल्लसित,
दुराग्रह से छूँट बुद्धियुक्त··
प्राणों के रोम रोम में,
व्याप्त..

विचारों की,
आचारों की,
अनुभूति तरंगित··
गगन सरित् में लसित··
उच्छ्वासित आकांक्षा की···
पूत,
प्राणनिस्यूत,
तृप्ति है,
व्याप्ति के लिये···
कल्याण भावना,
नव उत्कट...
उद्दाम नदी की···
धारा सी···
अन्तर में बहती,
युग युग से..
अविरत,
अप्रतिहत,
जिससे बनती है सभ्यता, शिष्टता,
और दृष्टियाँ,
सामाजिक अनुगतियाँ लेकर,
जीवन में,
उभरी उभरी सी··
अंकुश सा रखती
कृतियों पर,
मानव की···
विश्वास युक्त अप्रतिहत
सोती अनुकृतियों पर...
युग युग से संस्कृति !!!

दो भाव-गीत

नन्दकिशोर तिवारी

(एक)

आज तुमने मृत्यु का सन्देश भेजा है; एक दिन तुमने जन्म का उपहार भी दिया था !

और उस जन्म के साथ सुख-दुःख, प्रणय-विरह, आनन्द-सन्ताप, आशा-निराशा, जागरण-सुषुप्ति, वाणी और मौन के न जाने कितने ठोस एवं शून्य इतिहासों की श्रृंखला से मेरे जीवन को बोझिल कर दिया था !

तुम्हारे मूक वरदानों की जयश्री जब मेरे कानों में गूँज उठती, मैं आनन्द से उन्मत्त हो जाता । तुम्हारे याक्षिक अभिशापों की शून्यताएँ जब मेरी समस्त केन्द्रीभूत सुकुमारता को अपनी कठोरता से आवृत्त कर लेतीं, मैं पीपल के पत्तों की भाँति काँप उठता ।

और इस सुख-दुःख, स्पन्दन एवं निःस्पन्दता में मेरी मूक प्रार्थनाएँ तेरे चरण-कमल की परिक्रमा के निमित्त तुम्हारे समस्त ब्रह्माण्ड में सदा-सर्वदा परिव्याप्त होती रहतीं ।

आज मेरे इस जीवन की छोटी परिधि और शेष अवधि से संसार की आसक्तियों के आवरणों को हटा लो, जिन्होंने तुम्हारे और मेरे बीच स्वर्ण की आकर्षक, परन्तु भीषण दीवारें खड़ी कर दी हैं ! विदा की इस मधुर बेला में, जब कि तुम मेरे हृदय में बस कर भी आँखों में नहीं आते..कम-से-कम मेरी सारी हूकों, मेरी समस्त करुणा और मेरी सारी भावुकता को अपने में अन्तर्हित कर लो !

और मेरी आँखें तुम्हारे अविनाशी रूप के आकर्षण में स्थिर हो जायें जिससे जन्म और मृत्यु को एकाकार करने वाले प्रयाण की इस मंजुल गोधूलि में उड़ने वाले मेरे प्राण इस बात का अनुभव कर सकें कि तुम्हारे इस जीवन से विदा लेते समय वे मेरी प्रार्थनाओं की भाँति एक उच्चतर लोक, उच्चतर जीवन एवं अधिक ज्योतिर्मय प्रकाश के आवास में जा रहे हैं !

* *

(दो)

मृत्यु के वन्दनवारों से सज कर तुमने मुझे जिस ज्योतिर्मय जीवन का आवरण दिया है, वह कितना धूमिल, कितना प्रवंचनापूर्ण है !

अपनी प्रार्थनाओं के दर्पण से आज मैंने संसार के उन सभी ऐश्वर्यों को देखा जो बाहर और भीतर मृत्यु की शून्यता एवं अंधकार से ओतप्रोत हैं !

और मैंने तुम्हारी करुणा की अन्तर्दृष्टि द्वारा मानव-जीवन से उद्भूत संसार की उन समस्त उन्माद-दायी विजयों की प्रशस्तियाँ देखीं, जिनका अस्तित्व निर्मम पराजयों की आधार-शिला पर आधारित था!

और मैंने अपनी भीगी पलकों से प्राप्त नये आलोक में देखा, मानव-जीवन की सारी स्थूल एवं स्पर्शनीय आसक्तियाँ मृत्यु के स्पर्श के पहले ही वाष्पाकार होकर मिट जाती हैं और व्यक्त निःश्वासों की भाँति वे इस जीवन में नहीं लौटतीं जिसने उनका निर्माण किया था!

और, मैंने तुम्हारी उस असीम धनराशि के भी दर्शन किए जो स्वर्ण और रजत की पर्वतमालाओं की अनन्त एवं अटूट शृंखलाओं में देदीप्यामान हो रही थी और जो मनुष्य के कालुष्यपूर्ण हाथों के तनिक स्पर्श से ही पीले और उजले क्षारों में परिणत हो जाती थी!

और मैंने सोचा—हे देवों के देव, हाड़ और माँस के इन घृणित पुतलों के निर्माण में तुमने प्रार्थना की ऐसी प्राणशिला क्यों न भर दी जिससे मानव के प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में मिटनेवाली नश्वर वायु के स्थान पर तुम्हारी प्रार्थना की प्राणवाहिनी शक्ति अपनी अमरता से मानव-जीवन को सदा के लिये ज्योतिर्मय कर देती!

* *